# सम्यक्त्व कौमुदि

**अनुक्रमणिका**


01) मंगलाचरण
01) प्रथम दिन की कथा
03) द्वितीय दिन कथा
03) तृतीय दिन कथा
05) चतुर्थ दिन की कथा
05) पञ्चम दिन की कथा
07) षठ दिन की कथा
07) सप्तमदिन की कथा
09) अष्टम दिन वार्ता
09) सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली मित्रश्री की कथा
11) सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली चन्दनश्री की कथा
11) सम्यक्त्व प्राप्त विष्णुश्री की कथा
13) सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली नागश्री की कथा
13) सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली पद्मलता की कथा
15) सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली कनकलता की कथा
15) सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली विद्युल्लता की कथा
17) उपसंहार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
सम्यक्त्व-कौमुदि
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-सम्यक्त्व-कौमुदि नामधेयं ॥
॥ श्रोतार: सावधान-तया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

## मंगलाचरण

मंगलाचरण
कथा :
वर्धमानजिनं नत्वा सर्वज्ञं हितदेशकम् ।
वीतरागं च वक्ष्येऽहं नृणां सम्यक्त्वकौमुदीम्॥
श्रीवर्धमानमानस्य जिनदेवं जगत्प्रभुम् ।
वक्ष्येऽहं कौमुदीं नृणां सम्यक्त्वगुणहेतवे ॥1॥
जगत् के स्वामी श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार कर मैं मनुष्यों के सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के लिए सम्यक्त्व कौमुदी कहूँगा ॥1॥
गौतमस्वामिनं स्तौमि गणेशं च श्रुताम्बुधिम् ।
स्तवीमि भारतीं तां च सर्वज्ञमुखनिर्गताम् ॥2॥
मैं श्रुत के सागर गौतमस्वामी नामक गणधर की तथा सर्वज्ञ भगवान् के मुख से प्रकट हुई उस प्रसिद्ध जिनवाणी की स्तुति करता हूँ ॥2॥
गुरंश्चाये त्रिशुद्ध्याथ श्रुतसागरपारगान् ।
यत्प्रसादेन नि:शेषं जाड्यं याति हृदि स्थितम् ॥3॥
इसके पश्चात् मैं शास्त्ररूपी समुद्र के पारगामी उन निर्ग्रंथ गुरुओं की मन-वचन-काय की शुद्धि के द्वारा पूजा करता हूँ जिनके कि प्रसार से हृदय में स्थित समस्त जड़ता चली जाती है नष्ट हो जाती है ॥3॥
श्रीमद् - वृषभसेनादि - गौतमान्तगणेशिन: ।
वन्दे विदितसर्वार्थान् विश्वर्धिपरिभूषितान् ॥4॥
जिन्होंने समस्त पदार्थों को जान लिया है तथा जो समस्त ऋद्धियों से विभूषित हैं ऐसे श्रीमान् वृषभसेन आदि को लेकर गौतम स्वामी पर्यन्त समस्त गणधरों को नमस्कार करता हूँ ॥4॥

## प्रथम दिन की कथा

प्रथम दिन की कथा

कथा :

अथ जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगधविषये सततं प्रवृत्तोत्सवं प्रभूतवरजिनालयं जिनधर्माचारोंत्सवसहित-श्रावकं घनहरिततरुषण्डमण्डितं भोगावतीनगरवद्राजगृहं नाम नगरमस्ति । तत्र-

अथानन्तर जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के मगधदेश में राजगृह नाम का वह नगर है जहाँ निरन्तर उत्सव होते रहते हैं उत्कृष्ट जिनमन्दिर विद्यमान हैं और जहाँ जैनधर्म के आचरण तथा उत्सवों से सहित श्रावक रहते हैं । जो हरे-भरे सघन वृक्षों के समूह से सुशोभित हैं तथा धरणेन्द्र की नगरी भोंगावती के समान जान पड़ता है ।

क्षणभङ्ग: सौगतेषु भ्रान्तिरर्हत्प्रदक्षिणा ।

नैरात्म्यं बुद्धवादेषु गुप्तिर्यत्र मुमुक्षुषु ॥5॥

उस राजगृह नगर में यदि क्षणभंग-क्षण-क्षण में पदार्थ का नाश था तो बौद्धों में ही था क्योंकि "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" यह सिद्धान्त बौद्धों का ही था । वहाँ के मनुष्यों में क्षणभंग **अर्थ**ात् उत्सवों का विनाश नहीं था । भ्रान्ति गोलाकार भ्रमण यदि था तो प्रदक्षिणा-परिक्रमा में ही था, वहाँ के मनुष्यों को किसी प्रकार की भ्रान्ति-सन्देह नहीं था और गुप्ति-मन-वचन-काय का निरोध मोक्षाभिलाषी जीवों में ही था । वहाँ के मनुष्यों में गुप्ति-धनादि को छिपाकर रखने का भाव नहीं था ॥5॥

करग्रहो विवाहेषु द्विजपातश्च वार्धके ।

यत्र शून्यगृहालोको द्यूतकेलीषु केवलम् ॥6॥

वहाँ पर गृह स्त्री का पाणिग्रहण विवाहों में ही होता था अन्य मनुष्यों में गृह कर (टैक्स) का ग्रहण नहीं होता था **अर्थ**ात् राजकीय व्यवस्था के लिए किसी से टैक्स नहीं लिया जाता था । द्विजपात-दाँतों का गिरना । वहाँ वृद्धावस्था में ही होता था, अन्य मनुष्यों में द्विजपात ब्राह्मणादि त्रिवर्णों में दुराचार आदि के कारण किसी प्रकार का पतन नहीं होता था, सब सदाचार में रहते थे । जहाँ शून्यगृहों का दर्शन द्यूतक्रीड़ा-जुआ के खेल में ही होता था, वहाँ शून्य-उजाड़गृहों का दर्शन नहीं होता था अर्थात् सब घर गृहस्वामियों से परिपूर्ण रहते थे ॥6॥

तरवो विपदाक्रान्ता: सरोगा: कमलाकरा: ।

सदण्डास्त्रिदशावासा यत्रासन्न पुनर्जना: ॥7॥

जिस राजगृह नगर में विपदाक्रान्त-पक्षियों के पैरों अथवा उनके स्थान स्वरूप घोंसलों से आक्रान्त वृक्ष ही थे, वहाँ के मनुष्य विपद-आक्रान्त-विपत्ति से आक्रान्त नहीं थे । सरोग-सरोवरों से स्थित कमलाकर-कमल वन ही थे वहाँ के मनुष्य सरोग-रोग से सहित नहीं थे और सदण्ड-अण्डा के आकार उत्तम कलशों से युक्त देवालय ही थे **अर्थ**ात् देवालय पर ही उत्तम कलश रखे जाते थे, वहाँ के मनुष्य सदण्ड-दण्ड से सहित नहीं थे अर्थात् वहाँ के मनुष्य ऐसा कोई अपराध नहीं करते थे, जिससे उन्हें दण्ड भोगना पड़ता हो ॥7॥

तत्र समस्तराजमण्डलीमण्डितसिंहासन:, सकलकलाप्रौढ:, समस्तराजनीतिसमन्वित:, प्रशस्त-राजनीति-कुमुदिनीविबोधनैकरजनीकान्त:, एकान्तश्रीसर्वज्ञधर्मानुरक्तचित्तो, निर्जितान्तरङ्गवैरिपक्ष: श्रीतीर्थंकरपद-प्रणाम-बद्धकक्ष:, क्षायिकसम्यक्त्वरञ्जितचित्त:, श्रेणिको नाम राजास्ति । तस्य पट्टमहिषी दाक्ष्यदाक्षिण्य-सौभाग्य-गुणगणरत्नालंकृतांगी, श्रीवीतरागप्रणीत-सद्धर्म-कर्मामृत-भाविताङ्गी, समस्त-गुणसंपन्ना, जिनधर्म-प्रभाविका,महारूपवती, चेलना नामास्ति । स च श्रेणिकोऽमरराजवद्राजते, सा च शचीव शोभते ।

तस्य श्रेणिकस्य जैनागमतत्त्वप्रवीण: क्षयितान्तरङ्गरिपु: सम्यक्त्वमूलगुणाणुव्रतधर:, पर्वतिथिषुप्रोषधोपवासकारी, द्वासप्ततिकलानिधान:, चतुर्विधबुद्धिविभवप्रधान: प्रधानामात्योऽभयकुमारनामा सुरगुरुवद्गुरुतरोराज्यधुरो धारयति स्म ।

एकदासकल सुरासुरेश्वरसंसेवितपादपद्मो, विश्वाश्चर्यकारिमनोहारिविश्वातिशय: पश्चिमतीर्थाधिराजोवर्धमानस्द्धद्यामी वैभारपर्वतमलमकार्षीत् । एकदा यावत्कतिचित्पदान्यतिक्राम्यता वनपालेन वने परिभ्रमता, आजन्म परस्पर-निबद्धवैराणामश्वमहिष-मूषकमार्जाराहिनकुलादीनामेकत्रमेलापकं दृष्टम् । साश्चर्यो भूत्वाऽसौ मनसि विचारयति-अहो, किमेतत्? एवं शुभमशुभं चेति चिन्ताक्रान्तचित्तेन पर्यटता वनपालेन विपुलाचलपर्वतस्योपरिसमस्त सुरेश्वरसमन्वितं जयजयादिरवपूर्णदिगन्तरालमन्तिम-तीर्थंकर-

श्रीवर्धमान-स्वामिसमवसरणं दृष्टम् । ततोवैभाराद्रिनितम्बे पर्यटता वनपालेन तावच्छ्रुतिसुखदमनोऽभिरामपरमरमणीकदेवदुन्दुभिनिनादमिश्रितजयजयरव-परिपूर्णदिगन्तरालं सच्छत्रत्रय-चामरध्वजादिसुशोभितं रत्नकनकरूप्य-सालं, तत्राप्यार्यदेश-सुकुल-जन्मसर्वाक्षपटुतासंपूर्णायुर्युक्तजनमालं, व्याकोषस्व: प्रसूनस्तवकपरिमलोशारसंभारलोलव्यालीनमत्त-भ्रमरकुलकलरववश-श्रीकाशोकशालं, अहंपूर्विकयागच्छच्चतुर्विधविबुधविमानजालं श्रीमन्महावीरसमवसरणं दृष्टम् । तदुक्तम्-मानस्तम्भा: सरांसि प्रविमल-जल-सत्खातिका पुष्पवाटीप्राकारो नाट्यशालद्विव्यमुपवनं वेदिकान्तध्र्वजाद्या: ।

उस राजगृह नगर में श्रेणिक नाम का वह राजा रहता था, जिसका सिंहासन समस्त राजाओं के समूह से सुशोभित रहता था **अर्थ**ात् जिसका सिंहासन अन्य राजाओं के आसनों से सदा घिरा रहता था, जो समस्त कलाओं में अत्यन्त निपुण था, सब प्रकार की राजनीति से सहित था, उत्तम राजनीतिरूपी कुमुदिनी को विकसित करने के लिए जो चन्द्रमास्वरूप था, श्री सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित धर्म में जिसका चित्त नियम से अनुरक्त रहता था, जिसने काम-क्रोध आदि अन्तरंग शत्रुओं के समूह को अच्छी तरह जीत लिया था, श्री तीर्थंकर भगवान् के चरणों में प्रणाम करने के लिए सदा उद्यत रहता था और क्षायिक सम्यग्दर्शन से जिसका चित्त अनुरक्त रहता था ।

उस राजा श्रेणिक की चेलना नाम की वह पट्टरानी थी, जिसका शरीर चातुर्य, औदार्य और सौभाग्य आदि गुण समूहरूपी रत्नों से अलंकृत था, श्री वीतराग भगवान् के द्वारा कथित समीचीन धर्माचरणरूपी अमृत से जिसका शरीर सुशोभित था, जो समस्त गुणों से सम्पन्न थी जिनधर्म की प्रभावना करने वाली थी और अत्यन्त रूपवती थी । वह राजा श्रेणिक इन्द्र के समान सुशोभित होता था और वह चेलना रानी इन्द्राणी के समान सुशोभित होती थी ।

उस राजा श्रेणिक का जैनागम के रहस्य में निपुण अंतरंग शत्रुओं का नष्ट करने वाला सम्यग्दर्शन मूलगुण और अणुव्रतों को धारण करने वाला, पर्व के दिनों में प्रोषधोपवास करने वाला, बहत्तर कलाओं का भण्डार, चार प्रकार की बुद्धिरूपी वैभव की प्रधानता से धारण करने वाला और बृहस्पति के समान अत्यन्त श्रेठ अभयकुमार नाम का प्रधानमन्त्री था, जो राज्य के भार को धारण करता था ।

एक समय जिनके चरण-कमल समस्त सुरेन्द्र और असुरेन्द्रों के द्वारा सेवित थे, जिन्हें सबको आश्चर्य उत्पन्न करने वाले समस्त मनोहर अतिशय प्राप्त थे तथा जो अन्तिम तीर्थंकर थे, ऐसे श्री वर्धमानस्वामी वैभारगिरि को अलंकृत कर रहे थे । एक दिन ज्योंही कुछ कदम रखकर वनपाल वन में घूमने लगा त्यों ही उसने जन्म से ही लेकर परस्पर वैर रखने वाले अश्व और भैंसा, चूहा और बिलाव तथा साँप और नेवला आदि जीवों का एक स्थान पर सम्मेलन देखा, उसे देख आश्चर्ययुक्त होते हुए उसने विचार किया कि अहो यह क्या है? इन सब जीवों का इस प्रकार एकत्रित होना शुभ है या अशुभ? ऐसी चिन्ता से जिसका चित्त व्याप्त हो रहा था, ऐसे घूमते हुए वनपाल ने विपुलाचल पर्वत के ऊपर समस्त इन्द्रों से युक्त तथा जय जय आदि के शब्दों से दिशाओं के अन्तराल को पूर्ण करने वाला अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमानस्वामी का समवसरण देखा । वैभारगिरि की कटनियों पर भ्रमण करने वाले वनपाल ने श्री महावीरस्वामी का वह समवसरण देखा, जिसकी दिशाओं के मध्यभाग कानों के लिए सुखदायक और मन को आनन्दित करने वाले परम सुन्दर देव-दुन्दुभियों के शब्दों से मिली हुई जय-जय ध्वनि से परिपूर्ण थे, जो उत्तम छत्रत्रय, चामर तथा ध्वजा आदि से सुशोभित था, जिसमें रत्न सुवर्ण और चाँदी के कोट थे, जहाँ आर्यदेश तथा उत्तम कुल में जन्म समस्त इन्द्रियों की समर्थता और संपूर्ण आयु से युक्त मनुष्यों का समूह था, जहाँ खिले हुए स्वर्ग सम्बन्धी फूलों के गुच्छे की सुगन्धी के समूह में सतृष्ण लीन भ्रमरों की मधुर गुंजार से युक्त अशोक वृक्षों का समूह था और मैं पहले पहुँचूं, मैं पहले पहुँचूं, इस प्रकार की होड़ लगाकर चार निकाय के देवों के विमान आ रहे थे । जैसा कि कहा है-

शाल: कल्पद्रुमाणां सुपरिवृत्तवनं स्तूपहम्र्यावली च ।

प्राकार: स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरसभा: पीठिकाग्रे स्वयंभू: ॥8॥

मानस्तम्भ सरोवर अत्यन्त निर्मल जल से भरी हुई परिखा, पुष्पवाटी कोट दोनों ओर नाटघशालाएँ, उपवन, वेदिका बीच में अनेक ध्वजा आदि कोट, कल्पवृक्षों का वन, स्तूप, उत्तम भवनों की पंक्ति, स्फटिकमणि का कोट, उसके भीतर मनुष्य और देवों की सभाएँ और पीठिका के अग्रभाग पर विराजमान श्री जिनेन्द्रदेव...ये सब समवसरण के परिचायक हैं ॥8॥

दृष्टा: हृष्ट: सन् मनसि विचारयति, अहो! परस्परविरुद्धजातानां यदेकत्र मेलापकं दृष्टं मया तत्सर्वमस्य भगवतो समस्तैश्वर्यस्य महापुरुषस्य माहात्म्यम् ।

समवसरण को देखकर हर्षित होता हुआ वनपाल मन में विचार करता है कि अहो! मैंने परस्पर विरोध रखने वाले जीवों का जो एक स्थान पर मेला देखा है वह सब समस्त ऐश्वर्य को धारण करने वाले इन्हीं भगवान् महानुभाव का माहात्म्य है ।

यत्र दर्दुरका नागफणायां च कृतासना: ।
आश्रयन्तीह छायायै पान्था: सान्द्रद्रुमेष्विव ॥9॥

जिस प्रकार पथिक जन छाया के लिए सघन वृक्षों का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार साँपों के फणों पर बैठे हुए मेण्ढक छाया के लिए आश्रय ले रहे हैं ॥9॥

तथा चोक्तम्-

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥10॥

समताभाव में लीन, कलुषता से रहित, क्षीणमोह योगी-मुनिराज का आश्रय पाकर हरिणी पुत्र समझ कर सिंह के बालक का, गाय व्याघ्र के शिशु का और बिल्ली हंस के बच्चे का स्पर्श कर रही है, मयूरी प्रेम से विह्वल होकर सर्प का आलिंगन करती है तथा जिनका गर्व नष्ट हो गया ऐसे अन्य जीव भी जन्मजात वैर को छोड़ रहे हैं ॥10॥

एवं ज्ञात्वा कानिचिदकालफलानि गृहीत्वा स वनपालक आस्थानस्थितमहामण्डलेश्वरश्रेणिकस्य हस्ते दत्वा च तानि भणति स्मदेव! तव पुण्योदयेन विपुलाचल पर्वतस्योपरिश्रीवर्धमानस्वामिसमवसरणं समागतम् । इति तद्वचनं श्रुत्वा विकसद्वक्त्रलोचनो निधानमाप्य नि:स्वो वा जहर्ष मानसे नृप: ।

ऐसा जानकर असमय में उत्पन्न होने वाले कुछ फलों को लेकर वह वनपाल सभामण्डप में स्थित महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक के हाथों में देता हुआ बोला-हे देव! आपके पुण्योदय से विपुलाचल पर्वत के ऊपर श्रीवर्धमान स्वामी का समवसरण आया है । वनपाल के उक्त वचन सुन खिले हुए मुख और नेत्रों से युक्त राजा मन में ऐसा हर्षित हुआ जैसा कि दरिद्र मनुष्य खजाने को पाकर हर्षित होता है ।

आसनात्सहसोत्थाय गत्वा सप्त पदावली: ।
यस्यां दिशि स्थितो योगी तस्यां स तमनीनमत् ॥11॥

राजा ने शीघ्र ही सिंहासन से उठकर तथा जिस दिशा में वर्धमान स्वामी विद्यमान थे, उस दिशा में सात कदम जाकर उन्हें नमस्कार किया ॥11॥

एतच्छ्रुत्वासनादुत्थाय तद्दिशि सप्तपदानि गत्वा साष्टाङ्गं नमस्कृत्य तदनन्तरं वनपालस्याङ्गस्थितानि वस्त्राभरणानि परमप्रीत्या दत्तानि श्रेणिकेनातिसंतुष्टेन । ततो सर्वसमक्षं वनपालेनोक्तम्-सत्यमेतत् । तदुक्तम्-

यही भाव गद्य में दिखलाते हैं कि वनपाल के ये वचन सुनकर राजा ने आसन से उठकर तथा उस दिशा में सात पग जाकर भगवान् वर्धमानस्वामी को साष्टांग नमस्कार किया । तदनन्तर अत्यन्त संतुष्ट हुए राजा श्रेणिक ने अपने शरीर पर स्थित समस्त वस्त्राभूषण अत्यधिक प्रेम से वनपाल को दे दिये तत्पश्चात् सबके सामने वनपाल ने कहा कि-यह सच है । जैसा कि कहा है -

रिक्तपाणिर्नैव पश्येद् राजानं देवतां गुरुम् ।
नैमित्तिकं विशेषेण फलेन फलमादिशेत् ॥12॥

राजा, देवता, गुरु और विशेष रूप से निमित्तज्ञानी का दर्शन खाली हाथ नहीं करना चाहिए क्योंकि फल की प्राप्ति फल से ही होती है ॥12॥

ततो भूपतिरानन्दभेरीं दापयित्वा मगधेश: श्रेणिक: अष्टविधपूजोपलक्षित: परिजनपुरजनसहितो महोत्सवेन समवसरणं जगाम । नृप: करौ कुड्मलीकृत्य पूजयित्वा स्तुतिं चकार । देवाधिदेवं श्रीमहावीरं प्रणम्य स्तोतुमारब्धवान् । यथा-

तदनन्तर मगध देश के स्वामी राजा श्रेणिक ने आनन्द भेरी दिलवायी और स्वयं आठ प्रकार की पूजा सामग्री से युक्त हो कुटुंबीजन तथा नगरवासी जनों के साथ बड़े भारी उत्सव से समवसरण की ओर गमन किया । राजा ने हाथ जोड़कर तथा पूजा कर स्तुति की । देवाधिदेव

श्री महावीरस्वामी को प्रणाम कर राजा ने इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया-

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य देव! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोकतिलक! प्रतिभासते मे संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाण: ॥13॥

हे देव! आज आपके चरण कमलों का दर्शन करने से मेरे दोनों नेत्र सफल हुए हैं और हे तीन लोक के तिलक! आज मुझे यह संसार-सागर चुल्लु प्रमाण जान पड़ता है ॥13॥

इति स्तोत्रशतसहस्रैर्जिनं मुनिनायकं गौतमस्वामिनं च स्तुत्वा यथोचितकोठ उपविष्ट: । तथा चोक्तम्-

इस प्रकार के अनेक स्तोत्रों से श्री वर्धमान जिनेन्द्र तथा मुनियों के नायक श्री गौतमस्वामी की स्तुति कर राजा श्रेणिक अपने योग्य कोठे में बैठ गये । जैसा कि कहा गया है -

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता हघर्था: प्रकाश्यन्ते महात्मन: ॥14॥

जिसकी देव में तथा देव के समान गुरु में परम भक्ति होती है उसी महानुभाव के आगम में प्रतिपादित ये जीवाजीवादि पदार्थ निश्चय से प्रकट होते हैं ॥14॥

(भावार्थ – देव और गुरु की भक्ति करने वाले पुरुष को ही जीवाजीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान प्रकट होता है ।)

भगवान् गौतम आह-

हे नरेन्द्र! अपारसंसारकान्तारेऽनादिकालं पर्यटता अनादिनिधन-जन्तुनाऽकामनिर्जरारूपपुष्पात् कथमपि स्थावरत्वतिर्यक्त्वमनुष्यत्वमापद्यते । कथंचित् कर्मलाघवात्प्राप्यते तत: सद्गुरुसामग्रीसिद्धान्तश्रवणोद्भुत-वासनाभियोगो महापुण्ययोगाल्लभ्यते । लब्धेष्वेतेष्वपि जन्तो: सम्यक्त्वरत्नं विना सद्गतिगमनं न स्यात् । कर्मगुरु-स्थितिक्षयवशादवगतजीवाजीवादितत्त्वस्वरूपं, देवगुरुधर्मतत्त्वं निश्चयरूपं सम्यक्त्वं जायते, अगम्यपुण्यैर्यत:-

भगवान् गौतम गणधर ने कहा -

हे राजन्! यह जीव यद्यपि द्रव्यदृष्टि से अनादि अनन्त है तथापि पर्यायदृष्टि से अपार संसार रूपी अटवी में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है । कभी कर्मोदय में लाघव होने से किसी तरह अकाम निर्जरा के फलस्वरूप स्थावर, तिर्यञ्च और मनुष्य पर्याय को प्राप्त होता है **अर्थ**ात् स्थावर विकलत्रय और पञ्चेन्द्रिय पर्याय में भ्रमण करता हुआ, किसी प्रकार मनुष्यभव में उत्पन्न होता है ।

तदनन्तर महान् पुण्योदय से सद्गुरु, द्रव्यादि चतुष्टयरूप सामग्री तथा सिद्धान्त ग्रन्थों को सुनने आदि से उत्पन्न भावना और सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति का पुरुषार्थ प्राप्त होता है । इन सबके मिलने पर भी यदि जीव को सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति नहीं होती है तो उसके बिना सद्गति में गमन नहीं होता है **अर्थ**ात् पुन: यह जीव कुगति को प्राप्त हो जाता है । जब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का क्षय होता है अर्थात् कषाय की मन्दता के कारण जब अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक कर्मों की स्थिति का क्षय होता है अर्थात् कषाय की मंदता के कारण जब अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक कर्मों की स्थिति का बंध नहीं होता है और सम्यक्त्व को घातने वाली प्रकृतियों का क्षय हो जाता है तब बहुत भारी पुण्योदय से इसे जीवाजीवादि तत्त्वों के स्वरूप ज्ञान से युक्त अथवा देव, गुरु, धर्म और तत्त्वों की दृढ़ प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । क्योंकि-

पिधानं दुर्गतेर्द्वारां निधानं सर्वसंपदाम् ।
विधानं मोक्षसौख्यानां पुण्यै: सम्यक्त्वमाप्यते ॥15॥

जो दुर्गति के द्वारों को बन्द करने वाला है, समस्त संपदाओं का भण्डार है और मोक्ष सम्बन्धी सुखों को करने वाला है, ऐसा सम्यग्दर्शन बहुत भारी पुण्य से प्राप्त होता है ॥15॥

जीवांश्चरणवैकल्येऽप्याश्चर्यं भुक्तिकामिनी ।
वृणीते निर्मलस्फूर्जद्दर्शनश्रीचमत्कृता ॥16॥

निर्मल तथा देदीप्यमान सम्यग्दर्शन की लक्ष्मी से चमत्कार को प्राप्त हुई स्वर्गरूपी स्त्री आश्चर्य है कि-चरण-पैर की विकलता होने पर भी पक्ष में चरित्र की विकलता होने पर भी जीवों को वर लेती है ॥16॥

(भावार्थ – जिस जीव के वर्तमान में चारित्र की विकलता होने पर भी निर्मल सम्यक्त्व विराजमान रहता है, उसे शीघ्र ही सम्यक्त्व के प्रभाव से स्वर्ग प्राप्त हो जाता है ।)

सम्यग्दर्शनतोऽपरमुत्कृष्टं नास्ति । यत:-

सम्यग्दर्शन से उत्कृष्ट दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि-

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।

सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धु: सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभ: ॥17॥

सम्यक्त्वरूपी रत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है, सम्यक्त्वरूपी मित्र से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है, सम्यक्त्वरूपी भाई से बढ़कर दूसरा भाई नहीं है और सम्यक्त्व से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है ॥17॥

सम्यक्त्वं विना परक्रियाडम्बरो निष्फलतां याति । तथा चोक्तम्-

सम्यक्त्व के बिना अन्य क्रियाओं का आडम्बर निष्फलता को प्राप्त होता है । जैसा कि कहा है -

ध्यानं दु:खनिधानमेव तपस: संताप-मात्रं फलम्,

स्वाध्यायोऽपि हि बन्ध्य एव कुधियां ते निग्रहा: कुग्रहा: ।

अश्लीला: खलु दानशीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा,

सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडु: ॥18॥

अज्ञानी जीवों का ध्यान दु:ख का भण्डार ही है उनके तप का फल संतापमात्र है स्वाध्याय भी निश्चय से निष्फल है, इन्द्रियनिग्रह भी दुराग्रह है, दान और शील की तुलना श्रीदायक-लाभदायक नहीं है और तीर्थादि की यात्रा व्यर्थ है । परमार्थ से सम्यक्त्व के बिना अन्य सभी कार्य भीतर से निष्फल हैं ॥18॥

किं बहुना ?

अधिक क्या कहा जावे ?

तावद्भीमो भवाम्भोधिस्तावज्जन्मपरम्परा ।

तावद् दु:खानि यावन्त सतां सम्यक्त्वसंभव: ॥19॥

सत्पुरुषों को जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तभी तक उनका संसार-सागर भयंकर रहता है तभी तक उनकी जन्म सन्तति चलती है और तभी तक उन्हें अनेक दु:ख प्राप्त होते रहते हैं ॥19॥

तिर्यङ् नरकयोद्र्वारम दृढ: सम्यक्त्वमर्गल: ।

देवमानव - निर्वाण - सुखद्वारैककुञ्चिका ॥20॥

सम्यग्दर्शन तिर्यञ्च और नरकगति के द्वार पर लगा हुआ मजबूत आगल (बेंड़ा) है और सम्यक्त्व ही देव मनुष्य और मोक्ष सम्बन्धी सुखों का द्वार खोलने के लिए अद्वितीय कुंजी है ॥20॥

भवेद्वैमानिकोऽवश्यं जन्तु: सम्यक्त्ववासित: ।

यदि नोद्धान्तसम्यक्त्वो बद्धायुर्नापि वै पुरा ॥21॥

यदि इस जीव ने सम्यक्त्व को छोड़ा नहीं है और न सम्यक्त्व के पहले किसी आयु का बन्ध ही किया है तो सम्यक्त्व की वासना से युक्त वह जीव नियम से वैमानिकदेव होता है ॥21॥

य: पुमान् अन्तर्मुहूर्तमपि सम्यक्त्वं पालयति तस्य संसारसागर: सुतरो भवति यत:-

हे राजन्! जो अंतर्मुहूर्त के लिए भी सम्यक्त्व का पालन करता है । उसका संसाररूपी सागर सुख से तैरने योग्य हो जाता है क्योंकि -

अन्तर्मुहूर्तमपि य: समुपास्य जन्तु:, सम्यक्त्वरत्नममलं विजहाति सद्य: ।

बम्भ्रम्यते भवपथे सुचिरं न सोऽपि, तत्बिभ्रतश्चिरतरं किमुदीरयाम: ॥22॥

जो जीव अन्तर्मुहूर्त के लिए भी निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्न की उपासना कर उसे शीघ्र ही छोड़ देता है वह भी संसार के मार्ग में चिरकाल तक नहीं भटकता फिर जो उसे दीर्घकाल तक धारण करता है उसके विषय में क्या कहा जाये? ॥22॥

राज्ञा पृष्टम्-भगवन् सम्यक्त्वयोग्य: कीदृश: स्यात्? गुरूक्तम्-
राजा ने पूछा-भगवन् । सम्यक्त्व के योग्य कैसा जीव होता है?
गुरु ने कहा -
भाषा-शुद्धिविवेक-वाक्यकुशल: शङ्कादिदोषोज्झितो-
गम्भीर-प्रशमश्रिया परिगतो वश्येन्द्रियो धैर्यवान् ।
प्रावीण्यं यदि निश्चयव्यवहृतौ भक्तिश्च देवे गुरा-
वौचित्यादिगुणैरलंकृततनु: सम्यक्त्वयोग्यो भवेत् ॥23॥
जो भाषा शुद्धि, विवेक और वाक्यों के उच्चारण में कुशल है, शंका आदि दोषों से रहित है, गम्भीर है शान्तभावरूपी लक्ष्मी से युक्त है, जितेन्द्रिय है, धैर्यवान है, निश्चय और व्यवहार में चतुरता रखता है, देव और गुरु में जिसकी भक्ति है और औचित्य आदि गुणों से जिसका शरीर अलंकृत है, ऐसा जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होता है ॥23॥
धर्मकल्पतरोर्मूलं द्वारं मोक्ष-पुरस्य च ।
संसाराब्धौ महापोतो गुणानां स्थानमुत्तमम् ॥24॥
यह सम्यग्दर्शन धर्मरूपी कल्पवृक्ष की जड़ है, मोक्षरूपी नगर का द्वार है, संसाररूपी महासागर में बड़ा भारी जहाज है और गुणों का उत्तम स्थान है ॥24॥
भव्य: पर्याप्तक: संज्ञी जीव: पञ्चेन्द्रियान्वित: ।
काललब्ध्यादिना युक्त: सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥25॥
काललब्धि आदि से युक्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव ही सम्यक्त्व को प्राप्त होता है ॥25॥
सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम् ।
तस्योपशमिको भेद: क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥26॥
तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उसके 1. औपशमिक, 2. क्षायिक , 3. मिश्र ये तीन भेद कहे गये हैं ॥26॥
सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च ।
प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्रैविध्यं सुमेधस: ॥27॥
मिथ्यात्वादि तीन तथा अनंतानुबंधी की चार इस प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से वह सम्यक्त्व होता है, इसलिए ज्ञानीजन हे राजन्! उसके तीन भेद कहते हैं ॥27॥
एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।
आत्मन: शुद्धिमात्रं स्यादितरं च समन्तत: ॥28॥
इन भेदों के सिवाय सम्यक्त्व के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ये दो भेद और भी होते हैं । इनमें से प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यादि भावरूप लक्षणों से युक्त सराग सम्यक्त्व है और आत्मा की शुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है ॥28॥
ते धन्या ये सम्यक्त्वं पालयन्ति । यत:-
वे मनुष्य धन्य हैं जो सम्यक्त्व का पालन करते हैं, क्योंकि -
निधानं सर्वलक्ष्मीणां हेतुस्तीर्थकृत्कर्मण: ।
पालयन्ति जना धन्या: सम्यक्त्वमिति निश्चलम् ॥29॥
सम्यग्दर्शन सब लक्ष्मियों का भण्डार है, तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का हेतु है । वे मनुष्य धन्य भाग हैं, जो निश्चलरूप से सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं ॥29॥
पुन: राज्ञा विज्ञप्तं-भगवन् पुरा केनापि पुण्यवता भवकोटिदु:प्रापमीदृग्विधं सम्यक्त्वं पालितं? तस्य सम्यग्दर्शन-माहात्म्यतोऽत्रामुत्र च किं फलं जातमिति कथानुकथनेन प्रसद्य ममानुग्रहो विधीयताम् । ततो गुरुभिरादिष्टम्-हे अवनिपते सम्यक्त्वफलोद्योतकमर्हद्दासश्रेष्ठिन आख्यानकं सावधानो भूत्वा श्रृणु ।

तथाहि-

अस्मिन् जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे उत्तरमथुरायां राजा पद्मोदय: तस्य राज्ञी यशोमति:, व्यो: पुत्र उदितोदय: राजमन्त्री संभिन्नमति:, तस्य भार्या सुप्रभा, व्यो पुत्र: सुबुद्धि:, तत्राञ्जनगुटिकादिविद्याप्रसिद्धो रूपखुर नामा चोरोऽस्ति, तस्य भार्या रूपखुरा, व्यो: पुत्र: सुवर्णखुर: तत्र राजश्रेठी जिनदत्त:, तस्य भार्या समस्तगुण- सम्पन्न जिनधर्मप्रभाविका महारूपवती जिनमति:, व्यो: पुत्र: समधिगत-जीवाजीवादि-सप्ततत्त्वभावक:, स्वभुजोपार्जित-वित्तव्यय:, श्रीजिनधर्मप्रभावक:, श्रीमज्जिनवरमुनिवरवर्यं सपर्यकरणरत: प्रतिषिद्धनिशिभोजनादिकुव्यापार विरतोऽर्हद्दासनामा श्रेठी परिवसति ।

तस्यार्हद्दासस्य रूपवत्यो गुणवत्योऽष्टौ भार्या:-मित्रश्री:,चन्दनश्री:, विणुश्री:, पद्मलता, कनकलता, विद्युल्लता, कुन्दलता, चैता: परस्परमहास्नेहा, दयादानतप:परा: सन्ति । सोऽर्हद्दासनामश्रेठी ताभि, पत्नीभिस्समं निर्जितोपद्रवकर्म विषयशर्म भुञ्जानो निरतिचारं सुश्रावकाचारं पालयन् निजविभवपराभूतवित्तेशं लोकनागरिकमसारं संसारं परोपकार-व्यापारकर्मणा रञ्जयन्सुखेनास्ते ।

अथोदितोदयो राजा कौमुदीयात्रां प्रतिवर्षे स्ववन-मध्ये कार्तिकमासे शुक्लपक्षे पूर्णिमादिवसे कारयति । तस्मिन्नहनि कार्तिकपूर्णिमादिने समस्तोऽपि स्त्रीजनो वने कस्याश्चिद् देवताया: पूजां करोति अहर्निशं विविधां क्रीडां च । चेन्न क्रियते स मह: तदा नगरे विधुरं जायते । तस्मिन् सौरविषये द्वादशवर्षपर्यन्तकौमुदीमहोत्सवो भवति सिंहस्य वर्षवत् । तदनुसारेण तस्मिन्नहनि कार्तिकपूर्णिमायां राज्ञा पटहघोषणं दापितं कौमुदीमहोत्सवनिमित्तम् । तद्यथा-

भो भो लोका: अद्य दिने समस्ता नगरस्थिता: स्त्रियो वनक्रीडां कर्तुं व्रजन्तु, रात्रौ तत्रैव तिष्ठन्तु, पुरुषा: सर्वेऽपि नगराभ्यन्तरे तिष्ठन्तु । कोऽपि पुरुषो वनान्तरे स्त्रीणां पार्श्वे गमिष्यति चेत् स च राजद्रोही । नृत्यगीतविनोदादि-
समन्वितां क्रीडां कृत्वा महता संभ्रमेण स्वपुरमायान्तु एवं महता सुखेन राजा राज्यं करोति ।

तथा चोक्तम्-

फिर राजा ने कहा - भगवन् पहले किसी पुण्यशाली जीव ने करोड़ों भवों में कठिनाई से प्राप्त होने योग्य ऐसे सम्यक्त्व का पालन किया है क्या? और उस जीव को सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से इहलोक तथा परलोक में क्या फल प्राप्त हुआ है?

इस कथा को कहकर प्रसन्नता से मेरा उपकार किया जावे । तदनन्तर मुनिराज ने कहा - हे राजन्! सम्यक्त्व के फल को प्रकट करने वाला अर्हद्दास सेठ का कथानक सावधान होकर सुनो ।

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी उत्तर मथुरा नगरी में राजा पद्मोदय रहता था, उसकी रानी का नाम यशोमति था, उन दोनों के उदितोदय नाम का पुत्र हुआ । राजमंत्री का नाम संभिन्नमति था उसकी स्त्री का नाम सुप्रभा था, उन दोनों के सुबुद्धि नाम का पुत्र हुआ । उसी उत्तर मथुरा नगरी में अञ्जनगुटिका आदि की विद्या में प्रसिद्ध रूपखुर नाम का चोर रहता था, उसकी स्त्री का नाम रूपखुरा था, उन दोनों के सुवर्णखर नाम का पुत्र हुआ । उसी उत्तर मथुरा नगरी में जिनदत्त नाम का राजसेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम जिनमति था, जिनमति समस्त गुणों से सम्पन्न जिनधर्म की प्रभावना करने वाली तथा अत्यन्त रूपवती थी । उन दोनों का पुत्र अर्हद्दास नाम का सेठ भी वहीं रहता था । अर्हद्दास सेठ अच्छी तरह जाने हुए जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का चिन्तन करने वाला था; अपनी भुजाओं से उपार्जित धन को खर्च करता था; श्री जिनधर्म की प्रभावना करने वाला था, श्रीमान् जिनेन्द्र देव तथा श्रेठ मुनिराजों की पूजा करने में सदा लीन रहता था तथा रात्रिभोजन आदि निषिद्ध खोटे कार्यों से विरक्त रहता था ।

उस अर्हद्दास सेठ की मित्रश्री, चन्दनश्री, विष्णुश्री, नागश्री, पद्मलता, कनकलता, विद्युल्लता और कुन्दलता नाम की आठ स्त्रियाँ थी, जो अत्यन्त रूपवती और गुणवती थीं । परस्पर महान् स्नेह से युक्त थीं तथा दया, दान और तप में लीन रहती थीं । वह अर्हद्दास नाम का सेठ उन स्त्रियों के साथ निरुपद्रव विषय सुख को भोगता, निरतिचार श्रावकाचार का पालन करता और अपने वैभव से कुबेर को तिरस्कृत करने वाले नागरिक जन और असार संसार को परोपकार सम्बन्धी कार्यों से अनुरक्त-प्रसन्न करता हुआ सुख से रहता था ।

अथानन्तर उदितोदय राजा प्रतिवर्ष कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा के दिन अपने वन के मध्य में कौमुदी महोत्सव कराता था । उस कार्तिक की पूर्णिमा के दिन सभी स्त्रियाँ वन में किसी देवता की पूजा करतीं और रात-दिन नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करती थीं । यदि वह उत्सव नहीं किया जाता तो नगर में दु:ख होता था । उस सारे देश में वह कौमुदी महोत्सव सिंहस्थ वर्ष के समान बारह वर्ष से चला आ रहा था । तदनुसार उस दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा के दिन राजा ने कौमुदी महोत्सव के निमित्त नगर में भेरी द्वारा घोषणा दिलवायी-

हे नागरिक जनों! आज के दिन नगर में रहने वाली समस्त स्त्रियाँ वन क्रीड़ा करने के लिए जावें, रात्रि में वहीं रहे और सभी पुरुष नगर के भीतर रहें। यदि कोई पुरुष वन के मध्य स्त्रियों के समीप जायेगा तो वह राजद्रोही कहलावेगा। नृत्य-गान तथा विनोद आदि से सहित क्रीड़ा कर सब स्त्रियाँ बड़े भारी उत्सव से अपने नगर में आवे। इस प्रकार बहुत भारी सुख से राजा राज्य करता था।

जैसा कि कहा है-

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां पूज्यानामवमानता।

पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते ॥30॥

राजाओं की आज्ञा भंग, पूज्य पुरुषों की अपमान और स्त्रियों की पृथक् शय्या यह बिना शस्त्र के होने वाला वध कहलाता है ॥30॥

लोकेन यथा राज्ञा भणितं तथा कृतम्। न केऽपि वनं गता:। उक्तं च -

राजा ने जैसा कहा था लोगों ने वैसा ही किया कोई भी मनुष्य वन को नहीं गये। जैसा कि कहा गया है-

आज्ञामात्रफलं राज्यं ब्रह्मचर्यफलं तप:।

ज्ञानमात्रफलं विद्या दत्तभुक्तफलं धनम् ॥31॥

राज्य का फल आज्ञा मात्र है, तप का फल ब्रह्मचर्य है, विद्या का फल ज्ञान मात्र प्राप्त करना है और धन का फल दान करना तथा स्वयं भोग करना है ॥31॥

राज्ञा वने गतानां सर्वासां स्त्रीणां रक्षणाय चतुर्दिक्षु सावधानान् भटान् संस्थाप्य रक्षणं कृतम्।

राजा ने वन में गयी हुईं सब स्त्रियों की रक्षा करने के लिए चारों दिशाओं में सावधान योद्धाओं की स्थापना कर रक्षा की, क्योंकि-

पितृभर्तृसुतैर्नार्यो बाल्य-यौवन-वार्धके।

रक्षणीया प्रयत्नेन कलङ्क: स्यात्कुलेऽन्यथा ॥32॥

स्त्रियाँ बाल्यावस्था में पिता के द्वारा यौवनावस्था में पति के द्वारा और वृद्धावस्था में पुत्र के द्वारा रक्षा करने के योग्य हैं अन्यथा कुल में कलंकलग सकता है ॥32॥

स्त्रीषु राजकुले सर्पे सदृशे शत्रुविग्रहे।

आयुधाग्रे न कर्तव्यो विश्वासश्च कदाचन ॥33॥

स्त्रियों में, राजकुल में, सर्प में, समान बल वाले शत्रु में और शस्त्र के अग्रभाग में कभी विश्वास नहीं करना चाहिए ॥33॥

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां श्रृङ्गिणां तथा।

विश्वासो नैव कर्तव्य: स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥34॥

नदियों का, हाथ में शस्त्र धारण करने वालों का, बड़े-बड़े नख वाले जीवों का, सींग वाले प्राणियों का, स्त्रियों का तथा राजकुल का विश्वास नहीं करना चाहिए ॥34॥

यदा राजाज्ञावर्तिन्यो विहितविविधश्रृङ्गारा उद्यान-गमनाय सर्वा नार्य: सोद्यमा दृष्टास्तदा नागरि-कानाहूयाज्ञप्तवान्-भो नागरिका:। भवन्तो नगराभ्यन्तरे निजनिजविनोदै:, क्रीडाद्यैश्च त्वरमाणास्तिष्ठन्तु। तदा श्रेष्ठिना चिन्तितम्-

अद्याहं सपरिकरं कथं चैत्यार्चनं करिष्यामि? इति क्षणं विसज्र्योपायं चिन्तयित्वा, स्वर्णस्थालं रत्न-संभृतं कृत्वा स राजकुलं गत:। नृपाग्रे स्थालं मुक्त्वा प्रणामं कृतवान्। ततोऽवनिपालेन पृठम्-भो श्रेष्ठिन्! समागमकारणं कथय। श्रेष्ठिना विनम्रशिरसि करकुड्मलं कृत्वा भणितम्-

राजन्नद्य चातुर्मासिको मया श्रीवर्धमानस्वामिनोऽग्रे नियमो गृहीतोऽस्ति। एवं पर्वदिने समग्रजिनायतनेषु चैत्यपरिपाटी विधिवत्कार्या साधुवन्दना च। रात्रावेकस्मिन् प्रासादे महापूजा विधेया, गीतं नृत्यादिकं करणीयमिति नियमो गृहीत इति। यथा मे नियमभङ्गो न स्यात्, यथा च भवदादेश: पालित: स्यात्तथादिश्यताम्।

एतच्छ्रुत्वा नरपतिना हृदि ध्यातम्। अहो! अस्य महान् धर्मनिश्चय:। अनेन पुण्यात्मनास्मन्नगरं शोभते यद्येवंविधा भूयिठा मे भवेयुस्तदा विषयाशापाशनिबद्धचित्तानां प्राज्यराज्यव्यापारार्जितकश्मल-चित्तानामस्माकमपि एष आश्रय:, कृत्यानुमोदनया पुण्यविभागो जायते इत्यादिभावनां कृत्वोक्तम्- भो श्रेष्ठिन्! त्वं धन्य:, कृतार्थस्त्वम्, ते मनुज-जन्म सफलं, यतस्त्वमेवंविधकौमुद्युत्सवेऽपि धर्मोद्यमं करोषि,

त्वयास्मद्राज्यं राजते । अतस्त्वं नि:शङ्कं सर्वसमुदायेन समं स्वकीयसर्वमपि धर्मकृत्यं कुरु । अहमपि तमनुमोदयामीति गदित्वा रत्नस्थालं पश्चात् समप्र्य पट्टदुकूलादिना प्रसादं कृत्वा विसर्जित: । ततो हर्षनिर्भरेण श्रेष्ठिना स्वसमुदायेन सह महतोत्सवेन चैत्यपरिपाट्यादिसमस्ततद्दिनधर्मकृत्यं समाप्य रात्रौ विशेषत: स्वसदनस्य जिनगृहे महापूजां कृत्वा परमभक्त्या स्वयमेव मद्र्दलं ताडयित्वा देवानामपि मनोहारि भूपानां दुर्लभमुत्सवं [लास्यं] प्रारब्धम् । या अस्याष्टौ भार्या: सन्ति ता अपि स्वस्वाभ्यनुवृत्या धर्मबुद्ध्या च मधुरजिनगुणगानं सतालमानं भेर्यादि-वाद्यनिनादं च नृत्यं च कुर्वन्त्य: सन्ति । नागरिकलोकोऽपिभव्यविनोदैर्दिनमतिक्रम्य शर्वर्यां स्वमन्दिरे स्थितवान् ।

एवमादित्योऽस्तमित: तदनन्तरं चन्द्रोदयो जात: । यत:-

जब राजा ने अपनी आज्ञा के अनुरूप प्रवर्तने वाली नाना प्रकार के श्रृंगार को धारण करने वाली और उद्यान में जाने के लिए तत्पर समस्त स्त्रियों को देखा तब उसने नगरवासी पुरुषों को आकर आज्ञा दी कि-हे नागरिकजनो! आप लोग नगर के भीतर ही अपने-अपने विनोदों और क्रीड़ा आदि के द्वारा शीघ्रता करते हुए रहें । तब सेठ ने विचार किया कि - आज मैं परिजनों के साथ भगवान् की पूजा कैसे करँगा ? इस प्रकार एक क्षण विचार कर उसने उपाय का विचार किया और सुवर्ण के थाल को रत्नों से भरकर वह राजकुल में गया । राजा के आगे थाल को रखकर उसने प्रणाम किया । तत्पश्चात् राजा ने पूछा-हे सेठजी । आगमन का कारण कहो । सेठ ने नम्रीभूत सिर पर जुड़े हुए हाथ लगाकर कहा - हे राजन्! आज मैंने श्री वर्धमानस्वामी के आगे चार माह का नियम लिया है कि इस तरह पर्व के दिन समस्त जिनमन्दिरों में विधिपूर्वक प्रतिमाओं की पूजा और साधुओं की वन्दना करँगा । रात्रि के समय एक महल में महापूजा करँगा और गीत, नृत्य आदि करँगा । ऐसा नियम मैंने लिया है, सो जिस तरह मेरा नियम भंग न हो और आपकी आज्ञा का पालन हो जाये, ऐसी आज्ञा दीजिये ।

यह सुनकर राजा ने मन में विचार किया कि-अहो । इसे धर्म का बड़ा निश्चय है । इस पुण्यात्मा से हमारा नगर सुशोभित हो रहा है । यदि इस प्रकार के मनुष्य मेरे नगर में अधिक होते तो विषयों की आशारूपी पाश से जिनका चित्तबद्ध है तथा बहुत बड़े राज्य के व्यापार से संचित पाप से जिनका चित्त मलिन हो रहा है, ऐसे हम लोगों का भी यह आश्रय होता क्योंकि कार्य की अनुमोदना से पुण्य का विभाग होता है, इत्यादि विचार कर राजा ने कहा कि-सेठजी तुम धन्य हो, तुम कृतकृत्य हो और तुम्हारा मनुष्य जन्म सफल है क्योंकि तुम इस प्रकार के कौमुदी उत्सव में भी धर्म का उद्योग कर रहे हो । तुमसे हमारा राज्य सुशोभित है इसलिए तुम निश्शंक होकर सब समूह के साथ अपने सभी धर्मकार्य करो । मैं भी उसकी अनुमोदना करता हूँ । इतना कहकर राजा ने उसका रत्न थाल वापस कर रमशमी वस्त्र आदि से सम्मान किया और बड़ी प्रसन्नता से उसे विदा किया ।

तदनन्तर हर्ष से भरे हुए सेठ ने अपने समूह के साथ बड़े भारी उत्सव से चैत्यवन्दना आदि उस दिन का समस्त कार्य समाप्त किया और रात्रि में विशेष समारोह से अपने गृह चैत्यालय में महापूजा कर जिनेन्द्र भगवान् के आगे परम भक्ति से स्वयं ही मद्र्दल नामक बाजा बजाकर देवों के भी मन को हरने वाला तथा राजाओं के लिए दुर्लभ नृत्य प्रारम्भ किया । अर्हद्दास सेठ की जो आठ स्त्रियाँ थीं, वे भी अपने स्वामी के अनुकरण तथा धर्मबुद्धि से मधुर जिन गुणगान तालमान के साथ भेरी आदि बाजों के शब्द तथा नृत्य कर रही थीं । नगरवासी लोग भी उत्तम विनोदों से दिन को व्यतीत कर रात्रि के समय अपने मन्दिर में स्थित थे । इस प्रकार सूर्य अस्त हो गया और चन्द्रमा का उदय हो गया ।

आलोक्य संगमे रागं पश्चिमाशा विवस्वतो: ।

कृतं कृष्णमुखं प्राच्या न हि नार्यो विनेर्ष्यया ॥35॥

उस समय पश्चिम दिशा में लालिमा छा गयी थी और पूर्व दिशा का मुख श्याम पड़ गया था, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों उस समय पश्चिम दिशा और सूर्य के समागम में राग-प्रीति (पक्ष में लालिमा) को देखकर पूर्व दिशा ने अपना मुख श्याम कर लिया था, सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियाँ ईर्ष्या से रहित नहीं होती ॥35॥

अत्रान्तरे चन्द्रोदये कामातुरेण राज्ञा स्वराज्ञी स्मृता । प्रिया विरहितस्यास्य हृदि चिन्ता समागता, इति गता निद्रा । तथा चोक्तम्-

इसी बीच चन्द्रोदय होने पर काम से पीड़ित राजा ने अपनी रानी का स्मरण किया । काम से पीड़ित होने के कारण राजा की नींद चली गयी थी, उससे ऐसा जान पड़ता था, मानों प्रिया से रहित इस राजा के हृदय में चिन्ता आ गयी थी, इसी हेतु नींद चली गयी थी । जैसा कि

कहा है-
प्रिया विरहितस्यास्य हृदि चिन्ता समागता ।
इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते ॥36॥
प्रिया से रहित इस राजा के हृदय में चिन्तारूपी स्त्री आ गयी है । यह मानकर ही मानों निद्रारूपी स्त्री चली गयी थी, सो ठीक ही है क्योंकि कृतघ्न की उपासना कौन करते हैं? ॥36॥
कृतोपकारप्रियबन्धुमर्कमावीक्ष्य हीनांशुमध: पतन्तम् ।
इतीव मत्वा नलिनीवधूभिर्निमीलितान्यम्बुरुहेक्षणानि ॥37॥
उस समय कमलिनियों के कमल बन्द हो गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों अपने उपकारी प्रियबन्धु सूर्य को किरण रहित तथा नीचे पड़ता हुआ देखकर कमलिनीरूपी स्त्रियों ने दु:ख से ही कमलरूपी नेत्र बन्दकर लिए थे ॥37॥
नृपोऽपि निद्रामलभमानो मन्त्रिणं प्रति जगाद । भो मन्त्रिन्! यत्र विलासवत्य: सविलासं विलसन्ति तत्रोद्याने विनोदार्थं गम्यते । एतद्राजवचनं श्रुत्वा सुबुद्धिमन्त्रिणाभाणि-देव! साम्प्रतमुद्यानगमने क्रियमाणे बहुभिर्नागरिकै: समं विरोधो भविष्यति विरोधे जायमाने च राज्यादिविनाश: स्यात् । उक्तञ्च-
निद्रा को न प्राप्त करता हुआ राजा भी मन्त्री से बोला । हे मन्त्री! जहाँ स्त्रियाँ हाव-भाव सहित क्रीड़ा करती हैं, उस उद्यान में विनोद के लिए चलना है । राजा के यह वचन सुन सुबुद्धि नामक मन्त्री ने कहा - हे देव! इस समय उद्यान गमन करने पर बहुत से नागरिकों के साथ विरोध हो जायेगा और विरोध होने पर राज्यादि का नाश हो जायेगा । जैसा कि कहा है -
एकस्यापि विरोधेन लभते विपदं नर: ।
महानपि कुलीनोऽपि किं पुनर्बहुभि: सह ॥38॥
एक के भी विरोध से मनुष्य विपत्ति को प्राप्त होता है । भले ही वह मनुष्य बड़ा भी हो और कुलीन भी हो! जब एक के विरोध से भी विपत्ति को प्राप्त होता है तब बहुतों के साथ विरोध होने का क्या कहना? ॥38॥
बहुभिर्न विरोद्धव्यं दुर्जयो हि महाजन: ।
स्फारमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिका: ॥39॥
बहुतों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि महाजन दुर्जय होता है । देखो चींटियाँ बड़े भारी नागेन्द्र सर्पराज को खा जाती हैं ॥39॥
मन्त्रिणो वचनं हृदयेऽवगम्य सावज्ञं साभिमानं च नृप आह-भो नियोगिन् ? मयि निर्मूलिताशेष-शत्रु-कन्दोद्भूतवीररससमृद्धे कुरद्धे सति वराका एते किं कर्तुं समर्था: । तथा चोक्तम्-
मन्त्री के वचन हृदय में जानकर राजा ने अवज्ञा और अभिमान से कहा - हे नियोंगी उखाड़े हुए समस्त शत्रुरूप कंद से उत्पन्न वीर रस से जो समृद्ध हो रहा है, ऐसे मेरे क्रुद्ध होने पर ये बेचारे क्या करने में समर्थ हैं ? जैसा कि कहा है -
आजन्म-प्रतिबद्धवैरपरुषं चेतो विहायादरा-
त्सांगत्यं यदि नामसंप्रति वृकै: सार्धं तुरङ्गै: कृतम् ।
तत्किं कुञ्जरकुम्भपीठ-विलुठत्यासक्तमुक्ताफल-
ज्योतिर्भासुरकेसेरस्य पुरत: सिंहस्य किं स्थीयते ॥40॥
जन्म से लेकर बन्धे हुए वैर से कठोर चित्त को छोड़कर यदि घोड़ों ने आदरपूर्वक इस समय भेड़ियों के साथ मित्रता कर ली है तो क्या वे हाथियों के गण्डस्थल पर लोटने से लगे हुए मोतियों की ज्योति से जिसकी गर्दन के बाल सुशोभित हो रहे हैं, ऐसे सिंह के सामने भी खड़े हो सकते हैं? **अर्थ**ात् नहीं ॥40॥
मन्त्रिणोक्तम्-भो राजन्! सद्भिरात्मनात्मपौरुषादि गुणा न प्रकाश्यन्ते । उक्तञ्च-
मन्त्री ने कहा - हे राजन्! सत्पुरुषों द्वारा अपने आप अपने पौरुष आदि गुण प्रकाशित नहीं किये जाते **अर्थ**ात् सत्पुरुष अपने गुणों की स्वयं प्रशंसा नहीं करते हैं । जैसा कि कहा है -
न सौख्यसौभाग्यकरा गुणा नृणां स्वयंगृहीता युवतिस्तना इव ।

परैर्गृहीता उभयोस्तु तन्वते1 न युज्यते तेन गुणग्रह: स्वयम् ॥41॥
जिस प्रकार युवती के स्तन स्वयं ग्रहण किये हुए सुख उत्पन्न नहीं करते हैं, उसी प्रकार पुरुषों के गुण स्वयं ग्रहण किये हुए सुख और सौभाग्य को नहीं करते हैं किन्तु दूसरों के द्वारा ग्रहण किये हुए दोनों के सुख को विस्तृत करते हैं इसलिए स्वयं गुणों की प्रशंसा करना ठीक नहीं है ॥41॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
न कश्चित्स्वयमात्मानं शंसन्नाप्नोति गौरवम् ।
गुणा हि गुणतां यान्ति गुण्यमाना: पराननै: ॥42॥
स्वयं अपनी प्रशंसा करता हुआ कोई मनुष्य गौरव को प्राप्त नहीं होता है, निश्चय से दूसरों के मुख से प्रशंसा को प्राप्त हुए गुण गुणपने को प्राप्त होते हैं ॥42॥
भो राजन्! प्रत्येकं सर्वेऽपि असमर्था: परममीषां सति समुदाये तृणानामिव सामर्थ्यमस्ति । तथा चोक्तम्-
हे राजन्! यद्यपि सभी लोग पृथक्-पृथक् रहकर कोई भारी कार्य करने के लिए असमर्थ हैं तथापि इनका समूह एकत्रित होने पर तृणों के समान उनमें सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है । जैसा कि कहा है -
बहूनामप्यसाराणां समुदायो हि दारुण: ।
तृणैरावेष्टिता रज्जुस्त्या नागोऽपि बद्धयते ॥43॥
बहुसंख्यक नि:सार-निर्बल लोगों का समुदाय भी वास्तव में भयंकर होता है क्योंकि जो रस्सी सारहीन तृणों से बनाई जाती है, उसके द्वारा हाथी भी बाँधा जाता है ॥43॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
सामर्थ्यं जायते राजन् समुदायेन तत्क्षणात् ।
प्राणिनामसमर्थानामतो र्मु दुराग्रहम् ॥44॥
हे राजन्! समुदाय होने से एकत्रित होने के कारण असमर्थ प्राणियों में उसी क्षण सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है इसलिए दुराग्रह छोड़ो ॥44॥
पुन: राजा बूरते-भो मन्त्रिन् समर्थेनैकेनैव पूर्यते किं तेनाशक्तेन समुदायेन? तथा चोक्तम्-
राजा ने फिर कहा - हे मन्त्रिन्! यदि समर्थ मनुष्य एक है तो उसी के द्वारा कार्य पूर्ण हो जाता है, शक्तिहीन समूह से क्या होता है? जैसा कि कहा है-
एकोऽपि य: सकलकार्यविधौ समर्थ:
सत्त्वाधिको भवति किं बहुभि: प्रहीनै: ।
चन्द्र: प्रकाशयति दिङ्मुखमण्डलानि
तारागण: समुदितोप्यसमर्थ एव ॥45॥
जो शक्ति से सम्पन्न होता है, वह एक होकर भी **अर्थ**ात् अकेला ही समस्त कार्यों को करने में समर्थ होता है अत: शक्ति से हीन बहुत मनुष्यों से क्या लाभ है ? चन्द्रमा अकेला ही दिग्-मण्डल को प्रकाशित कर देता है परन्तु तारों का समूह इकट्ठा होकर भी दिग्-मण्डल प्रकाशित करने में असमर्थ ही रहता है ॥45॥
पुनर्मन्त्री वदति - भो नरेन्द्र! तव विनाशकाल: समायात:, अन्यथा विपरीतबुद्धिर्न जायते । उक्तञ्च-
मन्त्री ने फिर कहा - हे राजन्! तुम्हारा विनाश-काल आ गया है, अन्यथा विपरीत बुद्धि नहीं होती । जैसा कि कहा है -
न निर्मिता कैर्न च पूर्वदृष्टा न श्रूयते हेममयी कुरङ्गी ।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धि:॥46॥
सुवर्ण की हिरणी पहले किन्हीं के द्वारा न बनाई गई है न पहले देखी गयी है और न सुनी गयी है तो भी रामचन्द्रजी को उसकी तृष्णा लग

गयी । सो ठीक ही है क्योंकि विनाश-काल में बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥46॥

पुनरपि मन्त्री बूरते - भो राजन् बहुजनविरोधे सति विनाशं विहायान्यन्न भवति । अत्राथ सुयोधनराजाख्यानं श्रृणु सावधानो भूत्वा । तथाहि-हस्तिनागपुरे सुयोधनराजा, दुष्टनिग्रहं शिष्टपालनं च करोति । तस्य पट्टराज्ञी कमला, व्यो: पुत्रो गुणपाल:, मन्त्री पुरुषोत्तम: । तद्यथा-

फिर भी मन्त्री ने कहा - हे राजन्! बहुत मनुष्यों के साथ विरोध होने पर विनाश के सिवाय अन्य कुछ नहीं होता । इस विषय में सुयोधन राजा की कथा सावधान होकर सुनो । जैसा कि हस्तिनागपुर नगर में सुयोधन राजा दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का पालन करता था । उसकी पट्टरानी कमला थी, उन दोनों के गुणपाल नाम का पुत्र था और पुरुषोत्तम नाम का मन्त्री था । जैसा कि स्पष्ट है-

राजाप्रजाहितधियो धृतनीतिशास्त्रा:, सर्वोपधीषु च सदैव विशुद्धिभाज: ।

शुद्धान्वया: समगता अधिकारिणश्च, कल्याणिनो ननु नृपस्य भवन्त्यमात्या: ॥47॥

जिनकी बुद्धि राजा और प्रजा के हित में लग रही है, जो नीति शास्त्र को धारण करने वाले हैं, समस्त परिग्रह के विषय में जो सदा ही विशुद्ध रहते हैं, कभी लालच में पड़कर अनीति नहीं करते हैं शुद्ध वंश वाले हैं, मध्यस्थभाव को प्राप्त हैं, किसी के साथ पक्षपात नहीं करते हैं और अधिकार युक्त हैं, अपने दायित्व के कार्य पूर्ण करते हैं, निश्चय से वे ही मन्त्री राजा का कल्याण करने वाले होते हैं ॥47॥

स चतसृनृपविद्यानां ज्ञाता राजवल्लभोऽभूत । उक्तञ्च-

वह पुरुषोत्तम मंत्री साम, दाम, भेद और दण्ड इन चारों राज विद्याओं का ज्ञाता होने से राजा को अत्यन्त प्रिय था । कहा भी है-

मन्त्र: कार्यानुगो येषां कार्यं, स्वामिहितानुगम् ।

त एव मन्त्रिणो राज्ञां न तु ये गल्लफुल्लना: ॥48॥

जिनका मंत्री कार्य के अनुरूप है और कार्य स्वामी के हित के अनुरूप है, वे ही मन्त्री राजाओं के मन्त्री होने के योग्य हैं, जो मात्र गाल फुलाने वाले हैं, व्यर्थ की बात करने वाले हैं, वे मंत्री होने के योग्य नहीं हैं ॥48॥

तत्र स्वामिकार्यरत:, कपिल: पुरोहितो जपहोमविधानाशीर्वाददानसावधान:, भार्या: लक्ष्मी:, पुत्रों देवपाल: । उक्तं च-

वहाँ स्वामी के कार्य में लीन रहने वाला कपिल नामक पुरोहित रहता था, जो जप, होम, विधान और आशीर्वाद के देने में सावधान था । उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मी और पुत्र का नाम देवपाल था । कहा भी है -

वेद वेदाङ्गतत्त्वज्ञो जपहोमपरायण: ।

आशीर्वादपरो नित्यमेष राज्ञ: पुरोहित: ॥49॥

जो वेद और वेदांग के रहस्य को जानने वाला है जप और होम करने में तत्पर रहता है तथा आशीर्वाद देने में लीन रहता है, वही राजा का पुरोहित हो सकता है ॥49॥

स्थितस्य राज्ञोऽग्रे चरेण निरूपितम्-भो राजन् तव देश: शत्रुभिरुपद्रुत: । एतद्वच: श्रुत्वा राज्ञोक्तम्-तावद्वैरिवर्गा: भुवस्तले दृश्यन्ताम् यावन्ममकालखङ्गस्य गोचरे ते न निपतन्ति । पुनरपि राज्ञोक्तम्-भो नियोगिन् यावदहमालस्य निद्रामुदितनयनस्तिष्ठामि तावन् वैरिण: सर्वेऽपि गलगर्जं विदधतु । मयि चतुरङ्गबलान्विते दिग्विजयाय समुद्यते तेषां दिग्भ्रम एव भावी नान्यत् । उक्तं च-

यमदण्ड नाम का कोतवाल था, उसकी स्त्री का नाम धनवती था और दोंनों के वसुमति नाम का पुत्र था । इस प्रकार सुयोधन राजा राज्य करता था । एक समय सभा में स्थित राजा के आगे गुप्तचर ने कहा - हे राजन्! तुम्हारा देश शत्रुओं से उपद्रुत हों रहा है-शत्रु उपद्रव कर रहे हैं । गुप्तचर के वचन सुन राजा ने कहा - वैरियों के समूह पृथ्वी तल पर तभी तक दिखायी दें, जब तक वे यमराज के समान मेरी तलवार के सामने नहीं पड़ते । राजा ने फिर भी कहा - हे नियोगी! जब तक मैं आलस्यरूपी निद्रा से मुद्रित नयन हूँ, तब तक सभी शत्रु गल-गर्जना कर लें, मेरे चतुरंग सेना से युक्त हो, दिग्विजय के लिए उद्यत होने पर उनको दिग्भ्रम ही होगा, अन्य कुछ नहीं । कहा भी है-

निद्रामुद्रितलोचनो मृगपतिर्यावद् गुहां सेवते

तावत्स्वैरममी चरन्ति हरिणा: स्वच्छन्दसंचारिण: ।

उन्निद्रस्य विधूतकेसर-सटाभारस्य निर्गच्छतो

नादे श्रोत्रपथं गते हतधियां सन्त्येव शून्या दिश: ॥50॥

जब तक सिंह निद्रा से नेत्र बंदकर गुहा का सेवन करता है, तब तक स्वच्छन्दता से विचरने वाले ये हिरण इच्छानुसार घूमते हैं किन्तु उनींदे

और जिसकी जटाओं का समूह कम्पित हो रहा है, ऐसे बाहर निकले हुए सिंह का शब्द जब कान में पड़ता है, सुनाई देता है तब इनकी बुद्धि मारी जाती है और इन्हें दिशाएँ शून्य दिखने लगती हैं ॥50॥

तावद् गर्जन्ति मातङ्गा वने मदभरालसा: ।

शिरोऽवलग्न-लाङ्गूलो यावन्नायाति केसरी ॥51॥

मद के भार से अलसाये हाथी वन में तब तक गरजते हैं जब तक शिर पर पूँछ लगाये हुए सिंह नहीं आता है ॥51॥

पुन:-

और भी कहा है -

तावद् गर्जन्ति मण्डूका कूपमाश्रित्य निर्भरम् ।

यावत्करिकराकार: कृष्णसर्पो न दृश्यते ॥52॥

कुँए में रहने वाले मेंढ़क तब तक अच्छी तरह गरजते हैं, जब तक हाथी की सूँड के आकार वाला सर्प दिखाई नहीं देता ॥52॥

यमदण्ड: कोटपाल:, भार्या धनवती, पुत्रो वसुमति:, एवं राज्यं करोति सुयोधनो राजा । एकदास्थान-एवमुदित्वा चतुरङ्गबलेन राज्ञा शत्रुं प्रति प्रयाणकोद्यम: कृत: । ततो वीराणां तुष्टिदानं दत्वा भणितम्-भो वीरा:! श्रूयताम् भक्तायमवसर: । यत:-

ऐसा कहकर चतुरंग सेना से युक्त राजा ने शत्रु के प्रति प्रस्थान करने का उद्यम किया । तदनन्तर वीरों को सन्तुष्ट कर राजा ने कहा - हे वीरो, सुनो आपका यह अवसर है । क्योंकि-

जानीया: प्रेषणे-भृत्यान् बान्धवान् व्यसनागमे ।

मित्रं चापत्तिकाले च भार्यां च विभवक्षये ॥53॥

सेवकों को युद्ध में भेजने के समय, भाईयों को संकट के आने पर, मित्र को विपत्ति के समय और स्त्री को सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर जानना चाहिए ॥53॥

अलसं मुखरं स्तब्ध: लुब्धं व्यसनिनं शठम् ।

असंतुष्टमभक्तं च त्यजेद् भृत्यं नराधिप:॥54॥

आलसी, बकवादी, अहंकारी, लोभी, व्यसनी, मूर्ख, असंतोषी और अभक्त सेवकों को राजा छोड़ देवें ॥54॥

भक्तं शक्तं कुलीनं च न भृत्यमपमानयेत् ।

पुत्रवल्लालयेन्नित्यं यदीच्छेच्छुभमात्मन: ॥55॥

यदि राजा अपनी भलाई चाहता है तो भक्त समर्थ और कुलीन सेवक का कभी अपमान न करे किन्तु पुत्र के समान उस पर प्यार करे ॥ 55॥

भृत्यैर्विरहितो राजा नो लोकानुग्रहप्रद: ।

मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्वपि न शोभते ॥56॥

जिस प्रकार किरणों से रहित सूर्य तेजस्वी होने पर भी सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार सेवकों से रहित राजा लोकोपकारी होने पर भी सुशोभित नहीं होता ॥56॥

एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्या: कार्या विचक्षणा: ।

कुलीना: शौर्यसंयुक्ता शक्ता भक्ता: क्रमगता: ॥57॥

ऐसा जानकर राजा को उन्हें ही सेवक बनाना चाहिए जो चतुर हों, कुलीन हों, शूरवीरता से युक्त हों, समर्थ हों, भक्त हों और क्रमागत-परम्परा से चले आ रहे हों ॥57॥

ततो निर्गमनसमये यमदण्डकोटपालं प्रति तेन भणितम्-भो यमदण्ड! त्वया महता यत्नेन प्रजारक्षणं कार्यम् । तेनोक्तम्-महाप्रसाद: । अपराण्यपि कार्याणि निरूप्य यमदण्डस्य दिग्विजयाय निर्गतो राजा । तद्दिनादारभ्य यमदण्डेन सर्वजनानन्दकारि रक्षणं कृतम् । राजकुमारादय: सर्वेऽपि नागरा समावर्जिताश्च । कतिपयदिवसै: शत्रुं जित्वा स्वरिपो: सर्वस्वापहारं कृत्वा निजनगरं प्रत्यागतो राजा । महाजनं संमुखागतं

नरपतिना समान्य भणितम्-भो लोका:! यूयं सुखेन तिष्ठथ? तैरुक्तम्-स्वामिन् यमदण्डप्रसादेन सुखेन तिष्ठाम: । कियन्तं कालं विलम्ब्य ताम्बूलं दत्वा पुनरपि राज्ञा पृठा लोकास्तथैवोक्तवन्त: । ततो महाजनं प्रस्थाप्य मनसि चिन्तितं राज्ञा-अहो अनेन यमदण्डेन सर्वोऽपि स्वायत्तीकृत: । असौ दुष्टात्मा मम राजद्रोही, येन केनाप्युपायेनैनं मारयामि । यदुक्तम्-

तदनन्तर बाहर निकलते समय राजा ने यमदण्ड कोतवाल से कहा - हे यमदण्ड! तुम्हें बड़े यत्न से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए । उसने कहा - यह आपका महाप्रसाद है । यमदण्ड कोतवाल के लिए और भी कार्य बतलाकर राजा दिग्विजय के लिए निकल पड़ा । उस दिन से लेकर यमदण्ड ने सब मनुष्यों को आनन्दित करने वाला संरक्षण किया । राजकुमारों को आदि लेकर सभी नागरिक अनुकूल कर लिए । कुछ दिनों में शत्रु को जीतकर तथा अपने शत्रु का सर्वस्व अपहरण कर राजा अपने नगर को लौट आया । स्वागत के लिए सामने आये हुए महाजनों का सम्मान कर राजा ने उनसे कहा - हे महाजनों! तुम सब सुख से रहते हो । महाजनों ने कहा -

हे स्वामिन्! यमदण्ड के प्रसाद से सुख से रहते हैं । कुछ काल तक विलम्ब कर तथा मान देकर राजा ने लोगों से फिर भी पूछा तो उन्होंने वैसा ही कहा । तदनन्तर महाजनों को विदाकर राजा ने मन में विचार किया । अहो इस यमदण्ड ने सभी लोगों को अपने अधीन कर लिया । यह दुष्टात्मा मेरा राजद्रोही है । जिस किसी उपाय से मैं इसे मारता हूँ । जैसा कि कहा गया है-

नियोगिहस्तार्पितराज्यभारा: स्वपन्ति ये स्वैरविहारसारा: ।
विडालवृन्दार्पितदुग्धपूरा:स्वपन्ति ते मूढधिय: क्षितीन्द्रा ॥58॥

जो कर्मचारियों के हाथ में राज्य का भार सौंप कर स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करते हैं वे मूर्ख राजा मानों बिलावों के समूह को दूध का समूह सौंपकर सोते हैं ॥58॥

एवमपमानेन स्थितो राजा न कस्यापि निरूपयति । यत:-

इस प्रकार अपमान से रहता हुआ राजा किसी से कुछ नहीं कहता था । क्योंकि -

**अर्थ** नाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
र्वनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥59॥

बुद्धिमान् मनुष्य धनहानि, मन का संताप, घर में हुए दुश्चरित्र, ठगाई और अपमान को प्रकाशित न करें ॥59॥

सिद्धं मन्त्रौषधं धर्म्मं गृहछिद्रं च मैथुनम् ।
कुभुक्तं कुश्रुतं चैव न कदाचित्प्रकाशयेत् ॥60॥

सिद्ध किया हुआ मंत्र, अनुभूत औषध, धर्म, घर के छिद्र, मैथुन, खोटा भोजन और खोटा सुना कभी प्रकाशित नहीं करना चाहिए ॥60॥

एकदा यमदण्डेन गत्याकारेण राजानं दुष्टाभिप्रायं ज्ञात्वा स्वमनसि चिन्तितम् । अहो! मया भव्यं राज्यं कृतम्, तथापि यद्राजा दुष्टत्वं न त्यजति तत् "राजा कस्यापि वशो न भवति" इति लोकोक्ति: सत्या । तथा चोक्तम्-

एक समय यमदण्ड कोतवाल ने चाल-ढाल से राजा को दुष्ट अभिप्राय से युक्त जानकर अपने मन में विचार किया-अहो! मैंने यद्यपि अच्छा राज्य किया है । तथापि राजा जो अपनी दुष्टता नहीं छोड़ रहा है इसलिए राजा किसी के वश नहीं होता, यह कहावत सत्य है । जैसा कि कहा है-

काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं क्लीवे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता ।
सर्पे क्षान्ति: स्त्रीषु कामोपशान्ति: राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥61॥

कौए में पवित्रता, जुआरी में सत्य, नपुंसक में धैर्य, मदिरा पीने वाले में तत्त्व विचार, साँप में क्षमा, स्त्रियों में काम की शांति और राजा मित्र किसने देखा और सुना है ॥61॥

अन्यच्च-

और भी कहा है -

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिण: कस्यापदोऽस्तंगता:
स्त्रीभि: कस्य न खण्डितं भुवि मन: को नाम राज्ञां प्रिय ॥

क: कालस्य न गोचरत्वमगमत् कोऽर्थाद् गतो गौरवं
को वा दुर्जन-वागुरासु पतित: क्षेमेण यात: पुमान् ॥62॥

धन को प्राप्त कर कौन अहंकारी नहीं हुआ? किस विषयी मनुष्य की आपदाएँ नष्ट हुई हैं? पृथ्वी पर स्त्रियों के द्वारा किसका मन खण्डित नहीं हुआ? राजाओं का प्यारा कौन है? काल की गोचरता को कौन प्राप्त नहीं हुआ है? कौन मनुष्य धन से गौरव को प्राप्त हुआ है? और दुर्जन के जाल में पड़ा हुआ कौन पुरुष सुख से निकला है? ॥62॥

कियान् कालो गत: । एकदा राज्ञा मन्त्रिणं सपुरोहितमाहूय स्वचित्ताभिप्रायं निवेद्य भणितम्-अयं यमदण्डो दुष्टात्मा मारणीय उपायेन । ततस्ताभ्यां तथैवालोचितम् । यत:

कितना ही समय निकल गया । एक समय राजा ने पुरोहित सहित मन्त्री को बुलाया और अपने मन का अभिप्राय बताकर उनसे कहा - यह यमदण्ड दुष्ट अभिप्राय वाला है । इसलिए उपाय से मारने के योग्य है । तदनन्तर मन्त्री और पुरोहित ने राजा के कहे अनुसार ही विचार किया । क्योंकि-

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृश: ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥63॥

जैसी होनहार होती है वैसी बुद्धि होती है पुरुषार्थ वैसा होता है और सहायक भी वैसे ही प्राप्त होते हैं ॥63॥

उपायं र्कन पर्यालोच्य त्रिभिर्मिलित्वैकस्मिन् दिवसे राज्ञा कोषे खनित्र-व्यापारं कृत्वा तत्रस्थानि वस्तूनि अन्यत्र गुप्तस्थाने निक्षिप्य निजस्थानं प्रतिवेगेन गच्छता राज्ञा पादुका, मन्त्रिणा मुद्रिका विस्मृता, पुरोहितेन च यज्ञोपवीतम् । प्रात: समये कोलाहल: कृत, यमदण्डाकारणार्थं भृत्या: प्रेषिता:, यमदण्डेन मनसि चिन्तितं अद्य मे मरणमायातम् । यदुक्तम्-

राजा, मन्त्री और पुरोहित-तीनों ने मिलकर किसी उपाय का निश्चय किया । तदनुसार एक दिन राजा ने खजाने में कुदारी चलाकर-संधिकर वहाँ रखी हुई वस्तुएँ किसी अन्य सुरक्षित स्थान में रख दी । यह सब कर शीघ्रता से अपने स्थान पर जाता हुआ राजा खड़ाऊँ, मंत्री मुंदरी और पुरोहित जनेऊ भूल गया । प्रात:काल होंने पर हल्ला किया कि, खजाने में चोरी हो गयी । यमदण्ड को बुलाने के लिए सेवक भेजे गये । यमदण्ड ने मन में विचार किया कि आज मेरी मृत्यु आ पहुँची है । क्योंकि कहा है-

राज्ञ: कोपो हि दुर्वृत्तो दुर्निरीक्ष्यो दुराशय: ।
दु:शाम्यो दुर्घटो दुष्टो दु:सहोऽस्ति भुवस्तले ॥64॥

निश्चय से पृथ्वी तल पर राजा का क्रोध दुर्व्यवहार से युक्त दु:ख से देखने योग्य दुष्ट अभिप्राय से सहित दु:ख से शमन करने के योग्य दुर्घट दुष्ट और दु:ख से सहन करने के योग्य होता है ॥64॥

ज्ञातृत्वं कुपिते कुत:

दूसरी बात यह भी है कि कुपित मनुष्य में ज्ञातापन कहाँ हो सकता है?

कविरकवि पटुरपटु: शूरो भीरुश्चिरायुरल्पायु: ।
कुलज: कुलहीनो वा भवति पुमान् नरपते: कोपात् ॥65॥

राजा के क्रोध से कवि-अकवि, चतुर-अचतुर, शूरवीर, भयभीत, दीर्घायु, अल्पायु और कुलीन मनुष्य कुलहीन हो जाता है ॥65॥

एवं निश्चित्यागतो राजमन्दिरं यमदण्ड: । तं दृष्ट्वा राज्ञा भणितम्-हे यमदण्ड महाजनरक्षां करोषि, ममोपरि औदासीन्यं च । अद्य मम भाण्डारस्थितानि सर्ववस्तूनि चौरेण गृहीतानि । तानि वस्तूनि चौरश्च झटिति दातव्य: । नोचेच्छिरश्छेदं करिष्यामि । एतद्राजवचनं श्रुत्वा खातावलोकनार्थं गतो यमदण्ड: । तत्र खातमुखे पादुकां, मुद्रिकां, यज्ञोपवीतं च दृष्ट्वा गृहीत्वा च पादुकाभ्यां राजा, मुद्रिकया मन्त्री, यज्ञोपवीतेन च पुरोहितश्चौरो ज्ञात: । ततश्चित्ते तेन विचारितम्-अहो यदि राजा एवं करोति तदा कस्याग्रे निरूप्यते । तथा चोक्तम्-

ऐसा निश्चय कर यमदण्ड राजमहल गया । उसे देखकर राजा ने कहा - हे यमदण्ड तुम महाजनों की रक्षा करते हो परन्तु मेरे ऊपर उदासीनता वर्तते हो । आज मेरे खजाने में स्थित सब वस्तुएँ चोर ले गये हैं । वे वस्तुएँ और चोर शीघ्र ही देने के योग्य हैं नहीं तो तुम्हारा शिरच्छेद करूँगा (गला कटवा दूँगा) । राजा के यह वचन सुनकर यमदण्ड सन्धि को देखने के लिए गया । वहाँ सन्धि के अग्रभाग पर खड़ाऊँ अंगूठी और जनेऊ देखकर इसने उन्हें उठा लिया और खड़ाऊओं से राजा, मुद्रिका से मन्त्री तथा जनेऊ से पुरोहित को चोर जान

लिया । पश्चात् उसने मन में विचार किया-अहो यदि राजा ही ऐसा करता है तो किसके आगे कहा जावे? जैसा कि कहा है-

द्वीपं कडङ्गरीये च जारे राजनि वा पुन: ।
पापकृत्सु च विद्वत्सु नियन्ता जन्तुरत्र क: ॥66॥

यदि पशु ही द्वीप को उजाड़ने लगें, राजा ही यार हो जावे और विद्वान् ही पाप करने लगें तो फिर इस संसार में रोकने वाला कौन हो सकता है? ॥66॥

इमं कोलाहलं श्रुत्वा सर्वोऽपि नागर: समुदायेन समायात: । तस्याग्रे राज्ञा समग्रो वृत्तान्त: कथित: । महाजनेन निरूपितम्-हे तात! अस्य सप्त दिनानि दातव्यानि । सप्त दिनानन्तरं वस्तूनि चौरं च न प्रयच्छति चेत् तदा देव चिन्तितं कार्यं श्रीमता । राज्ञा महाजनोक्तं महता कष्टेन प्रतिपन्नम् । तमर्थं सुबुद्धं विधाय नागरिकलोको निजधाम जगाम । इतो यमदण्डेन राजपुत्रादिसर्वसमाजं मेलयित्वा निरूपितम्-मया किं क्रियते? ईदृग्विधा व्यवस्था मे समायाता । महाजनेनोक्तं मा भयं कुरु । त्वयि रक्षणायोद्यते सत्यस्मिन्नगरे चौरव्यापारो जात: । साम्प्रतं तव राज्ञो वा भेदेन चौरव्यापारोऽस्ति । युवयोरुभयोर्मध्ये यो दुष्टस्तस्य निग्रहं करिष्यामो वयम् । यमदण्डेनोंक्तं-एवं भवतु ।

ततोऽनन्तरं धूर्तवृत्त्या चौरमवलोकयति यमदण्ड: । प्रथमदिने राजसभायां गत: । राज्ञे नमस्कारं कृत्वोपविष्ट: । नरपतिना पृठम्-रे यमदण्ड त्वया चौरो दृष्ट:? तेनोक्तं-स्वामिन् मया सर्वत्र चौरान्वेषणं कृतं परं न दृष्ट: कुत्रापि । पुन: राज्ञोक्तं-एतावत्कालपर्यन्तं क्व स्थितं भवता? यमदण्डेनोक्तम्-हे देव! एकस्मिन् प्रदेशे कश्चित् कथक: कथां कथयति स्म । सा कथा मया श्रुता, तेन महती वेला लग्ना । राज्ञोक्तं-रे यमदण्ड त्वया कथया कथं स्वस्य मरणं विस्मर्यते? तां साश्चर्यां कथां कथय ममाग्रे । तेनोक्तम्-राजन् दत्तावधानेनाकर्णय कथां निरूपयाम्यहम् । तद्यथा-

यह कोलाहल सुनकर सभी नगरवासी लोग इकट्ठे होकर आ गये । राजा ने उनके सामने सब समाचार कहा । नगरवासियों ने कहा - हे तात! इसे सात दिन देने के योग्य हैं । सात दिन के अनन्तर यदि यह वस्तुएँ और चोर को नहीं देता है तो हे देव! श्रीमान् ने जो विचार किया है वह किया जाये । राजा ने महाजनों के द्वारा कहे हुए वचन को बड़े कष्ट से स्वीकृत किया । इस बात को अच्छी तरह जानकर नागरिक लोग अपने-अपने घर गये । इधर यमदण्ड ने राजपुत्र आदि सब समाज को एकत्रित कर कहा - मुझे क्या करना चाहिए? ऐसी व्यवस्था मेरी आ पहुँची है । महाजनों ने कहा - भय नहीं करो । तुम्हारी रक्षा के लिए उद्यत रहते हुए इस नगर में कभी चोरी नहीं हुई है । यह चोरी-तुम्हारे अथवा राजा के भेद से हुई है । तुम दोनों के बीच में जो दुष्ट होगा उसको हम लोग निग्रह करेंगे । यमदण्ड ने कहा - ऐसा होना चाहिए ।

तदनन्तर यमदण्ड धूर्तवृत्ति-कृत्रिम रूप से चोर की खोज करने लगा । वह पहले दिन राजसभा में गया और राजा को नमस्कार कर बैठ गया । राजा ने पूछा-हे यमदण्ड तूने चोर देखा?

यमदण्ड ने कहा - स्वामिन्! मैंने सर्वत्र चोर की खोज की परन्तु कहीं भी दिखा नहीं । राजा ने फिर कहा - इतने काल तक आप कहाँ रहे? यमदण्ड ने कहा - हे देव! एक स्थान पर कोई कथावाचक कथा कह रहा था । मैंने वह कथा सुनी इसलिए बहुत समय लग गया । राजा ने कहा - हे यमदण्ड! तू कथा के द्वारा अपने मरण को क्यों भूल रहा है? आश्चर्यपूर्ण उस कथा को मेरे आगे कहो । उसने कहा - राजन्! सावधान होकर सुनो । मैं वह कथा कहता हूँ । जैसा कि कहा है -

दीहकालं वयं तत्थ पादवे णिरुपद्दवे ।
मूलादो उच्छिया वल्लो जादं मरणदो भयं ॥67॥

हम उपद्रव रहित उस वृक्ष पर बहुत समय रहे परन्तु अब उस वृक्ष की जड़ में एक लता उत्पन्न हुई है । उसके कारण मरण का भय उत्पन्न हो गया है ॥67॥

एकस्मिन् वनमध्ये पङ्कादिदोषरहितं सहस्रपत्रादिसरोंजराजिसहितं मानससर इव महत्सरोवरमस्ति । तत्पाल्युपरि सरलोन्नतवृक्षोऽस्ति । तस्योपरि बहवो हंसास्तिष्ठन्ति ।

एकदा वृद्धहंसेन तत्तरुमूले वल्ल्यङ्क्वरो दृष्ट: । तत: पुत्रपौत्रादिहितार्थं वृद्धेन भणितम्-हे पुत्रपौत्रा एवं वृक्षमूले उद्गच्छन्तं वल्ल्यङ्क्वरं चुंप्रहा-रैस्त्रोटघत । अन्यथा सर्वेषां मरणं भविष्यति । एतद्वृद्धवच: श्रुत्वा तरुण-हंसैर्हसितम् । अहो वृद्धोऽयं मरणाळिभेति, सर्वकालं जीवितुमिच्छति, अकस्माद् भयमिह । निज पुत्रपौत्राणामीदृग्विधं वचनं श्रुत्वा वृद्धसितच्छदेन मनसि चिन्तितं तेन अहो! एते महामूर्खा:

स्वहितोपदेशं न जानन्ति, परन्तु कोपमेव कुर्वन्त । उक्तञ्च-

कथा का सार यह है कि एक वन के मध्य में कीचड़ आदि के दोषों से रहित तथा सहस्र दल आदि कमलों के समूह से मानसरोवर के समान बड़ा भारी सरोवर है । उस सरोवर की पाल के ऊपर देवदार का एक ऊँचा वृक्ष है । उस वृक्ष के ऊपर बहुत हंस रहते हैं । एक समय वृद्ध हंस ने उस वृक्ष की जड़ में लता का अंकुर देखा । तदनन्तर पुत्र पौत्र आदि के हित के लिए वृद्ध ने कहा - हे पुत्र पौत्रो! वृक्ष की जड़ में उगते हुए इस लता के अंकुर को तुम लोग चोंचों के प्रहार से तोड़ डालो, नहीं तो सबका मरण हो जायेगा । वृद्ध के यह वचन सुन जवान हंसों ने हँस दिया । कहने लगे-अहो यह बूढ़ा मरने से डरता है, सदा जीवित रहना चाहता है । इसे यहाँ बिना कारण ही भय दिख रहा है । अपने पुत्र और पौत्रों के ऐसे वचन सुन वृद्ध हंस ने मन में विचार किया-अहो ये महा मूर्ख अपने हित का उपदेश नहीं जानते परन्तु क्रोध ही करते हैं । कहा भी है-

मूर्खैरलब्ध-तत्त्वैश्च सहालापश्चतुष्फल: ।

वाचों व्ययो मनस्तापमपवादश्च ताडनम् ॥68॥

तत्त्व को न समझने वाले मूर्खों के साथ वार्तालाप करने में चार फल हैं- 1. वचन का व्यय, 2. मन का संताप, 3. अपवाद और 4. पिटाई ॥68॥

प्रायो मूर्खस्य कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् ।

विलून-नासिकस्येव विशुद्धादर्श-दर्शनम् ॥69॥

प्राय: कर मूर्ख के लिए समीचीन मार्ग का उपदेश देना उसके क्रोध को उस प्रकार बढ़ाने वाला होता है जिस प्रकार के नकटे के लिए निर्मल दर्पण का दिखाना ॥69॥

पुनरिदं स्वगतं वृद्धहंसेनाभाणि-मूर्खै:-सहोदिते सति फले व्यक्तिर्भविष्यति । इति मनसि निश्चित्य तूष्णीं स्थित: । कालान्तरेण वल्ली वृक्षस्योपरि चटिता । एकदा वल्लीमालम्ब्य पारधी अस्योपरि चटित: । तत्र तेन पाशराशयो मण्डिता: ये हंसा दिने दश दिशो गता अभवन् शयनार्थं वृक्षमायाता: ते सर्वेपि वृक्षाश्रिता रात्रौ पारधीपाशैर्बद्धा: ।

तेषां कोलाहलं श्रुत्वा वृद्धहंसेन भणितम्-हे पुत्रा: ममोपदेशं पूर्वं कृतवन्त । इदानीं बुद्धिरहितानां भवतां मरणमागतम् ।

पश्चात् वृद्ध हंस ने अपने मन में कहा - मूर्खों के साथ बात करने पर जब उसका फल होता है तब उसकी प्रकटता होती है । ऐसा मन में निश्चय कर वह चुप बैठ गया । कुछ समय के बाद वह लता वृक्ष के ऊपर चढ़ गयी । एक समय उस लता को पकड़ कर शिकारी वृक्ष के ऊपर चढ़ गया ।

वहाँ उसने अपने जाल फैला दिये । जो हंस दिन में दशों दिशाओं को गये थे, वे सोने के लिए उस वृक्ष पर आये और सभी पक्षी वृक्ष पर बैठते ही रात्रि के समय शिकारी के जाल में बएध गये । उनका कोलाहल सुनकर वृद्ध हंस ने कहा - हे पुत्रों! मेरा उपदेश तुम लोगों ने पहले नहीं माना । अब तुम मूर्खों का मरण आ गया है ।

अपसरणमेव युक्तं नूनं वै तत्र राजहंसस्य ।

कटु रटति निकटवर्ती वाचाटष्टिट्टिभो यत्र ॥70॥

जहाँ पास में बैठा हुआ बकवादी टिड्डा कटुक शब्द कर रहा है वहाँ निश्चय से राजहंस पक्षी का दूर हट जाना ही उचित है ॥70॥

तथा चोक्तम्-

जैसा कि कहा है -

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया धीर्गरीयसी ।

बुद्धिहीना विनश्यन्ति तथा ते सिंहकारका: ॥71॥

बुद्धि अच्छी है वह विद्या अच्छी नहीं है । विद्या की अपेक्षा बुद्धि श्रेठ होती है । जिस प्रकार सिंह को बनाने वाले वे विद्वान् नष्ट हो गये थे उसी प्रकार बुद्धिहीन मनुष्य नष्ट हो जाते हैं ॥71॥

तरुणहंसेनोत्तम्-कथमेतत् वृद्धहंस आह-श्रृणु ।

अस्ति कस्मिंमश्चित्प्रदेशे पौणड्रवर्धनं नाम नगरम् । तत्र च शिल्पकार: चित्रकार: वणिक्सुत: मन्त्रसिद्धश्चेति चत्वारि मित्राणि

स्वशास्त्रपारंगतानि । एकदा चत्वारो देशान्तरं निर्जग्मु: । अथ ते यावशच्छन्ति तावदपराह्नसमये भयंकरमरण्यमेकं प्रापु: । अथ तस्मिन्नरण्यमध्ये शिल्पकारेण तान् वचनमेतदभिहितम्-अहो एवं विधं भयंकरं स्थानं रात्रिसमये वयं प्राप्ता: । तदेकैकेनैकयामो जागरणीय:, अन्यथा चौरश्वापदभयात् किञ्चिद्विघ्नो भविष्यति । अथ ते प्रोचु:-भों मित्र! युक्तमिदमुक्तं भवता, तदवश्यं जागरिष्याम: । एवमुक्त्वा त्रयस्ते सुप्ता: ।

ततोऽनन्तरं स निद्राभञ्जनार्थं काठमेकमानीय कण्ठीरवस्वरूपं महाभासुरं सर्वावयवसंयुक्तं चकार । तदनुचित्रकारान्तिकम् ययौ । ततोऽब्रवीत-भो मित्र! निजयाम-जागरणार्थमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ, एवमुक्त्वा शिल्पकार: सुप्त: । अथ चित्रकार उत्त्थितो यावत् पश्यति तावदग्रे दारुमयं कण्ठीरवरूपं महासौन्दर्यघटितं ददर्श । ततोऽवदत्- अहो अनेनोपायेनानेन निद्राभञ्जनं कृतम्, तदहमपि किंचित्करिष्यामि । एवं भणित्वा हरितपीतलोहितकृष्णप्रभृतीन् वर्णान् दृषदुपरि उद्धृष्य दारुमयं सिंहं विचित्रितवान् ।

ततोऽनन्तरं चित्रकारो मन्त्रसिद्धसकाशमियाय प्रोवाच च । भो मित्र! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शीघ्रम् । एवमुक्त्वा चित्रकार: सुप्तवान् । अथ मन्त्रसिद्धो यावदुत्तिष्ठति तावत् सन्मुखं तत्कण्ठीरवं दारुमयं महारौद्रं सर्वावयवसमेतं जीवन्तमिवालोक्य स विभीत: ।

तत: प्रोवाच-इदानीं किं कर्तव्यम् सर्वेषामत्र मरणमवश्यमागतम् । एवमुक्त्वा मन्दं मन्दं गत्वा मित्रं प्रति प्राह-अहो! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, अस्यामटव्यां मध्ये श्वापदमेकमागतमस्ति । एवं तस्य कोलाहलमाकर्ण्य त्रयस्ते उत्थिता: । तत: प्रोचु:-भो मित्र! किमेव व्याकुलयसि ? अथ स जजल्प-अहो । पश्यत पश्यत एतत् श्वापदं मया मन्त्रेण कीलितमस्ति । तत: सन्मुखं नायाति । तदाकर्ण्य ते विहस्य प्रोचु:-भो मित्र दारुमयं श्वापदमेवं किंचिन्न जानासि । तस्मिन् दारुमये पञ्चाननरूपे निजविद्याप्रभाव आवाभ्यां दर्शित: । तच्छ्रु त्वा मन्त्रसिद्ध: समीपे गत्वा यावत्पश्यति तावदतिललज्जे ।

तत: प्राह-अनेन प्रसङ्गेन युवाभ्यां अस्मिन् दारुमये मृगराजो निजविद्याकौशलं दर्शितं, तदधुना मम विद्या कौतूहलं पश्यत । यदि जीवन्तं तमेव न करोमि तदहं मन्त्रसिद्धो भवामि । एवं मन्त्रसिद्धवचनमाकण्र्य बुद्धिमता वणिक्पुत्रेणैवं मनसि चिन्तिम्-अहो यदि कथमपि जीवन्तमिमं करिष्यति तत्सर्वेषां विनाशो भविष्यति तदहं दूरस्थो भूत्वा सर्वमेतत्पश्यामि, यतों मणि मन्त्रौषधीनामचिन्त्यो हि प्रभाव: । एवं चिन्तयित्वा यावद् गच्छति तावत्तावूचतु:-भो मित्र! कु त्स्त्वं गच्छसि? ततो वणिगाह अहो! मूत्रोत्सर्गं कृत्वा आगमिष्यामि । एवमुक्त्वा यावद् गच्छति तावत् स वृक्षमेकं सन्मुखमद्राक्षीत कथंभूतं वृक्षम्? तद्यथा-

तरुण हंस ने कहा - यह कैसे? वृद्ध हंस ने कहा - सुनो ।

किसी प्रदेश में पौणड्रवर्धन नाम का नगर था । वहाँ शिल्पकार, चित्रकार, वणिक् पुत्र और मन्त्रसिद्ध ये चार मित्र अपने शास्त्रों के पारगामी थे । एक समय चारों किसी दूसरे देश में चले ।

तदनन्तर वे चलते-चलते अपराह्न काल में एक भयंकर वन को प्राप्त हुए । पश्चात् उस वन के बीच शिल्पकार ने अपने तीनों साथियों से यह वचन कहा । अहो हम लोग रात्रि के समय ऐसे भयंकर स्थान आ पहुँचे हैं । इसलिए एक-एक को एक-एक पहर तक जागना चाहिए, नहीं तो चोर अथवा जंगली जानवर के भय से कुछ विघ्न होगा । तदनन्तर उन्होंने कहा - हे मित्र! आपने यह ठीक कहा है इसलिए अवश्य ही जागेंगे । ऐसा कहकर वे तीनों सो गये ।

तदनन्तर उस शिल्पकार ने नींद भगाने के लिए एक काठ लाकर अत्यन्त देदीप्यमान समस्त अवयवों से युक्त सिंह का आकार बनाया । पश्चात् चित्रकार के पास गया और बोला-हे मित्र! अपने पहर में जागने के लिए उठो उठो । ऐसा कहकर शिल्पकार सो गया । तदनन्तर जब चित्रकार उठा तो उसने आगे लकड़ी से बना हुआ अत्यन्त सौन्दर्य से युक्त सिंह का आकार देखा । पश्चात् वह बोला-अहो इस उपाय से इसने नींद भगाई है इसलिए मैं भी कुछ करँगा । ऐसा कहकर उसने हरे, पीले, लाल और काले आदि रंगों को पत्थर के ऊपर घिसकर लकड़ी के सिंह को चित्राम से युक्त कर दिया ।

इसके पश्चात् चित्रकार मन्त्रसिद्ध के पास गया और बोला । हे मित्र! शीघ्र उठो । ऐसा कहकर चित्रकार सो गया । तदनन्तर ज्योंही मन्त्रसिद्ध उठता है त्योंही सामने उस लकड़ी के सिंह को महा भयंकर और सब अवयवों से सहित जीवित जैसा देखकर डर गया । पश्चात् बोला - अब क्या करना चाहिए? यहाँ हम सबका मरण अवश्य आ पहुँचा है । ऐसा कहकर धीरे-धीरे जाकर मित्र से बोला । अहो! उठो उठो इस अटवी के बीच एक जंगली जानवर आ गया है । इस प्रकार उसका कोलाहल सुनकर तीनों साथी उठ गये । पश्चात् बोले-हे मित्र! क्यों इस तरह व्याकुल कर रहे हो? वह बोला-अहो! देखो देखो यह जानवर मेरे द्वारा मन्त्र से कीलित है इसलिए सामने नहीं आता

है । यह सुन तीनों साथियों ने हँसकर कहा - हे मित्र! यह लकड़ी का जानवर है ऐसा क्या तुम नहीं जानते । हम दोनों ने उस लकड़ी से निर्मित सिंह के आकार पर अपनी विद्या का प्रभाव दिखलाया है । यह सुनकर मंत्रसिद्ध पास जाकर जब देखता है तब बहुत लज्जित हुआ ।

तदनन्तर बोला-अहो इस प्रसंग से आप दोनों ने इस लकड़ी के सिंह पर अपनी विद्या की कुशलता दिखलाई है । इसलिए अब मेरी विद्या का कौतूहल देखो । यदि इस लकड़ी के सिंह को जीवित न कर दूँ तो मैं मन्त्रसिद्ध न रहूँ । इस प्रकार मन्त्रसिद्ध का वचन सुन बुद्धिमान् वणिक् पुत्र ने मन में विचार किया । अहो! यदि किसी प्रकार इस लकड़ी के सिंह को जीवित कर देगा तो सबका विनाश हो जायेगा । इसलिए मैं दूर खड़ा होकर यह सब देखूँगा क्योंकि मणि, मन्त्र और औषधि का प्रभाव अचिंत्य होता है । ऐसा विचारकर वह वणिक् पुत्र ज्योंही जाने लगा त्योंही शिल्पकार और चित्रकार उससे बोले-हे मित्र! तुम क्यों जा रहे हो? पश्चात् वणिक् पुत्र ने कहा - अहो लघुशंका करके आऊँगा ।

ऐसा कहकर जब वह चला तब उसने सामने एक वृक्ष देखा! कैसा वृक्ष देखा? तथाहि-

छायासुप्तमृग: शकुन्तनिवहैरालीढ-नीलच्छद:
कीटैरावृतकोटर: कपिकुलै: स्कन्धे कृत: प्रश्रय: ।
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुम: श्लाघ्य: स एव द्रुम:
सर्वाङ्गैर्बहुसत्व-सङ्गसुखदो भूभारभूता: परे ॥72॥

जिसकी छाया में मृग सोते हैं, जिसके हरे भरे पत्ते पक्षियों के समूह से व्याप्त रहते हैं, जिसकी कोटर कीड़ों से युक्त है, जिसके स्कन्ध पर वानरों के समूह आश्रय पाते हैं,भ्रमर निशिं्चत होकर जिसके फूलों का रसपान करते हैं और जो समस्त अंगों से अनेक प्राणियों के समूह को सुख देने वाला है, वही वृक्ष प्रशंसनीय है । शेष वृक्ष पृथ्वी के भार स्वरूप हैं ॥72॥

अन्यच्च-

और भी कहा है -

मार्गं विहाय गिरिकन्दरगह्वरेषु
वृक्षा: फलन्ति यदि नाम फलन्तु किं तै: ।
शाखाग्रजानि कुसुमानि फलानि चापि
गृह्वन्ति यस्य पथिकास्तरुरेष धन्य: ॥73॥

मार्ग को छोड़कर पर्वत की कन्दरा और गुफाओं के समीप यदि वृक्ष फलते हैं तो फलें, उनसे क्या लाभ है? जिस वृक्ष की शाखाओं के अग्रभाग में उत्पन्न होने वाले फूलों और फलों को पथिक ग्रहण करते हैं, वह वृक्ष धन्य है ॥73॥

तथा च-

और भी

मञ्जरिभि: पिकनिकरं रजोभिरलिनं फलैश्च पान्थजनम् ।
मार्गे सहकार सन्ततमुपकुर्वन्नन्द चिरकालम् ॥74॥

जो मंजरियों से कोयलों के समूह का, पराग से भ्रमरों का और फलों से पथिक जनों का निरन्तर उपकार करता है ऐसे ही मार्ग के आम्र वृक्ष! तुम चिरकाल तक समृद्धि युक्त रहो - निरन्तर फलो फूलो ॥74॥

एवंविधमहीरुहमारुह्य तत् सर्वमपश्यत् । ततोऽनन्तरं मन्त्रसिद्धो ध्यानस्थितो भूत्वा मन्त्रस्मरणं कृत्वा तस्मिन् दारुमये पञ्चास्ये जीवकलां निक्षेप । अथ जीवन्नसौ भूत्वा कृतघनघोराट्टहास उच्चलितचपेट: खदिराङ्गारोपमाननेत्र उच्छलितललितपुच्छच्छटाटोपोऽतिभयंकरस्त्रयाणामभिमुखो भूत्वा यथासंख्यं निपतित: । ततोऽहं ब्रवीमि-वरं बुद्धिर्न सा विद्या-इति । तैरुक्तम् भों भों तात! विनष्टे कार्ये यो बुद्धिं न त्यजति स प्रमादं न प्रयाति । तथाहि-

इस प्रकार के वृक्ष पर चढ़कर वणिक् पुत्र सब कुछ देखने लगा । तदनन्तर मन्त्रसिद्ध ने ध्यान स्थित होकर तथा मन्त्र का स्मरण कर उस लकड़ी के सिंह में जीव कला डाल दी-उसे जीवित कर दिया । पश्चात् जीवित होकर जिसने अत्यन्त भयंकर अट्टहास किया है, जिसका

पंजा ऊपर की ओर उठ रहा है, जिसके नेत्र खैर के अंगारे के समान लाल हैं, जिसकी सुन्दर पूँछ की छटा ऊपर की ओर उछल रही है तथा जो अत्यंत भयंकर है, ऐसा वह सिंह तीनों के सन्मुख होकर क्रम-क्रम से तीनों पर टूट पड़ा । इसलिए मैं कहता हूँ कि बुद्धि अच्छी है, विद्या नहीं ।

हंसों ने वृद्ध हंस से कहा - हे तात! कार्य के नष्ट हो जाने पर भी जो बुद्धि को नहीं छोड़ता है वह प्रमाद को प्राप्त नहीं होता ।

उत्सन्नेषु च कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते ।

स निस्तरति कार्याणि जलान्ते वानरो यथा ॥75॥

जैसा कि कहा है -

कार्यों के नष्ट हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती है वह कार्यों को पूरा करता है जैसे कि जल के समीप रहने वाला वानर ॥75॥

तेनोक्तम्-भो पुत्रा: नष्टे कार्ये क: उपाय: तथा चोक्तम्-

वृद्ध हंस ने कहा - हे पुत्रो कार्य के नष्ट हो जाने पर क्या उपाय है? जैसा कि कहा है -

अज्ञानभावादथवा प्रमादादुपेक्षणाद्वात्ययभाजि कार्ये ।

पुंस: प्रयासो विफल: समस्तो गतोदके क: खलु: सेतुबन्ध: ॥76॥

अज्ञान भाव से, प्रमाद से अथवा उपेक्षा से यदि कार्य नष्ट हो जाता है तो पुरुष का समस्त प्रयास निष्फल हो जाता है क्योंकि पानी के निकल जाने पर पुल का बाँधना क्या? कुछ नहीं ॥76॥

पुनरपि तैरुक्तम्-भो तात! चित्तं स्वस्थं कृत्वा कश्चिज्जीवनोपायो दर्शनीय: । तथा चोक्तम्-

फिर भी हंसों ने कहा - हे तात! चित्त को स्वस्थ कर जीवित रहने का कोई उपाय दिखलाइये । जैसा कि कहा है -

चित्तायत्तं धातुबन्धं शरीरे नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् ।

तस्माच्चित्तं यत्नतो रक्षणीयं स्वस्थे चित्ते बुद्धय: संभवन्ति ॥77॥

शरीर में धातुओं का बन्धन चित्त के अधीन है चित्त के नष्ट हो जाने पर धातुयें नाश को प्राप्त हो जाती हैं । इसलिए चित्त की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए क्योंकि स्वस्थ चित्त में ही बुद्धि का होना संभव है ॥77॥

तत: सितच्छदेन वृद्धेनोक्तम्- भो पुत्रा: । मृतकवत्तिष्ठन्तु, अन्यथा स पारधी: गलगोटनं करिष्यति । तैस्तथा कृतम् । प्रभातसमये स पारधी: समागत:, पक्षिसमूहं मृतकं ज्ञात्वा विश्वस्तेन तेनाधोभागे पातिता: सर्वे सितच्छदा: तदनन्तरं वृद्धहंसेन भणितम्-भो पुत्रा: सर्वे पलायनं कुर्वन्तु । एवं भूत्वा सर्वैरप्युड्डीनं कृतम् । पश्चात् सर्वैरपि भणितमहो! वृद्धवचनोपदेशेन जीविता वयम् । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर वृद्ध हंस ने कहा - हे पुत्रो मृतक के समान पड़े रहो नहीं तो वह शिकारी गला घोंट देगा । उन हंसों ने वैसा ही किया । प्रात:काल वह शिकारी आया पक्षियों के समूह को मरा जानकर निश्चिन्त हो उसने सब हंसों को नीचे गिरा दिया । तत्पश्चात् वृद्ध हंस ने कहा - हे पुत्रों सब लोग भाग जाओ यह सुनकर सब हंस उड़ गये । पश्चात् सभी ने कहा कि-अहो वृद्ध के वचनोपदेश से ही हम लोग जीवित बचे हैं । जैसा कि कहा है-

वृद्धवाक्यं सदा कृत्यं प्राहैश्च गुणशालिभि: ।

पश्य हंसान् वने बद्धान् वृद्धवाक्येन मोचितान् ॥78॥

बुद्धिमान् तथा गुणी मनुष्यों को वृद्ध के वचनों को सदा पालन करना चाहिए । देखो वन में बंधे हुए हंस वृद्ध के वचनों से छूट गये ॥78॥

मूलतो विनष्टं कार्यमित्यभिप्रायं सूचितमपि न जानाति राजा, कुतो, दुराग्रहग्रहग्रस्तत्वान् उक्तं च-

कथा के अभिप्राय से यह सूचित होता है कि यद्यपि कार्य मूल से ही नष्ट हो गया तथापि राजा नहीं जानता है क्योंकि वह दुराग्रहरूपी ग्रह से ग्रस्त था । कहा भी है -

दुराग्रह-ग्रह-ग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोति किम् ।

कृष्णपाषाणखण्डस्य मार्दवाय न तोयद: ॥79॥

दुराग्रहरूपी ग्रह से ग्रस्त पुरुष के विषय में विद्वान् क्या करे? क्योंकि मेघ काले पाषाणखण्ड को कोमल करने के लिए समर्थ नहीं होता है ॥79॥

इत्याख्यानं कथयित्वा यमदण्डो निजमन्दिरं गत: ।
यह कथा कहकर यमदण्ड अपने घर चला गया ।
॥ इति प्रथम दिन कथा ॥
॥ इस प्रकार प्रथम दिन की कथा पूर्ण हुई ॥

## द्वितीय दिन कथा

द्वितीय दिन कथा
कथा :
द्वितीय कथा
द्वितीय दिने तथैव राज्ञ: पार्श्व आगतो यमदण्डो राज्ञा पृष्ट:-रे यमदण्ड! चौरो दृष्टस्त्वया? तेनोक्तं-हे महाराज! न मया चौरो दृष्ट: । राज्ञोक्तम्-किमर्थं कालातिक्रम: कृत: । तेनोक्तम्- एकस्मिन्मार्गे एकेन कुम्भकारेण कथा कथिता । सा मया श्रुता, अतएव कालातिक्रमो जात: । राज्ञोक्तम्-सा कथा ममाग्रे निरूपणीया यया तव भयं विस्मृतम् । यमदण्डेनोक्तम्-तथास्तु, तद्यथा-अस्मिन्नगरे पाल्हण-नामा कुम्भकारो निजविज्ञाननिपुणोऽस्ति । स प्रजापतिराजन्मतो नगरासन्न-मृत्खनि-सकाशान्मृत्तिकामानीय विविधानि भाण्डानि निर्माय निर्माय विक्रीणाति । कालेन धनवान् जज्ञे, पश्चात्तेन भव्यं गृहं कारयितम् पुत्रादिसन्ततिर्विवाहिता सर्वेषां भिक्षुवराणां सत्यां भिक्षां ददाति याचकानां भोजनादिं च । क्रमेण स्वजातिमध्ये महत्तरो जात: । एकदा रासभीं सज्जीकृत्य मृत्खनिं मृत्तिकार्थं गत:, तस्य खनिं खनतस्तटी निपतिता, व्या कटिर्भग्ना ।
पश्चात्तेन पठितम्-
द्वितीय दिन कथा
यमदण्ड दूसरे दिन उसी प्रकार राजा के पास आया और राजा ने उससे पूछा-हे यमदण्ड तूने चोर को देखा? यमदण्ड ने कहा - हे महाराज! मैंने चोर नहीं देखा । राजा ने कहा - समय का उल्लङ्घन किसलिए किया? उसने कहा - मार्ग में एक कुम्भकार ने कथा कही उसे मैंने सुना इसी से समय का उल्लङ्घन हो गया । राजा ने कहा - वह कथा मेरे आगे कही जाने योग्य है जिसके द्वारा तुम अपना भय भूल गये । यमदण्ड ने कहा - अच्छी बात है कहता हूँ-
इस नगर में एक पाल्हण नाम का कुम्हार है जो अपने कार्य में अत्यन्त निपुण है । यह कुम्हार जन्म से ही लेकर नगर की निकटवर्ती मिट्टी की खान से मिट्टी लाकर नाना प्रकार के बर्तन बना- बना कर बेचता है । समय पाकर वह धनवान हो गया । पश्चात् उसने एक अच्छा भवन बनवा लिया, पुत्रादि सन्तति को विवाहित कर लिया । वह समस्त उत्तम भिक्षुओं को उत्तम भिक्षा देता है और याचकों के लिए भोजनादिक । क्रम से वह अपनी जाति के बीच बहुत बड़ा प्रधान हो गया । एक समय गधी को सुसज्जितकर मिट्टी लेने के लिए मिट्टी की खान पर गया । वहाँ खान को खोदते समय उसके ऊपर खान का किनारा गिर पड़ा जिससे उसकी कमर भग्न हो गई । पश्चात् उसने पढ़ा ।
जेण भिक्खं वलिं देमि जेण पोसेमि अप्पयं ।
तेण मे कडिआ भग्गा जादं सरणदो भयम् ॥86॥
जिस खान से मैं भिक्षा और भोजनादि देता था तथा जिससे अपने आपका पोषण करता था उस खान से मेरी कमर टूट गयी शरण से ही भय हो गया-रक्षक ही भय उत्पन्न करने वाला हो गया ॥86॥
एवं सूचिताभिप्रायं राजा न जानाति । इत्याख्यानं कथयित्वा यमदण्डो निजगृहं प्रति गत:॥ इति द्वितीयं दिनगतम् ।
॥ इति द्वितीय दिन कथा॥
इस प्रकार सूचित अभिप्राय को राजा नहीं जान सका । यमदण्ड यह कथा कहकर अपने घर चला गया । इस प्रकार दूसरा दिन व्यतीत हुआ॥

## तृतीय दिन कथा

तृतीय दिन कथा

कथा :

तृतीयदिन कथा

तृतीय दिने तथैव राज्ञ: पार्श्व आगतो यमदण्ड: राज्ञा पृष्ट:-रे यमदण्ड चौरो दृष्टस्त्वया? तेनोक्तम्-हे देव! न कुत्रापि चौरो दृष्ट: । राज्ञोक्तम्-कथं महती वेला लग्ना तेनोक्तम्-हे देव ? एकस्मिन्मार्गे एकेन कथकेन कथा कथिता, सा मया श्रुता, अतएव महती वेला लग्ना, राज्ञोक्तम्-सा कथा ममाग्रे निरूपणीया । यमदण्डेनोक्तम्-तथास्तु, तद्यथा पांलदेशे वरशक्तिनगरे राजा सुधर्म-परमधार्मिको जैनमतानुसारी, तस्य भार्या जिनमति:, सापि तथा । राजमन्त्री जयदेव: चार्वाकमतानुसारी, तस्य भार्या विजया सापि तथैव । एवं राजा महता सुखेन राज्यं करोति । एकदा स्थानस्थितस्य राज्ञोऽग्रे केनचिन्निरूपितम्-हे देव! महाबलो वैरी महतीं पीडां प्रजानां करोति । तच्छ्रुत्वा सकोपं राज्ञोक्तम्-तावद् गलगर्जं करोत्वेष यावन्नाहं व्रजामि । पुनरपि राज्ञोक्तम्-शस्त्रबन्धं न यस्य कस्यापि करोमि । यस्तु समरे तिष्ठति, निजमण्डलस्य कण्टकं भवति सोऽवश्यं राज्ञा निराकरणीय: । तथा चोक्तम्-

तीसरे दिन उसी प्रकार जब यमदण्ड राजा के पास आया तब उसने पूछा-हे यमदण्ड तूने चोर देखा? उसने कहा - हे देव! कहीं भी चोर नहीं दिखा । राजा ने कहा - बहुत समय क्यों लगा? उसने कहा - देव! एक मार्ग में एक कथा कहने वाला कथा कह रहा था, उसे मैं सुनता रहा इसीलिए बहुत समय लग गया । राजा ने कहा - वह कथा मेरे आगे कही जाये । यमदण्ड ने कहा - तथास्तु कहता है सुनिये । पाञ्चाल देश के वरशक्ति नगर में राजा सुधर्म रहता था, वह परम धार्मिक और जैनधर्म के अनुसार चलने वाला था । उसकी स्त्री का नाम जिनमति था । वह भी राजा के ही समान परम धार्मिक और जैनमत को धारण करने वाली थी । राजमन्त्री का नाम जयदेव था, जो चार्वाकमत का अनुयायी था । उसकी स्त्री का नाम विजया था । विजया भी अपने पति की तरह चार्वाक मत को मानने वाली थी । इस प्रकार राजा बहुत भारी सुख से राज्य करता था । एक दिन जब राजा सभा में बैठा था तब उसके आगे किसी ने कहा - हे देव! महाबल नाम का वैरी प्रजा को बहुत पीड़ित कर रहा है । वह सुन राजा ने क्रोध सहित कहा - यह तब तक कंठ से गर्जना कर ले, जब तक मैं नहीं जाता हूँ । राजा ने फिर कहा - मैं जिस किसी के ऊपर शस्त्र बन्धन नहीं करता हूँ **अर्थ**ात् सभी पर शस्त्र नहीं उठाता हूँ किन्तु जो युद्ध में खड़ा होता है और अपने देश का काँटा होता है वह अवश्य ही राजा के द्वारा निराकरण करने के योग्य होता है । जैसा कि कहा है-

य: शस्त्रवृत्ति: समरे रिपु: स्याद्य: कण्टको वा निजमण्डलस्य ।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा: क्षिपन्ति न दीन-कानीन-शुभाशयेषु ॥81॥

जो शत्रु शस्त्र लेकर युद्ध में खड़ा हो अथवा जो अपने देश के लिए काँटा स्वरूप हो राजा उसी पर शस्त्र चलाते हैं दीन, कन्यापुत्र और अच्छे अभिप्राय वालों पर नहीं ॥81॥

तथा च दुष्टनिग्रह: शिष्टप्रतिपालनं हि राज्ञो धर्म: न तु मुण्डनं, जटाधारणं च । एवं विचार्य निजशत्रु-महाबलस्योपरि गतो राजा । समरे तं जित्वा तस्य सर्वस्वं महानन्दनेन निजनगरमागतो राजा । ससैन्यनगरप्रवेशसमये नगरमुख्यप्रतोली पतिता । तां दृष्ट्वा "अपशकुनम्" इति ज्ञात्वा व्याघुट्य नगरबाह्ये स्थितो राजा । मन्त्रिणा झटिति प्रतोली कारिता । द्वितीयदिनेऽपि तथैव पतिता, एवं तृतीय दिने पतिता ।

इसके सिवाय दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करना ही राजा का धर्म है, शिर मुंडाना और जटा धारण करना नहीं । ऐसा विचार कर राजा अपने शत्रु महाबल से युद्ध करने चला, युद्ध में उसे जीतकर तथा उसका सर्व धन छीनकर बड़े हर्ष से अपने नगर को आ गया । जब राजा सेना के साथ नगर में प्रवेश कर रहा था तब नगर का मुख्य द्वार गिर गया । उसे गिरा देख तथा "अपशकुन" हो गया ऐसा विचार कर राजा लौट आया और नगर के बाहर ही ठहर गया । मन्त्री ने शीघ्र ही प्रमुख द्वार तैयार करा दिया परन्तु दूसरे दिन भी प्रतोली-प्रमुख द्वार गिर गया । इसी प्रकार तीसरे दिन भी गिर गया ।

रणमुखेषु रणार्जितकीर्तय: करितुरङ्गरथेष्वपि निर्भयान् ।
अभिमुखानभिहन्तुमधिठितानभिमुखा: प्रहरन्ति नहीतरान् ॥82॥

रणाग्रभाग में कीर्ति का संचय करने वाले योद्धा, हाथी-घोड़े और रथों पर सवार तथा निर्भय होकर सामने स्थित योद्धाओं को मारने के लिए ही सन्मुख जाकर प्रहार करते हैं । अन्य लोगों पर नहीं ॥82॥

ततो बहि: स्थितो राजा मन्त्रिणं प्रति पृष्टवान् - भो मन्त्रिन् । किमिति प्रतोली पतति? कथं अप्रतोली स्थिरा भवति?

मन्त्रिणोक्तम् - हे राजन् स्वहस्तेनैकं मनुष्यं मारयित्वा तद्रक्तेन प्रतोली सिच्यते तदा स्थिरा भवति, नान्यथा कुलाचार्यमतमिदम् ।

एतद्वचनं श्रुत्वा राजा ब्रूते - यस्मिन् नगरे जीववधो विधीयते ममानेन नगरेण प्रयोजनं नास्ति । यत्राहं तत्र नगरम् । सुवर्णेन तेन किं क्रियते येन कर्णस्त्रुट्यति ।

तदनन्तर बाहर ठहरे हुए राजा ने मन्त्री से पूछा - हे मन्त्री! इस प्रकार प्रमुख द्वारा क्यों गिरता है? और वह स्थिर कैसे हो सकता है? मन्त्री ने कहा - हे राजन्! अपने हाथ से एक मनुष्य को मारकर उसके रक्त से यदि प्रधान द्वार को सींचा जाये तो स्थिर हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं यह कुलाचार्य का मत है ।

यह सुन राजा बोला - जिस नगर में जीवघात किया जाता है, उस नगर से मुझे प्रयोजन नहीं है । जहाँ मैं हूँ वहीं नगर है । उस सुवर्ण से क्या किया जाये, जिससे कान कटने लग जाये?

पुनरपि राज्ञोस्तम् - य: स्वस्य हितं वाञ्छति तेन हिंसा न कत्र्तव्या । तथा चोक्तम्-

राजा ने फिर भी कहा - जो अपना हित चाहता है उसे हिंसा नहीं करना चाहिए । जैसा कि कहा है -

स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्तादमृतमुरगवक्त्रात्साधुवादं विवादात् ।

रुगपगममजीर्णाज्जीवितं कालकूटादभिलषति वधाद्य: प्राणिनां धर्ममिच्छेत् ॥83॥

जो प्राणियों के घात से धर्म की इच्छा करता है, वह अग्नि से कमल वन, सूर्यास्त से दिन, सर्प के मुख से अमृत, विवाद से धन्यवाद, अजीर्ण से नीरोगता और कालकूट विष से जीवित रहने की इच्छा करता है ॥83॥

श्रूयतां धर्म-सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥84॥

धर्म का सर्वस्व सुनो और सुनकर उसे हृदय में धारण करो । धर्म का सर्वस्व यही है कि जो काम अपने विरुद्ध हैं-अपने लिए अच्छे नहीं लगते हैं, उन्हें दूसरों के प्रति भी न करे ॥84॥

प्रवाहे वर्तते लोको न लोक: पारमार्थिक: ।

प्रत्यक्षं मार्यते सर्पो गोमयेष्विह पूज्यते ॥85॥

लोग तो प्रवाह में बरतते हैं **अर्थ**ात् देखा-देखी करते हैं, परमार्थ का विचार करने वाले नहीं हैं । इस जगत् में साँप सामने तो मारा जाता है परन्तु गोबर का बनाया हुआ पूजा जाता है ॥85॥

अहिंसा परमो धर्मोह्यधर्म: प्राणिनां वध: ।

तस्माद् धमोर्थिनावश्यं कत्र्तव्या प्राणिनां दया ॥86॥

अहिंसा परम धर्म है और प्राणियों का वध करना अधर्म है इसलिए धर्म के इच्छुक मनुष्यों को प्राणियों पर दया करना चाहिए ॥86॥

यो भूतेष्वभयं दद्याद् भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।

यादृग्वितीर्यते दानं तादृगासाद्यते फलम् ॥87॥

जो पृथ्वी आदि से भूतों को अभय देता है । उसे भूतों से भय नहीं होता । यह ठीक ही है क्योंकि जैसा दान दिया जाता है वैसा ही फल होता है ॥87॥

न कत्र्तव्या स्वयं हिंसा प्रवृत्तां च निवारयेत् ।

जीवितं बलमारोग्यं शश्वद् वाञ्छन् महीपति: ॥88॥

जीवन, बल और आरोग्य की निरन्तर इच्छा करने वाले राजा को स्वयं हिंसा नहीं करना चाहिए और कोई हिंसा कर रहा है तो उसे मना करना चाहिए ॥88॥

तथा च-

और भी कहा है -

यो दद्यात् काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चापि वसुन्धराम् ।

एकस्य जीवितं दद्यात् फलेन न समं भवेत् ॥89॥

एक मनुष्य मेरु के बराबर सुवर्ण अथवा संपूर्ण पृथ्वी दान में देता है और दूसरा एक जीव को जीवन-दान देता है परन्तु फल की अपेक्षा

दोनों के दान में समानता नहीं होती **अर्थ**ात् जीवन दान का फल अधिक होता है ॥89॥
ततो राज्ञो निश्चयमेवंविधं निर्णीय मन्त्रिणा समस्तनगरमाकार्योक्तम् - भो लोका:! श्रूयतां यद्येवमेवं क्रियते तदा प्रतोली स्थिरा भवति नान्यथा । यदि मनुष्यवधादिकं विधीयते तदादेशं न ददाति राजा, कथयति स यत्राहं तत्र नगरम्, जीववधादिकं न करिष्ये, न कारयिष्ये, न चानुमोदिष्ये, इत्यवगम्य यो विचार: समायाति तं कुर्वन्तु ।
ततो महाजनेनागत्य भणितम् - भो स्वामिन्! अस्माभि: सर्वमपि क्रियते, भवन्तस्तूष्णीं तिष्ठन्तु । राज्ञोक्तम्-प्रजा:
पापं कुर्वन्ति यदा तदा मम षडंश - पापं भवति पुण्यमपि तथा । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर राजा के ऐसे निश्चय का निर्णय कर मन्त्री ने समस्त नगरवासियों को बुलाकर कहा - हे नगरवासियों! सुनो यदि ऐसा किया जाये तो प्रधान द्वार स्थिर हो सकता है अन्यथा नहीं ।
यदि मनुष्य का वध आदिक किया जाता है तो राजा आज्ञा नहीं देता है । वह कहता है कि जहाँ मैं हूँ वहीं नगर है । जीव-वध आदि को न मैं स्वयं करँगा न दूसरों से कराऊँगा और न अनुमोदना ही करँगा । यह जानकर जो विचार आता है उसे कहो ।
पश्चात् महाजनों ने आकर कहा - हे स्वामिन्! हम लोग सब कुछ कर सकते हैं आप चुप रहिये ।
राजा ने कहा - जब प्रजा पाप करती है तब उसका छठवाँ भाग मेरा होता है और जब पुण्य करती है अब उसका भी छठवाँ भाग मेरा होता है । जैसा कि कहा है -
राज्ञो राष्ट्रकृतं पापं राजपापं पुरोधस: ।
भर्तुश्च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरोरपि ॥90॥
देश का किया पाप राजा को भी लगता है, राजा का किया पाप पुरोहित को भी लगता है, स्त्री का किया पाप पति को भी लगता है और शिष्य का किया पाप गुरु को भी लगता है ॥90॥
यथैव पुण्यस्य सुकर्मभाजां षडंशभागी नृपति: सुवृत्त: ।
तथैव पापस्य कुकर्मभाजां षडंशभागी नृपति: कुवृत्त: ॥91॥
जिस प्रकार सदाचारी राजा अच्छा कार्य करने वाले मनुष्यों के पुण्य के छठवें भाग का हिस्सेदार होता है उसी प्रकार दुराचारी राजा खोटा कार्य करने वाले मनुष्यों के पाप के छटवें भाग का हिस्सेदार होता है ॥91॥
पुनरपि महाजनेनोंक्तम् - पापभागोऽस्माकं पुण्यभागो भवतामितितूष्णीं तिष्ठन्तु ।
राज्ञोक्तम् - तथास्तु । ततो महाजनेन द्रव्यस्योद्ग्राहणिका कृता । तेन द्रव्येण कर्नामय: पुरुषो घटयित:, नाना प्रकारै: रत्नैर्विभूषितश्च । पश्चात् पुरुषं शकटे चटयित्वा नगरमध्ये घोषणा दापिता-यदि कोऽपि स्वपुत्रं दत्वा माता स्वहस्तेन विषं प्रयच्छति, पिता स्वहस्तेन गलमोटनं करोति व्योर्मातृपित्रो: कर्नामय: पुरुष: कोटिद्रव्यं च दीयते । तत्रैव नगरे निष्करुणो महादरिद्रों वरदत्तो नाम ब्राह्मणोऽस्ति, तस्य सप्त पुत्रा: सन्ति, तस्य वरदत्तस्य भार्या निष्करुणा नाम्नी । पटहं श्रुत्वा तेन द्विजेन स्वभार्या पृष्टा-हे प्रिये! लघुपुत्रमिन्द्रदत्त-नामानं दत्त्वेदं द्रव्यं गृह्यते, द्रव्यप्राप्तौ सर्वे गुणा आत्मनो भविष्यन्ति । यदुक्तम्-
महाजनों ने पुन: कहा - पाप का पूरा हिस्सा हम लोगों का और पुण्य का हिस्सा पूरा आपका होगा इसलिए आप चुप रहिये । राजा ने कहा - तथास्तु ऐसा हो । तदनन्तर महाजनों ने धन की उगाहनी की उस धन से सुवर्ण का एक मनुष्य बनवाया और उसे नाना प्रकार के रत्नों से अलंकृत किया । पश्चात् उस पुरुष को गाड़ी पर चढ़ा कर नगर में घोषणा दिलवायी-यदि कोई अपना पुत्र इस प्रकार देता है कि माता अपने हाथ से विष देवे और पिता गला मोड़े तो उन माता-पिता के लिए सुवर्णमय पुरुष और एक करोड़ रुपये दिये जायेंगे । उसी नगर में करुणा रहित महादरिद्री वरदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था, उसके सात पुत्र थे । उस वरदत्त की स्त्री का नाम निष्करुणा था । घोषणा के नगाड़े को सुनकर उस ब्राह्मण ने अपनी स्त्री से पूछा-हे प्रिये इन्द्रदत्त नामक छोटे पुत्र को देकर यह द्रव्य ले लिया जाये । द्रव्य की प्राप्ति होने पर सब गुण अपने हो जायेंगे । जैसा कि कहा है -
यस्यास्ति वित्तं स नर: कुलीन:, स पण्डित: स श्रुतवान् गुणज्ञ: ।
स एव वक्ता स च दर्शनीय:, सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ते ॥92॥
जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही पण्डित है, वही शास्त्रज्ञ और गुणज्ञ है, वही वक्ता है तथा वही दर्शनीय-सुन्दर है क्योंकि

समस्त गुण धन का आश्रय करते हैं ॥92॥
हे भद्रे! धनस्य माहात्म्यं पश्य । तथा च
**अर्थ**ार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
करोति च महानर्थान् येन प्राप्नोति दुर्गतिम् ॥93॥
हे भद्रे! धन की महिमा देखो जैसा कि कहा है-धन का इच्छुक यह मनुष्य श्मशान की भी सेवा करता है और महान् अनर्थों को करता है, जिससे दुर्गति को प्राप्त होता है ॥93॥
जो मनुष्य दुर्गम अटवी में घूमते हैं और भयंकर अन्य देशों को जाते हैं वह भी धन की महिमा है ।
यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्राम्यन्ति देशान्तरम्-इत्यादि ।
नयेन नेता विनयेन शिष्य: शीलेन लिङ्गी प्रशमेन साधु: ।
जीवेन देह: सुकृतेन देही वित्तेन गेही रहितो न किंचित् ॥94॥
नीति से रहित नेता, विनय से रहित शिष्य, शील से रहित वेषधारी परिव्राजक, शान्ति से रहित साधु, जीव से रहित शरीर पुण्य से रहित गृहस्थ कुछ भी नहीं है ॥94॥
आवयो: कुशले सति अन्येऽपि बहव: पुत्रा भविष्यन्ति । व्या निष्करुणया "तथास्तु" इति भणितम् । ततो वरदत्तेन घोषणां धृत्वा कथितम्-इदं द्रव्यं गृहीत्वा पुत्रो दीयते मया । महाजनेनोक्तम्-दीयतां भवता । यदि मात्रा स्वहस्तेन पुत्रस्य विषं दीयते, पित्रा स्वहस्तेन पुत्रस्य गलमोटनं क्रियते चेत् तर्हि द्रव्यमिदं दीयते समस्तवस्तु च नान्यथा । वरदत्तेनोक्तं-तथास्तु" सर्वं प्रतिपन्नम् ।
तत्पितुश्चेष्टितं श्रुत्वा इन्द्रदत्तेन स्वमनसि चिन्तितम्-अहो स्वार्थ एव संसारे, कोऽपि कस्यापि वल्लभो नास्ति ।
हम दोनों के कुशल रहने पर और भी बहुत पुत्र हो जायेंगे । उस निष्करुणा ब्राह्मणी ने "तथास्तु" ऐसा कह दिया । तदनन्तर वरदत्त ने घोषणा को धारण कर कहा - इस द्रव्य को लेकर मैं अपना पुत्र देता हूँ । महाजनों ने कहा - आप दीजिये परन्तु यदि माता अपने हाथ से पुत्र को विष देवे और पिता अपने हाथ से पुत्र का गला मोड़े तो यह धन और समस्त वस्तुएँ दी जायेंगी अन्यथा नहीं ।
वरदत्त ने कहा - " तथास्तु" सब स्वीकार है ।
पिता की इस चेष्टा को सुनकर इन्द्रदत्त ने अपने मन में विचार किया-अहो! संसार में स्वार्थ ही है कोई किसी का प्यारा नहीं है ।
धनहीनं नृपं भृत्या: कुलीनमपि चोन्नतम् ।
संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कवृक्षमिवाण्डजा: ॥95॥
जिस प्रकार पक्षी सूखे वृक्ष को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, उसी प्रकार सेवक धनरहित कुलीन और उत्कृष्ट राजा को भी छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं ॥95॥
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगा: शुष्कं सर: सारसा:
पुष्पं गन्धगतं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगा: ।
निद्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका दृष्टं नृपं सेवका
सर्व: कार्यवशाज्जनोऽभिरमते क: कस्य को वल्लभ: ॥96॥
पक्षी फलरहित वृक्ष को छोड़ देते हैं, सारस सूखे सरोवर को छोड़ देते हैं, भौंरम गन्धरहित फूल को छोड़ देते हैं, मृग जले हुए वन को छोड़ देते हैं, वेश्याएँ निर्धन पुरुष को छोड़ देती हैं और सेवक दुष्ट विपत्तिग्रस्त राजा को छोड़ देते हैं । ठीक ही है सभी लोग अपने-अपने कार्य के वश ही प्रीति दिखाते हैं, परमार्थ से पृथ्वी पर कौन किसे प्रिय है? ॥96॥
अहो वसुनो माहात्म्यं पश्य । धननिमित्तमकर्तव्यमपि क्रियते । तथा चोक्तम्-
अहो धन का माहात्म्य देखो, धन के निमित्त न करने योग्य कार्य भी किया जाता है । जैसा कि कहा है -
पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।
वन्द्यते यदवन्द्योपि तत्प्रभावो धनस्य च ॥97॥
जो अपूज्य भी पूजा जाता है, अगम्य-असेव्य के पास भी पाया जाता है और अवन्द्य की भी वन्दना की जाती है वह धन का ही प्रभाव है ॥

97॥
बुभुक्षित: किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्या हि भद्रे प्रियदर्शनस्य, न गङ्गदत्त: पुनरेति कूपम् ॥98॥
भूखा मनुष्य कौन-सा पाप नहीं करता? दरिद्र मनुष्य दया रहित होंते हैं, हे भद्रे! प्रियदर्शन की कथा प्रसिद्ध है कि उसके निर्धन होने पर गंगदत्त फिर कुँए को नहीं जाता है ॥98॥
तावदेव जन: सर्व: प्रियत्वेनानुवर्तते ।
दानेन गृह्यते यावत्सारमेय शिशुर्यथा ॥99॥
जिस प्रकार कुत्ते के पिल्ले को जब तक खिलाते-पिलाते रहते हैं, तब तक वह प्रिय समझ कर पीछे लगा रहता है, उसी प्रकार जब तक सब मनुष्यों को दान आदि देकर अपने अनुकूल रखा जाता है, तभी तक वे प्रिय समझकर पीछे लगते हैं, दान आदि के स्रोत बन्द होने पर सब साथ छोड़ देते हैं ॥99॥
तत: सालङ्कारं मातापित्रादि-लोकसमूहवेष्टितं हसन्तं प्रतोलीसम्मुखागतमिन्द्रदत्तं दृष्ट्वा राज्ञा भणितम्-रे माणवक! किमर्थं हससि? किं मरणेन न विभेषि तेनोक्तम्-हे देव! यावद्भयं नागच्छति तावद् भेतव्यम् आगते तु सोढव्यम् इति । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर द्रव्य लेकर वरदत्त ने अपना पुत्र महाजनों को सौंप दिया ।
तदनन्तर जो आभूषणों से सहित था तथा माता-पिता आदि लोगों से घिरा हुआ था, ऐसे हँसते हुए, प्रधान द्वार के सम्मुख आये हुए इन्द्रदत्त को देखकर? राजा ने कहा - रे बालक! किसलिए हँस रहा है? क्या मरने से डरता नहीं है । उसने कहा - हे देव! जब तक भय आता नहीं, तब तक डरना चाहिए परन्तु आ जाने पर सहन करना चाहिए । जैसा कि कहा है -
तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगत तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशङ्कितम् ॥100॥
भय से तब तक डरना चाहिए, जब तक वह आया नहीं है परन्तु भय को आया देखकर शंका रहित हो प्रहार करना चाहिए ॥100॥
इत्यभिधानात् । ततो द्रव्यं गृहीत्वा पुत्रो महाजनस्य समर्पितो वरदत्तेन ।
एक बात यह भी है -
माता यदि विषं दद्यात् पित्रा विक्रीयते सुत: ।
राजा हरति सर्वस्वं किं तत्र परिदेवनम् ॥101॥
माता यदि विष देती है, पिता पुत्र को बेचता है और राजा सर्वस्व हरण कर्ता है तो वहाँ दु:ख की क्या बात है? ॥101॥
किञ्च-
इति स्थितौ यदा माता विषं पुत्राय यच्छति ।
पिता च कुरुते क्रूरो लोभाद् गलविमोटनम् ॥102॥
जनो गृह्णाति द्रव्येण प्रेरको यत्र भूमिराट् ।
तत्र कस्याग्रतो नाथ! स्वदु:खं कथ्यते मया ॥103॥
इस स्थिति में कि जब माता पुत्र के लिए विष दे रही हो क्रूर पिता लोभ से गला मोड़ रहा हो, महाजन धन देकर खरीद रहा हो और राजा प्रेरणा कर रहा हों । तब हे नाथ! मैं किसके आगे अपना दु:ख कहूँ? ॥102-103॥
सत्त्वं विना न मुक्ति: स्यान्मरणाङ्गीकृतोऽपि य: ।
अत: सत्त्वं समाधाय नाथात्र हसितं मया ॥104॥
जो मृत्यु के द्वारा स्वीकृत किया जा चुका है, उसकी भी मुक्ति धैर्य के बिना नहीं हो सकती इसलिए हे राजन्! इस अवसर पर मैं धैर्य का आलम्बन लेकर हँस रहा हूँ ॥104॥
पुनरपीन्द्रदत्तेनोक्तम्-भो राजन् मात्रासंतापित: शिशु: पितु: शरणं गच्छति, पित्रा: संतापित: शिशुर्मातृशरणं गच्छति, द्वाभ्यां संतापितो राज्ञ: शरणं याति, राज्ञा संतापितो महाजन शरणं गच्छति । यत्र माता विषं प्रयच्छति पुत्रस्य, पिता च गलमोटनं करोति, महाजनो द्रव्यं दत्त्वा

गृह्वाति, राजा प्रेरको भवति तत्र कस्याग्रे निरूप्यते तथा चोक्तम्-
इन्द्रदत्त ने पुन: कहा - हे राजन्! माता के द्वारा संताप को प्राप्त हुआ बालक पिता की शरण जाता है, पिता के द्वारा संताप को प्राप्त हुआ माता की शरण जाता है ।
दोनों के द्वारा संताप को प्राप्त हुआ राजा की शरण को जाता है और राजा के द्वारा संताप को प्राप्त हुआ महाजनों की शरण को जाता है परन्तु जहाँ माता विष देती है, पिता गला मोड़ता है, महाजन धन देकर ग्रहण करता है और राजा प्रेरक-प्रेरणा करने वाला होता है वहाँ किसके आगे कहाँ जावे? जैसा कि कहा है -
मात्रा पित्रा सुतो दत्तो राजा च शस्त्रघातक: ।
देवता वलिमिच्छन्ति आक्रोश: किं करिष्यति ॥105॥
माता और पिता के द्वारा पुत्र दिया गया हो, राजा शस्त्र से घात करने वाला हो और देवता बलि की इच्छा करता हो वहाँ रोना-चीखना क्या कर सकता है ?॥105॥
अतएव धीरत्वेन मरणमस्तु । एतद्वचनं श्रुत्वा राज्ञोक्तम्-अनया प्रतोल्या, अनेन नगरेणापि च मम किमपि प्रयोजनं नास्ति । यत्राहं तत्र नगरमिति-अभिधानम्,नूतननगरं करिष्ये, एवं सधैर्यं राजानं माणवकसाहसं च दृष्ट्वानगरदेवव्या प्रतोंली निर्मिता, पञ्चाश्चर्येण माणवक: प्रपूजितश्च । द्वयोरुपरि पुष्पवृष्टिश्च कृता । तथा चोक्तम्-
इसलिए धीरता से मरण हो ।
यह वचन सुनकर राजा ने कहा - इस प्रतोली-प्रधान द्वार से और इस नगर से भी मुझे कोई प्रयोजन नहीं है । जहाँ मैं हूँ वहीं नगर है......यह मेरा-कहना है, मैं नवीन नगर बसा लूँगा । इस प्रकार धैर्य सहित राजा और बालक के साहस को देखकर नगर देवता ने प्रतोली का निर्माण कर दिया, पञ्चाश्चर्यो से बालक की पूजा की और दोनों के ऊपर पुष्पवृष्टि की । कहा भी है -
रत्नवृष्टिस्तथा पुष्पवृष्टिर्गीर्वाणदुन्दुभि: ।
त्रिधावायुर्मरुत्साधुकारश्चाश्चर्यपञ्चकम् ॥106॥
रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि, मन्द, सुगन्धित और शीतल के भेद से तीन प्रकार की वायु और साधुवाद-धन्य-धन्य शब्द की ध्वनि से पञ्चाश्चर्य कहलाते हैं ॥106॥
इस संसार में उद्योगी मनुष्यों के लिए कोई कार्य कठिन नहीं है । उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये छह जिसके पास हैं, देव भी उससे शंकित रहते हैं-भय खाते हैं ॥107॥
इस प्रकार सूचित किये हुए अभिप्राय को राजा नहीं जानता है । यह कथा कहकर यमदण्ड अपने घर चला गया ।
(॥ इस प्रकार तृतीय दिन व्यतीत हुआ॥)

## चतुर्थ दिन की कथा

चतुर्थ दिन की कथा
कथा :
चतुर्थदिन कथा
चतुर्थदिने आस्थानस्थितेन राज्ञा तथैव यमदण्ड: पृष्ट:-रे यमदण्ड! त्वया मोषको दृष्ट: तेनोक्तम्-न कुत्रापि दृष्टो मया । पुनरपि नरपतिनाभाणि-किमर्थं महती वेला लग्ना? तेनोक्तम्-राजन् । ग्रामाद् बहि: एकस्मिन् पथि एकेन कथकेन हरिणीकथा कथिता । सा मया सावधानेन श्रुता, अतएव महती वेला लग्ना । राज्ञोंक्तम्-स कथाममाग्रे निरूपणीया । तेनोक्तम्-तथास्तु । तद्यथा ।
चतुर्दिशतडागाकीर्णे बहुदल-सरल तरुगण विस्तीर्णे एकस्मिन्नुद्यानवने तडागतटे काचिद् हरिणी निवसतिस्म । सा स्वबालकै: सह वनस्थलीषु तृणादिभक्षणं कृत्वा तडागेषु पानीयं पीत्वा सुखेन कालं गमयति । तदासन्न-नगरस्यारिमर्दनस्य नृपस्य बहव: पुत्रा: सन्ति । केनाऽपि व्याधेनैकं मृगशावकं जीर्णवनतो गृहीत्वा एकस्मै कुमाराय समर्पित: । अन्ये कुमारास्तं दृष्ट्वा मृगबालकेभ्य:स्पृहयालवों जाता: ।
चौथे दिन सभा में बैठे हुए राजा ने उसी प्रकार यमदण्ड से पूछा-रम यमदण्ड तूने चोर देखा ।
उसने कहा - मैंने तो कहीं नहीं देखा । राजा ने फिर कहा - इतना समय क्यों लगा? यमदण्ड ने कहा - राजन्! गाँव के बाहर एक मार्ग में

एक पथिक हरिणी की कथा कह रहा था । वह कथा मैंने सावधान होकर सुनी । इसलिए बहुत समय लग गया है । राजा ने कहा - वह कथा मेरे निरूपण करने के योग्य है । यमदण्ड ने कहा - अच्छी बात है, सुनिये ।

चारों दिशाओं में वर्तमान तालाब से युक्त और अनेक पत्तों वाले सीधे वृक्षों के समूह से विस्तृत एक उत्तम वन में तालाब के तट पर कोई हरिणी रहती थी । वह बच्चों के साथ वन की अकृत्रिम भूमि में तृणादि का भक्षण कर तालाबों में पानी पीकर सुख से समय व्यतीत करती थी । उस वन के निकटवर्ती नगर के राजा अरिमर्दन के बहुत पुत्र थे । किसी शिकारी ने एक मृग का बच्चा पकड़कर एक कुमार के लिए दिया । उसे देख अन्य कुमार भी मृग के बच्चों के लिए इच्छुक हो गये ।

नहि दुष्करमस्तीह किंचिदध्यवसायिनाम्ङ्क ।

उद्यम:, साहसो धैर्यं बलं बुद्धिर्पराक्रम: ।

षडैते यस्य विद्यन्ते यस्य देवोऽपि शङ्कते ॥107॥

पश्चात्तैरेकत्र संभूय राज्ञोऽग्रे कथितम्-हे स्वामिन्! अस्माकं मृगशावकान् समर्पय । ततो राजा व्याधानाकार्य पृष्ट:-भो भो व्याधा: कथ्यतां कस्मिन् वने बहवों मृगशावा: प्राप्यन्ते? केनचित्कथितम्-हे देव! जीर्णोद्याने प्रभूता- प्राप्यन्ते । तच्छ्रुत्वा राजा स्वयमेव व्याधवेषं विधाय तत्र गत: । तद्वनं विषमं दृष्ट्वा मृगपोतग्रहणार्थं बुद्धिर्विहिता ।

चतुर्दिग्वर्ति तडागपालीं प्रस्फोट्य जलमेकीकृतम् । परित: सर्वत्र पाशरचना कारयिता, जीर्णशीर्णपर्णे ज्वलन: प्रज्वलित: । राज्ञा कथितम्-भो व्याधा एवं वनमवगाहनीयं यथामी मृगपोता बहव: पाशेषु पतितास्तैस्तथैव धृताश्च भवेयु: क्रीडार्थम् । व्याधैस्तथैव कृतम्-तद् दृष्ट्वैकेनापि पण्डितेनोक्तम्-

पश्चात् उन्होंने एकत्रित होकर राजा के आगे कहा - हे स्वामिन्! हम लोगों को मृग के बच्चे दीजिए । तदनन्तर राजा ने शिकारियों को बुलाकर पूछा-हे हे शिकारियो! कहो किस वन में मृगों के बहुत बच्चे मिलते हैं? किसी शिकारी ने कहा - हे देव! जीर्णोद्यान में बहुत मिलते हैं । यह सुनकर राजा स्वयं ही शिकारी का वेष रखकर वहाँ गया । उस वन को विषम देखकर उसने मृगों के बच्चे पकड़ने के लिए बुद्धि की । चारों दिशाओं में वर्तमान तालाबों का बाँध फोड़कर जल इकठ्ठा कर लिया । सब ओर जाल बिछवा दिया और जीर्णशीर्ण पत्तों में आग लगवा दी । पश्चात् राजा ने कहा - हे शिकारियो! वन में इस तरह प्रवेश करना चाहिए कि जिससे मृगों के बहुत से बच्चे जालों में फँस जावे और उन फँसे हुए बच्चों को क्रीड़ा के लिए पकड़ लिया जावे । शिकारियों ने वैसा ही किया । यह देख एक विद्वान् ने कहा -

सव्वजलं विसताईदं सव्वारण्यं च कूट संछण्णम् ।

राया च सयं वाहो तत्थ सिदाणं कुदो वासो ॥108॥

समस्त जाल चारों ओर फैला दिया है, समस्त वन जालों से व्याप्त है और राजा स्वयं शिकारी बना हुआ है तब उस वन में रहने वालों का निवास कैसे हो सकता है? ॥108॥

तथा च -

और भी कहा है -

रज्ज्वा दिश: प्रवितता: सलिलं विषेण-

पाशैर्मही हुतभुजाकुलितं वनान्तम् ।

व्याधा: पदान्यनुसरन्ति गृहीतचापा:

कं देशमाश्रयतु डिम्भवती कुरङ्गी ॥109॥

दिशाएँ रस्सियों से विस्तृत हैं, पानी विष से सहित है, पृथ्वी जालों से आच्छादित है, वन का मध्य भाग अग्नि से युक्त है और शिकारी धनुष लेकर पीछे-पीछे चल रहे हैं, अत: बच्चों से सहित हरिणी किस देश का आश्रय करे-कहाँ जावे? ॥109॥

एवं सूचिताभिप्रायं राजा न जानाति, इत्याख्यानं निरूप्य निज मन्दिरं गतो यमदण्ड: ।

इस प्रकार सूचित अभिप्राय को राजा नहीं जानता है । यह कथा कहकर यमदण्ड अपने घर चला गया ।

॥ इति चतुर्थ दिन कथा॥

॥ इस प्रकार चतुर्थ दिन की कथा पूर्ण हुई॥

## पञ्चम दिन की कथा

पञ्चम दिन की कथा

कथा :

पञ्चमदिन कथा

पञ्चमदिने आस्थानस्थितेन राज्ञा तथैव

पृष्ट: - रे यमदण्ड चोरो दृष्ट:? तेनोक्तम्-हे देव! न कुत्रापि दृष्टोमया ।

राज्ञोक्तम् - किमर्थं बृहद्वेला लग्ना । तेनोक्तं ग्रामाद् बहिरेकेन कथा कथिता सा मया श्रुता,अतएव महती वेला लग्ना । राज्ञोक्तं सा कथा ममाग्रे निरूपणीया । तेनोक्तम् तथास्तु । तद्यथा

नेपाल देशे पाटली पुरी, राजा वसुन्धर: राज्ञी वसुमति-स राजा कवित्वविषये बलीयान् । राजमन्त्री भारतीभूषण: भार्या देवकी, सोऽपि मन्त्री शीघ्र-कवित्वकरणेन लोक-मध्ये प्रसिद्ध: । एकदास्थानमध्ये विद्वद्-गोठीषु राजकवित्वं मन्त्रिणा बहुधा दूषितम्, कुपितेन राज्ञा मन्त्रिणं बन्धयित्वा रात्रौ गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्त:, प्राक्तन- दैववशाद् बालुकोपरि पतित: तथा चोक्तम्-

पञ्चम दिन की कथा

पाँचवें दिन सभा में बैठे हुए राजा ने उसी प्रकार पूछा-रे यमदण्ड! चोर दिखा है? उसने कहा - हे देव मुझे कहीं नहीं दिखा ।

राजा ने कहा - फिर इतना अधिक काल क्यों लगा?

उसने कहा - ग्राम के बाहर एक कथाकार कथा कह रहा था, मैं उसे सुनने लगा अतएव बहुत समय लग गया ।

राजा ने कहा - वह कथा मेरे आगे कही जाये । उसने कहा "तथास्तु" । कहता हूँ सुनो -

नेपाल देश में पाटली नाम की नगरी है, उसके राजा का नाम वसुन्धर और रानी का नाम वसुमति था । वह राजा कवित्व के विषय में- कविता करने में बहुत बलिठ था । राजमन्त्री का नाम भारतीभूषण था और उसकी स्त्री का नाम देवकी था । वह मन्त्री आशुकवि होने से लोगों के बीच बहुत प्रसिद्ध था ।

एक दिन सभा के बीच चलने वाली विद्वत्गोठी में मन्त्री ने राजा की कविता को बहुत दूषित कर दिया-उसमें अनेक दोष निकालने लगा, जिससे राजा ने कुपित होकर मंत्री को बएधवाकर रात के समय गंगा के प्रवाह में गिरवा दिया परन्तु पूर्व पुण्य के उदय से बालुका के ऊपर पड़ा । जैसा कि कहा है-

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।

सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥110॥

वन में, रण में, शत्रु, जल और अग्नि के मध्य में, महासागर में, पर्वत के शिखर पर सोये हुए प्रमत्त अथवा विषमरूप में स्थित मनुष्य की उसके पूर्वकृत पुण्य ही रक्षा करते हैं ॥110॥

भीमं वनं तस्य पुरं प्रधानं, सर्वो जन: सुजनतामुपयाति तस्य ।

कृत्स्ना च भू र्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा, यस्यास्ति पूर्वं सुकृतं विपुलं नरस्य ॥111॥

जिस मनुष्य के पास पूर्व पर्याय में किया हुआ, विशाल पुण्य होता है उसके लिए भयंकर वन प्रधान नगर बन जाता है, सभी मनुष्य उसके लिए सज्जनता को प्राप्त होते हैं अथवा सभी लोग उसके स्वजन-आत्मीय जन हो जाते हैं और समस्त पृथ्वी उसके लिए उत्तम निधि तथा रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है ॥111॥

बालुकोपरि स्थितेन मन्त्रिणा चिन्तितम्- " कविं कविर्न सहते" यत् लोक मध्ये प्रसिद्धम् एतत् सत्यम् यत:-

बालुका के ऊपर स्थित मन्त्री ने विचार किया । कवि-कवि को सहन नहीं करता है, यह जो लोक में प्रसिद्धि है वह सत्य है । क्योंकि -

न सहंति इक्कयिक्कं न विणा चिट्ठिंति इक्कमिक्केण ।

रासहवसह तुरंगा जूयारा पंडिया डिंभा ॥112॥

गधा, बैल, घोड़ा, जुआरी, पण्डित और बालक में एक-एक को सहन नहीं करते और एक-एक के बिना रहते भी नहीं हैं ॥112॥

तथा चोक्तम्-

जैसा कि कहा है-
शिष्टाय दुष्टो विरताय कामी, निसर्गतो जागरकाय चौर: ।
धर्मार्थिने कुप्यति पापवृत्ति:, शूराय भीरु: कवयेऽकविश्च ॥113॥
दुष्ट मनुष्य शिष्ट मनुष्य से, कामी व्रती से, चोर स्वभावत: जागने वाले से, पापी धर्मात्मा से, भीरु शूरवीर से और अकवि कवि से क्रोध करता है ॥113॥
पुनरपि चोक्तम्-
फिर भी कहा है-
सूपकारं कविं वैद्य विप्रो विप्रं नटों नटम् ।
राजा राजानमालोक्य श्ववद् घुरघुरायते ॥114॥
रसोइया-रसोइया को, वैद्य-वैद्य को, ब्राह्मण-ब्राह्मण को, नट-नट को और राजा-राजा को देखकर कुत्ते के समान घुरघुराता है ॥114॥
प्रकुप्यति नर: कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥115॥
कामी मनुष्य ब्रह्मचारी से उस प्रकार अत्यधिक कोप करता है, जिस प्रकार कि रात्रि में घूमने वाला चोर जागने वाले मनुष्य से कोप करता है ॥115॥
इतो नद्या: पूरं समायातं, जलेन प्लवमानमात्मानं दृष्ट्वा मन्त्रिणा पद्यमेकमभाणि । तथा च-
इतने में नदी का पूर आ गया । पानी में उतराते हुए अपने आपको देखकर मन्त्री ने एक श्लोक कहा -
जेण वोयाइ रोहंति जेण तिप्पंति पायपा: ।
तस्स मज्झे मरिस्सामि जादं सरणदो भयं ॥116॥
जैसे-जिस जल के द्वारा बीज उत्पन्न होते हैं और जिस जल से वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उस जल के बीच में मरँगा । अहो! शरण देने वाले से भय उत्पन्न हो गया ॥116॥
पुनरपि अधो वहमानं जलं दृष्ट्वान्योक्त्या पद्यमेकमुच्चै: स्वरेणाभाणीत् शिष्टशिरोमणिर्मन्त्रीश्वर: । तद्यथा-
फिर भी नीचे की ओर बहते हुए-जल को देखकर सज्जनों में श्रेठ मन्त्री ने अन्योक्ति के रूप में उच्च स्वर से एक पद्य पढ़ा । जैसे-
शैत्यं नाम गुणस्तथैव तदनु स्वाभाविकी स्वच्छता
किं ब्रूम: शुचितां भवन्ति शुचय: संगेन यस्यापरे ।
किं वान्यत्पदमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवितं जीविनां
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छति पय: कस्त्वां निरोद्धु: क्षम: ॥117॥
हे जल! तुम में शीतलता नाम का प्रसिद्ध गुण है फिर स्वाभाविक स्वच्छता है, तुम्हारी पवित्रता को क्या कहूँ क्योंकि जिसके संग से दूसरे पदार्थ शुचिता को प्राप्त होते हैं अथवा इससे तुम्हारी अधिक स्तुति का स्थान और क्या हो सकता है कि तुम प्राणियों के जीवन हो-जीवन की रक्षा करने वाले हो, फिर भी तुम नीच मार्ग से जाते हो तो-तुम्हें रोकने के लिए कौन समर्थ है? यहाँ मन्त्री ने पानी के व्याज से राजा से कहा है कि आप स्वयं उत्कृष्ट होकर भी नीच मार्ग से चल रहे हैं असहनशीलता के कारण मंत्री का घात कर रहे हैं तो तुम्हें कौन रोक सकता है? ॥117॥
राज्ञ: प्रच्छन्नगुप्तचरेणेदं श्रुतं, शीघ्रं च गत्वा राज्ञोऽग्रे विज्ञप्तम् । ततो राज्ञा मनसि चिन्तितम्-अहो! मया विरूपकं कृतम्, यन्मन्त्री विडम्बित:, सत्पुरुषेणाश्रितानां गुणदोषचिन्ता न करणीया । तथा चोक्तम् -
राजा के छिपे गुप्तचर ने यह श्लोक सुना और उसने शीघ्र ही जाकर राजा के आगे कह दिया । तदनन्तर राजा ने मन में विचार किया - अहो! मैंने बुरा किया जो मन्त्री को तिरस्कृत किया । सत्पुरुष को अपने आश्रित जनों के गुण और दोषों की चिन्ता नहीं करना चाहिए । जैसा कि कहा है-
चन्द्र: क्षयी प्रकृतिवक्रतनुर्जडात्मा

दोषाकर: स्फुरति मित्रविपत्तिकाले ।
मूध्र्ना तथापि विधृत: परमेश्वरेण
नह्याश्रितेषु महतां गुणदोषचिन्ता ॥118॥
चन्द्रमा क्षीण हो जाता है स्वभाव से वक्र शरीर वाला है जड़ात्मा-मूर्ख (पक्ष में जल रूप-शीतल) है, दोषाकार-दोषों की खान अथवा रात्रि को करने वाला है और मित्र की विपत्ति के समय (पक्ष में सूर्यास्त काल में) चमकता है फिर भी शंकरजी उसे अपने मस्तक से धारण करते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि आश्रित मनुष्यों में महापुरुषों को गुण और दोष का विचार नहीं होता ॥118॥
एव विचार्य स मन्त्री झटिति प्रवाहजलान्नि:सारित: पुन: पूजितो मन्त्रिपदे स्थापितश्च । एवं सूचिताभिप्रायं राजा न जानाति । इत्याख्यानं निरूप्य निजगृहं गतो (तन्मार:) यमदण्ड ।
ऐसा विचार कर राजा ने उस मंत्री को शीघ्र ही पूर के जल से निकलवा लिया, उसकी पूजा की तथा मन्त्री के पद पर रख लिया । इस प्रकार सूचित अभिप्राय को राजा नहीं समझ पाया । यह कथा कहकर यमदण्ड कोतवाल अपने घर चला गया ।
॥इस प्रकार पञ्चम दिन की कथा पूर्ण हुई॥
॥इति पञ्चमदिन कथा॥

## षठ दिन की कथा

षठ दिन की कथा
कथा :
षठदिन कथा
षठदिने सभास्थितेन राज्ञा पृष्ट:-रे यमदण्ड चौरो दृष्ट:? तेनोक्तं हे देव! न कुत्रापि दृष्ट:
राज्ञोक्तम् - तर्हि किमर्थं बह्वीवेला लग्ना
तेनोक्तम्-आपणमध्ये केनचिद्वनपालेन कथा कथिता, सा मया श्रुता, अतएव महती वेला लग्ना ।
राज्ञोक्तम् - सा ममाग्रे निरूपणीया, तेनोक्तम्-तथास्तु, श्रूयतां दत्तावधानै: श्रीपूज्यै: । तद्यथा-अस्ति कुरुजाङ्गलदेशे नागपुरनगरे राजा सुभद्र:; राज्ञीसुभद्रया सह राजा सुखेन राज्यं करोति । तस्य राज्ञो बहवो विनोदवानरा: सन्ति । तेषां राजमान्यनामुपद्रवं कुर्वतामपि कोऽपि किमपि न कथयति राजभयात् । ते सर्वेऽत्र नगरमध्ये निर्भया विचरन्ति । एकदा तेन राज्ञा क्रीडार्थं नूतनमुद्यानं कारितम् तदपूर्वं संजातम् तत्कथम्?
छठवें दिन सभा में स्थित राजा ने पूछा - रे यमदण्ड! चोर दिखा?
उसने कहा - हे देव । कहीं भी नहीं दिखा ।
राजा ने कहा - तो इतना अधिक समय किसलिए लगा?
उसने कहा - बाजार के बीच किसी वनपाल ने कथा कही थी, वह मैंने सुनी थी इसीलिए बहुत समय लग गया ।
राजा ने कहा - वह कथा मेरे आगे कही जानी चाहिए ।
यमदण्ड ने कहा - तथास्तु-ऐसा ही हो, पूज्यवर सावधान होकर वह कथा सुनिये, कथा इस प्रकार हैं-
कुरुजांगल देश के नागपुर नगर में राजा सुभद्र रहता था, उसकी रानी का नाम सुभद्रा था । इस प्रकार राजा सुख से राज्य करता था । उस राजा के बहुत से क्रीड़ा करने वाले वानर थे । वे राजमान्य वानर उपद्रव भी करते थे परन्तु राजा के भय से कोई भी कुछ नहीं कहता था । वे सब वानर इस नगर के बीच निर्भय होकर विचरते थे ।
एक समय उस राजा ने क्रीड़ा के लिए नवीन बगीचा बनवाया । वह बगीचा अपूर्व बन गया क्योंकि-
नाना - पाक - प्रकार - प्रकटितकदलीजात - चूतेक्षु - कक्षा
निर्यन्निर्यास - सार - प्रसररससरित्क्रोंड - सक्रीडहंसा: ।
कीडच्चक्राङ्गचक्रा: - परिमल - कुलित - भ्रान्तभृङ्गी - प्रसङ्गा:
पञ्चेषो: केलिरङ्गा पतत्किलिकिलि - ध्वानकान्ता वनान्ता: ॥119॥

उसमें ऐसे वन खण्ड थे कि जिनमें नाना प्रकार के परिपाक से प्रकटित केलों के अनेक भेद, अनेक आम और अनेक प्रकार के इक्षुओं की कक्षाएँ थीं, निकलते हुए श्रेठ निर्यास समूह के रस की नदियों के बीच हंस क्रीड़ा कर रहे थे, हंस और चक्रवाक पक्षी जिनमें क्रीड़ा कर रहे थे, सुगन्धि से व्याकुल भ्रमरियों के समूह जिनमें इधर-उधर घूम रहे थे, जिनमें कामदेव की क्रीड़ा के मनोहर प्रदेश थे और जो पक्षियों की किलिकिलि ध्वनि से सुन्दर थे ॥119॥

आम्र-जम्बू-निम्ब-कदम्ब-सरल-तरल-दल-ताल-तमाल-हिन्ताल-मुख्यवृक्ष सहिते तत्र वनेऽन्यस्मात् पर्वताद् वनाद्वागत्य मर्कटा: तालवृक्षसुरां पीत्वोद्यानस्योपद्रवं कुर्वन्ति, उन्मत्ता वनपालेभ्योऽपि न बिभ्यति । तथा चोक्तम्-

आम, जामुन, नींबू, कदम्ब, देवदारु, पीपल, ताल, तमाल और हिन्ताल के मुख्य वृक्षों से सहित उस वन में अन्य पर्वत अथवा अन्य वन से आकर वानर ताड़ वृक्ष की मदिरा पीकर उपद्रव करते थे । वे उन्मत्त वानर वनपालों से नहीं डरते थे । जैसा कि कहा है -

कपिरपि च कापिशयेन परिपोतो वृश्चिकेन संदष्ट: ।

सोऽपि पिशाचगृहीत: किं बूरते चेष्टितं तस्य ॥120॥

ऐसा वानर हो कि जिसने अत्यधिक मदिरा पी ली है, ऊपर से जिसे बिच्छू ने काटा है और उतने पर भी जिसे पिशाच-भूत लग रहा है तो उसकी चेष्टा का क्या कहना है? ॥120॥

वनपालेन महावने मर्कटोपद्रवं दृष्ट्वा राज्ञोऽग्रे निरूपितम् हे राजन्! मर्कटैर्वनं विध्वस्तम् । एतद्वनपालकवचनं श्रुत्वा राज्ञा, वनरक्षणाय स्वमन्दिरस्थिता विनोदवृद्धवानरा: प्रस्थापिता: । ते मर्कटास्तत्र गत्वा स्वजातीयै: सह संमिलिता मदिरामदविह्वला विप्लवं तन्वन्ति । वनपालेन मनस्युक्तम्-मूलविनष्टं कार्यमिति वनरक्षणे मर्कटा: । वनपालकेन भणितं स्वमनसि-विवेक-चक्षुभ्र्यां विना न्याय मार्गान्धकारपतने कोऽपराध:? वनस्य दशां दृष्ट्वा वनपालेनेति पठितम् ।

एवं सूचिताभिप्रायं राजा न जानाति, इत्याख्यानं निरूप्य निजमन्दिरं गतो यमदण्ड: ।

वनपाल ने महावन में वानरों का उपद्रव देख राजा के आगे कहा - हे राजन्! वानरों ने महावन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है । वनपाल के यह वचन सुन राजा ने वन की रक्षा के लिए अपने भवन में रहने वाले वृद्ध क्रीड़ा वानर भेज दिये । वे वानर वहाँ जाकर अपनी जाति के वानरों से मिल गये और मदिरा के मद से विह्वल होकर उपद्रव करने लगे । वनपाल ने मन में कहा कार्य, जड़ से ही नष्ट हो गया है क्योंकि वन की रक्षा में वानर नियुक्त किये गये हैं । वनपाल ने अपने मन में यह भी कहा कि - विवेक और नेत्र के बिना यदि अन्यथा कार्यरूपी अन्धकार में यदि कोई पड़ता है तो इसमें क्या अपराध है? वन की अवस्था देख वनपाल ने यह पद्य पढ़ा -

एकं हि चक्षूरमलं सहजो विवेक-स्तद्वद्भिरेव गमनं सहजं द्वितीयम् ।

पुंसो न यस्य तदिह द्वयमस्य सोऽन्धस्तस्यापमार्ग-चलने खलु कोऽपराध: ॥121॥

मनुष्य का एक निर्मल चक्षु तो सहज विवेक है और दूसरा जन्म से ही उत्पन्न नेत्र है । इन दोनों नेत्रों से युक्त मनुष्य का ही गमन होता है । जिस पुरुष के ये दोनों नेत्र नहीं हैं, उसके कुमार्ग में चलने में निश्चय से क्या अपराध है? कुछ भी नहीं ॥121॥

इस प्रकार सूचित अभिप्राय को राजा नहीं जान सका । यह कथा कहकर यमदण्ड अपने घर चला गया ।

॥ इति षठ दिन कथा॥

॥इस प्रकार षठ दिन की कथा हुई॥

## सप्तमदिन की कथा

सप्तमदिन की कथा

कथा :

सप्तमदिन कथा

सप्तमदिने आस्थानस्थितेन राज्ञा तथैव पृष्ट:-रे यमदण्ड चौरो दृष्ट: तेनोक्तं हे देव! न कुत्रापि दृष्ट: ।

राज्ञोक्तम्-किमर्थं बह्वी वेला लग्ना? तेनोक्तम्-केनचिद्वनपालेन चत्वरस्थाने कथा कथिता, सा मया श्रुता, अतएव वेला लग्ना, राज्ञोक्तम्-सा कथा ममाग्रे निरूपणीया । तेनोक्तम्-तथास्तु । तद्यथा- अवन्तिविषये उज्जयिनी नाम नगर्यस्ति । तत्र सुभद्रनामार्थवाहोऽस्ति । तस्य द्वे भार्ये । एकदा निजमातृहस्ते भार्याद्वयं समप्र्य व्यवहारार्थं सुमुहूर्ते परिवारेण सह नगरीबाह्ये प्रस्थानं कृतम् । इतस्तस्य माता दुश्चारिणी केनचिज्जारेण

सह गृहवाटिकामध्ये स्थिता । रात्रौ कार्यवशात् सुभद्र: स्वगृहमागत: । तेनागत्य भणितम्-भो मात:! कपाटमुद्धाटय । पुत्रवचनं श्रुत्वां कपाटमुद्धाट्योभौ पलाय्य भीतातुरौ गृहकोणे प्रविष्टौ । गृहमध्ये प्रविशता तेन निजमातृवस्त्रमेरण्ड वृक्षोपरि दृष्टम् । ततस्तेन मनस्युक्तम्-अहो इयं सप्ततिवर्षिका कामसेवां न त्यजति । अहो विचित्रमकरध्वजस्य माहात्म्यम्, यतो मृतमपि मारयति । तथा चोक्तम्-

सातवें दिन सभा में बैठे हुए राजा ने उसी प्रकार पूछा-रे यमदण्ड चोर दिखा? उसने कहा - देव! कहीं भी नहीं दिखा । राजा ने कहा - फिर इतना अधिक काल कैसे लगा?

उसने कहा - कोई वनपाल चौराहे पर कथा कह रहा था, मैं उसे सुनता रहा इसलिए समय लग गया ।

राजा ने कहा - वह कथा मेरे आगे कही जाने योग्य है ।

उसने कहा - ठीक है सुनिये-

अवन्ति देश में उज्जयिनी नाम की नगरी है । वहाँ सुभद्र नाम का सेठ रहता था । उसकी दो स्त्रियाँ थी । एक समय वह अपनी माता के हाथ में दोनों स्त्रियों को सौंपकर लेन-देन के लिए अच्छे मुहूर्त में नगरी के बाहर चला गया । इधर उसकी दुश्चरिता माता किसी जार के साथ घर के बगीचे के बीच स्थित थी । रात्रि में कार्यवश सुभद्र अपने घर आया । आकर उसने कहा - हे माता! किवाड़ खोलो पुत्र के वचन सुनकर किवाड़ खोलकर दोनों भागे और भागकर डरते हुए दोनों घर के कोने में घुस गये । घर के भीतर प्रवेश करते हुए सुभद्र ने अपनी माता के वस्त्र एरण्ड के वृक्ष पर देख लिए । तदनन्तर उसने मन में कहा - अहो । यह सत्तर वर्ष की है तो भी कामसेवन को नहीं छोड़ती है । अहो काम की महिमा बड़ी विचित्र है क्योंकि वह मरे हुए को भी मारता है । जैसा कि कहा है-

कृश: काण: खञ्ज: श्रवणरहित: पुच्छविकलो
व्रणी पूयोद्गीर्ण: कृमिकुलशतैरावृततनु: ।
क्षुधाक्षाम: क्षुण्ण: पिठरककपालार्पितगल:
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदन: ॥122॥

एक ऐसा कुत्ता जो दुबला है, काना है, लंगड़ा है, कानों से रहित है, पूँछ से विकल है, घावों से युक्त है, जिसके पीप निकल रही है, जिसका शरीर सैकड़ों कीड़ों से युक्त है, जो भूख से कृश है, पिटा हुआ है और जिसके गले में फू टे घड़े का घाँघर लटक रहा है, कुत्ती के पीछे लग रहा है । अत: काम मरे हुए को भी मार रहा है ॥122॥

अपूर्वोऽयं धनुर्वेदो मन्मथस्य महात्मन: ।
शरीरमक्षतं कृत्वा भिनक्त्यन्तर्गतं मन: ॥123॥

महात्मा कामदेव का धनुर्वेद अपूर्व ही है क्योंकि शरीर को तो अक्षत-अखण्ड रखता है परन्तु भीतर स्थित मन को भेद देता है-खण्डित कर देता है ॥123॥

अहो स्त्रीचरित्रं न केनापि ज्ञातुं शक्यते लोकोक्तिरियं सत्या । उक्तम् च-

अहो स्त्री का चरित्र किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता, यह जो लोकोक्ति है, वह सत्य है । कहा भी है-

गहचरियं देवचरियं ताराचरियं च राहुचरियं च ।
जाणंति सयलचरियं महिलाचरियं ण जाणंति ॥124॥

ग्रह का चरित्र, देव का चरित्र, तारा का चरित्र और राहु का चरित्र इस प्रकार सबके चरित्र को लोग जानते हैं, परन्तु स्त्री के चरित्र को नहीं जानते ॥124॥

बहिर्वृत्त्या सुजनभावं प्रकटयति । तथा चोक्तम्-

स्त्री बाह्य वृत्ति-बाहरी चेष्टा से अपनी सज्जनता प्रकट करती है । जैसा कि कहा है-

चक्रवाकसमवृत्तजीवितं वल्लभं पितरमात्मजं गुरुम् ।
मृत्युमानयति दुष्टकामिनी कोपितान्यमनुजेषु का कथा ॥125॥

चक्रवाक पक्षी के समान वृत्ति वाला जिसका जीवन है **अर्थ**ात् जो पृथक् होने पर दु:खी होता है ऐसे वल्लभ-प्रिय पति को, पुत्र को और गुरु को भी दुष्ट स्त्री क्रुद्ध होने पर मृत्यु को प्राप्त करा देती है फिर अन्य पुरुषों की बात ही क्या है? ॥125॥

आलिङ्गत्यन्यमन्यं रमयति वचसा वीक्षते चान्यमन्यं-
रोदित्यन्यस्य हेतो: कथयति शपथैरन्यमन्यं वृणीते ।
शेते चान्येन सार्धं शयनमुपगता चिन्व्यत्यन्यमन्यं-
स्त्री वामेयं प्रसिद्धा जगति बहुमता केन धृष्टेन सृष्टा ॥126॥

स्त्री किसी अन्य पुरुष का आलिंगन करती है, वचन से किसी अन्य को रमण कराती है-बहलाती है, किसी अन्य को देखती है, किसी अन्य के कारण रोती है, किसी अन्य को शपथों द्वारा अभिप्राय प्रकट करती है, किसी को वरती है किसी अन्य के साथ शयन करती है, शयन को प्राप्त होकर भी किसी का चिन्तन करती है, यह वामा नाम से प्रसिद्ध है तथा जगत् में बहुत प्रिय है, न जाने यह स्त्री किस धृष्ट के द्वारा बनायी गयी है ॥126॥

मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितं
स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावुपमितौ ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिर:स्पर्धिजघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥127॥

स्त्री का मुख यद्यपि कफ का घर है तो भी चन्द्रमा के साथ इसकी तुलना करते हैं, स्तन मांस की गाँठ हैं तो भी इन्हें सुवर्णकलश की उपमा दी जाती है, जघन भाग झरते हुए मूत्र से गीला है फिर भी उसे गजराज के गंडस्थल के साथ स्पर्धा करने वाला कहा जाता है और रूप बार-बार निन्दनीय है फिर भी कवि लोग उसे बढ़ावा देते हैं ॥127॥

यत्रेयं वार्धकेऽत्येवं करोति तत्र तरुण्योर्मम भार्ययो: का वार्ता? तथा चोक्तम्-

जबकि यह वृद्धावस्था में भी ऐसा करती है, तब मेरी जवान स्त्रियों की बात ही क्या है । जैसा कि कहा है-

वायुना यत्र नीयन्ते कुञ्जरा: षष्टिहायना: ।
गावस्तत्र न गण्यन्ते शशकेषु च का कथा ॥128॥

जहाँ वायु के द्वारा साठ वर्ष के हाथी भी उड़ा दिये जाते हैं वहाँ गायों की क्या गिनती है? और खरगोशों की क्या कथा है? ॥128॥

एवं मनसि विचार्य भार्ययो: शिक्षां प्रयच्छति । तद्यथा-

इस प्रकार मन में विचारकर दोनों स्त्रियों को शिक्षा देता है ।

हायिदी हराइ सुणेदो दो दीसंति वंसपत्ताई ।
अच्चा भणामि भणिए तुम्हाणाय पिण्डरा पिट्टी ॥129॥
मूलविणठ्ठा वल्ली जं जाणह तं करेहु सुण्णावो ।
अंवाए पंगुरणं दिठ्ठ एरंड मूलम्हि ॥130॥

हृदय को हरण करने वाली मेरी बात सुनों । तुम दोंनों वंश चलाने वाले पुत्र को देने वाली दिखती हों । यथार्थ कहता हूँ । कहिए तुम्हारे ये पुत्र-पुत्री नहीं क्योंकि जैसे जड़ नष्ट होंने से लता की जैसी दशा होती है **अर्थ**ात् लता दूषित हों सूख जाती है । उसी प्रकार तुम अच्छी तरह सुनकर कहों, क्योंकि जब अम्मा के अधोंवस्त्र एरण्ड के नीचे पड़े मिले हैं अर्थात् जहाँ तुम्हारी बूढ़ी सास दूषित हों वहाँ जवान बहुएँ सुरक्षित कैसे रह सकती हैं, ऐसी शंका मन में कर सुभद्र सेठ ने अपनी पत्नियों से कहा ॥129-130॥

एवं हि सूचितमभिप्रायं राजा न जानाति, कदाग्रहग्रस्तत्वान्निर्विवेकत्वाच्च यस्य हि विवेकचक्षुरमलं न, तस्यान्यायमार्गान्धकारपतने कोऽपराध:? इत्याख्यानं निरूप्य निजगृहं गतो यमदण्ड: ।

इस प्रकार सूचित अभिप्राय को राजा नहीं जानता है क्योंकि वह दुराग्रह से ग्रस्त तथा निर्विवेक था । जिसके पास विवेकरूपी निर्मल चक्षु नहीं है, उसका अन्याय मार्गरूप अन्धकार में यदि पतन होता है तो उसका क्या अपराध है? यह कथा कहकर यमदण्ड अपने घर चला गया ।

॥ इति सप्तमदिनकथा॥

॥इस प्रकार सप्तमदिन की कथा पूर्ण हुई॥

## अष्टम दिन वार्ता

अष्टम दिन वार्ता

कथा :

अष्टमदिन वार्ता

अष्टमदिने आस्थानोपविष्टेन क्रोधाग्नि-देदीप्यमानेन राज्ञा यमदण्ड: पृष्ट:-रे यमदण्ड! चोरो दृष्ट:? तेनोक्तम्-हे देव! न कुत्रापि दृष्ट: । ततो कुपितेन राज्ञा समस्त-महाजनमाकार्य भणितम्-भो लोका: मम दोषो नास्ति । अनेन धूर्तेन सप्तदिनेषु कथाकथनेन प्रतारितोऽहम् । इदानीं चौरं वस्तु चासौ नार्पयिष्यति चेदेनं शतखण्डं कृत्वा दिग्वधूनां बलिं निश्चितं दास्यामि । एतद्राज्ञो वचनं श्रुत्वा महाजनेन यमदण्ड: पृष्ट: भो यमदण्ड त्वया स्तेन स्तेनाहृतं वस्तु स्तेनाङ्कवा दृष्टम् । तदा यमदण्डेनाभाणि-गृहाण, यज्ञोपवीतं पादुका मुद्रिकादिकमानीय सभाग्रे निधाय भणितम्-भो न्यायवेदिनो महाजना: । तस्कराङ्के लब्धे तस्करस्य को निग्रह:? राजकुमारादिसभासदैर्भणितम्-शूलिकारोपणां वा निष्कासनं क्रियते । यमदण्डेनोक्तम्- अत्रार्थे निश्चयोऽस्ति वा नास्ति । तैरुक्तम्-यदि राजापि चौरो भविष्यति तदा तस्य निग्रहं करिष्यामोऽन्यस्य का वार्ता? अत्रार्थेऽस्माकं शपथ एव । एवं सभासदां निश्चयं मत्वा यमदण्डेन भणितम्-भो न्यायवेदिनो महाजना: । इदं वस्तु, एते चौरा: (पश्यतोहरा): । यथा भवतां मनसि रोचते तथा कुर्वन्तु इत्येवं निरूप्य पद्यमेकमभाणि तद्यथा-

अष्टमदिन वार्ता

आठवें दिन सभा में बैठे हुए तथा क्रोधरूपी अग्नि से देदीप्यमान राजा ने यमदण्ड से पूछा - रे यमदण्ड चोर देखा?

उसने कहा - हे देव! कहीं भी नहीं दिखा ।

तब क्रोध से युक्त राजा ने सब महाजनों को बुलाकर कहा - हे महाजनों । मेरा दोष नहीं है । यह धूर्त सात दिनों में कथाएँ कहकर मुझे धोखा देता रहा है । अब यदि चोर और चुराई वस्तुओं को नहीं देगा तो मैं इसके सौ टुकड़े कर दिशारूपी स्त्रियों को निश्चित ही बलि प्रदान कर दूँगा ।

राजा के इस वचन को सुनकर महाजनों ने यमदण्ड से पूछा - भो यमदण्ड! तुमने चोर, उसके द्वारा चुराई हुई वस्तुएँ अथवा चोर का कोई अंग देखा है ।

तब यमदण्ड ने कहा - लीजिए यह कहकर उसने यज्ञोपवीत पादुका और मुद्रिका आदि को लाकर सभा के आगे रखते हुए कहा - हे न्याय के जानने वाले महाजनों । यदि चोर का कोई अंग मिल जावे तो चोर को क्या दण्ड दिया जायेगा?

राजकुमारादि सभासदों ने कहा - शूलारोपण अथवा देश निकाला किया जायेगा ।

यमदण्ड ने कहा - इस विषय में दृढ़ता है या नहीं?

महाजनों ने कहा - यदि राजा भी चोर होगा तो, हम लोग उसको भी दण्ड करेंगे दूसरे की बात ही क्या है? इस विषय में हम लोगों की शपथ ही है ।

इस प्रकार सभासदों का निश्चय जानकर यमदण्ड ने कहा - हे न्याय के जानने वाले महाजनों! यह वस्तु है और ये चोर हैं । अब जैसा आप लोगों के मन में रुचे वह करो ।

ऐसा कहकर यमदण्ड ने एक पद्य कहा - जैसे -

जत्थ राया समं चौरो समंती स पुरोहितो ।
वणं वज्जह सव्वेवि जादं सरणदो भयं ॥131॥

जहाँ मन्त्री और पुरोहित से सहित राजा ही चोर है वहाँ रहने वाले सब लोगों को वन में चला जाना चाहिए क्योंकि शरण से ही भय उत्पन्न हो गया है ॥131॥

पुनरपि यमदण्डेनोक्तम् यद्यविचार्यं नरपतिं भवन्ती न त्यजन्ति तर्हि पुण्येन दुराकृता भवन्त इत्येवं ज्ञातव्यं भवद्भि: । तथा चोक्तम्-

यमदण्ड ने फिर से कहा कि - यदि आप लोग विचार किये बिना राजा को नहीं छोड़ते हैं तो आप लोग पुण्य से वञ्चित होंगे, यह सबको जान लेना चाहिए । जैसा कि कहा है-

मित्रं शत्रुगतं कलत्रमसतीं पुत्रं कुलध्वंसिनं-

मूर्खं मन्त्रिणमुत्सुकं नरपतिं वैद्यं प्रमादास्पदम् ।
देवं रागयुतं गुरं विषयिणं धर्मं दयावर्जितं-
यो वा न त्यजति प्रमोहवशत: स त्यज्यते श्रेयसा ॥132॥
शत्रु में मिले हुए मित्र को, व्यभिचारिणी स्त्री को, कुल को नष्ट करने वाले पुत्र को, राग सहित देव को, विषय सेवन करने वाले गुरु को और दया से रहित धर्म को जो प्रमोहवश नहीं छोड़ता है वह कल्याण के द्वारा छोड़ दिया जाता है ॥132॥
ततो महाजनेन पादुकाभ्यां राजा, चौर इति ज्ञातं, मुद्रिकया मन्त्री चौर इति ज्ञातं, यज्ञोपवीतेन पुरोहितश्चौर इति ज्ञातं । तत: सर्वै: सह पर्यालोंच्य पश्चात् राजानं निर्घाट्य राजपुत्रो राजपदे स्थापित:, मन्त्रिणं निर्घाट्य मन्त्रिपुत्रो स्थापित:, पुरोहितं निर्घाट्य पुरोहितपुत्र: पुरोहितपदे स्थापित: । त्रयाणां निर्गमनं समये लोकैर्भणितम्-अहो "विनाशकाले शरीरस्था बुद्धिरपि गच्छतीति" लोकोक्ति: सत्येयम् । तथोक्तम्-
तत्पश्चात् महाजनों ने खड़ाउओं से "राजा चोर है" ऐसा ज्ञात किया, मुद्रिका से "मन्त्री चोर है" ऐसा ज्ञात किया और यज्ञोपवीत से "पुरोहित चोर है" इस प्रकार जान लिया । तदनन्तर सबने एक साथ विचार कर राजा को पदच्युत कर उसके पुत्र को राज्य पद पर बैठाया, मन्त्री को निकाल कर उसके स्थान पर मन्त्री-पुत्र को मन्त्री का पद दिया और पुरोहित को हटाकर उसके पद पर पुरोहित के पुत्र को स्थापित किया । जब तीनों नगर से निकाले जा रहे थे तब लोगों ने कहा - अहो विनाश के समय शरीर में रहने वाली बुद्धि भी चली जाती है । यह जो लोकोक्ति है वह सत्य है । जैसा कि कहा गया है-
रामो हेममृगं न वेत्ति नहुषो याने पुनक्ति द्विजा-
न्विप्रस्यापि सवत्सधेनुहरणे जाता मतिश्चार्जुने ।
द्यूते भ्रातृचतुष्टयं च महिषीं धर्मात्मजो दत्तवान्
प्राय: सत्पुरुषो विनाशसमये बुद्ध्या परित्यज्यते ॥133॥
सोने का मृग नहीं होता है, ऐसा रामचन्द्रजी जानते थे, राजा नहुष ने ब्राह्मणों को यान में जुताया, अर्जुन ने ब्राह्मण, जमदग्नि ने गाय और बछड़े का हरण किया और धर्म-पुत्र युधिठिर ने चार भाईयों तथा द्रौपदी रानी को जुए में दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि प्राय: विनाश का अवसर आने पर सत्पुरुष बुद्धि के द्वारा छोड़ दिये जाते हैं ॥133॥
तथा च-
और भी कहा है -
रावणतणे कपाले अठोत्तरसो बुद्धि वसई ।
लंकाभंजनकाले इकइ बुद्धि न संपडी ॥134॥
यद्यपि रावण के कपाल में एक सौ आठ प्रकार की बुद्धि निवास करती थी तथापि लंका के विनाश काल में एक भी बुद्धि काम नहीं आयी ॥134॥
ततो निर्गमनसमये राज्ञोक्तम्-अहो मया चिन्तितं यमदण्डं मरयित्वानेनोपायेन सुखेन राज्यं क्रियेत् । अयं विपाक: कर्मणो मम मध्ये समागमिष्यतीति को जानीते? तथा चोक्तम्-
तदनन्तर नगर से निकलते समय राजा ने कहा - अहो । मैंने विचार किया था कि इस उपाय से यमदण्ड को मारकर सुख से राज्य किया जायेगा परन्तु कर्म का यह विपाक बीच में आ जायेगा, यह कौन जानता था? जैसा कि कहा है -
अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णा तरलित मनोभिर्जलनिधि: ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनि: ॥133॥
यह जल का अद्वितीय स्थान है तथा रत्नों की खान है, ऐसा मानकर प्यास से चंचल चित्त वाले हम लोगों ने इस जलनिधि समुद्र का आश्रय लिया था । इसके पास आये थे परन्तु यह कौन जानता था कि जिसमें मत्स्य तथा मगरमच्छ छटपटा रहे हैं, ऐसे इस समुद्र को

(अगस्त्य) ऋषि अपनी चुल्लु रूपी कोटर में रखकर पी जायेंगे ॥133॥
एवं सर्ववृत्तान्त: सुबुद्धिमन्त्रिणोदितोदयं राजानं प्रति निरूपित: । अतएव हे देव! केनापि सह विरोधो न कर्तव्य: । विरोधे सति स्वस्य नाश एव नान्यत् । तथा चोक्तम्-
यह सब वृत्तान्त सुबुद्धि मन्त्री ने राजा उदितोदय से कहा और अन्त में उसका सारांश प्रकट करते हुए कहा - इसलिए हे देव! किसी के साथ विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि विरोध होने पर अपना नाश ही होता है अन्य कुछ नहीं । जैसा कि कहा है -
पराभवो न कत्र्तव्यो यादृशे तादृशे जने ।
तेन टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृत: ॥136॥
जिस किसी का भी पराभव नहीं करना चाहिए क्योंकि एक टिड्डी ने समुद्र को व्याकुल कर दिया ॥136॥
एतत्सर्वमाख्यानं श्रुत्वोदितोंदयेन राज्ञोंक्तम्-भो सुबुद्धे । ततों निर्गमनसमये राज्ञा-मन्त्रि-पुरोहितौ प्रति भणितम्-अहो मया यमदण्डमनेनोपायेन मारयित्वा सुखेन राज्यं करिष्ये । एवं मनसि चिन्तितम्, अयं कर्मविपाको मध्ये समागमिष्यतीति को जानीते? तथा चोक्तम्-
यह सब कथा सुनकर उदितोदय राजा ने कहा - हे सुबुद्धे! नगर से निकलते समय राजा ने अपने मन्त्री और पुरोहित से कहा होगा - अहो मैं इस उपाय से यमदण्ड को मारकर सुख से राज्य करँगा । ऐसा उसने मन में विचार किया होगा परन्तु कर्म का यह विपाक बीच में ही आ जायेगा, यह कौन जानता था । जैसा कि कहा है -
निदाघे दाघार्त: प्रचुरतरतृष्णातरलित:
सर: पूर्णं दृष्ट्वा त्वरितमुपयात: करिवर: ।
तथा पङ्के मग्नस्तट-निकट-वर्तिन्यपि यथा ।
न नीरं नो तीरं द्वयमपि विनष्टं विधिवशात् ॥137॥
ग्रीष्म ऋतु में तीव्र गर्मी से पीड़ित और बहुत भारी प्यास से बेचैन किया गया एक गजराज लबालब भरे हुए सरोवर को देखकर शीघ्र ही समीप आया परन्तु तट के निकट विद्यमान कीचड़ में ऐसा फँसा कि न जल ही मिल पाया और न तट ही । कर्मवश दोनों ही नष्ट हो गये-प्राप्त होने से रह गया ॥137॥
यत् त्वया कथितं तत्सर्वमपि सत्यम् । वने गमने विरुद्धमवगते सति ममापि सुयोधनावस्था भविष्यत्येवात्र संदेहाभाव: ।
सुबुद्धिमन्त्रिणोक्तं - हे राजन् ? मन्त्र्यभावे राज्यनाश एव । स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री नष्ट-क्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्म: ।
हे सुबुद्धि मन्त्री! तुमने जो कहा है वह सभी सत्य है । वन के लिए जाने पर और उसकी विरुद्धता का ज्ञान होने पर मेरी भी सुयोधन जैसी अवस्था होगी इसमें संशय नहीं है ।
सुबुद्धि मन्त्री ने कहा - हे राजन्! मन्त्री के अभाव में राज्य का नाश ही होता है । जैसा कि कहा है -
विद्याफलं व्यसनिन: कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥138॥
अहंकारी मनुष्य का यश, विषम मनुष्य की मित्रता, क्रियाहीन का कुल, **अर्थ** कमाने में संलग्न मनुष्य का धर्म, व्यसनी का विद्याफल, कंजूस का सुख, प्रमत्त मंत्री से युक्त राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ॥138॥
अन्त:सारैरकुटिलै: सुस्थितै: सुपरीक्षितै: ।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तम्भभैरिव मन्दिरम् ॥139॥
भीतर से सुदृढ़ सीधे अच्छी तरह खड़े किये हुए और अच्छी तरह परीक्षित खम्भों के द्वारा जिस प्रकार महल धारण किया जाता है, उसी प्रकार भीतर से बलिठ छल रहित अच्छे पद पर स्थित और अच्छी तरह परीक्षित मन्त्रियों के द्वारा राज्य धारण किया जाता है ॥139॥
एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च हन्यते ।
सबन्धुराष्ट्रं राजानं हन्त्येको मन्त्रिविप्लव: ॥140॥
विषरस एक को मारता है और शस्त्र के द्वारा एक मारा जाता है परन्तु मन्त्री का विप्लव अकेला व भाईयों तथा राष्ट्‍ से सहित राजा को

नष्ट कर देता है ॥140॥

राज्ञोक्तम्-योऽनर्थकार्यं निवारयति स परमो हि मन्त्री । तथा चोक्तम्-

राजा ने कहा - जो निरर्थक कार्य को रोकता है वास्तव में वह उत्कृष्ट मन्त्री है । जैसा कि कहा है -

स्थितस्य कार्यस्य समुद्धरार्थ-मागामिनोऽर्थस्य च संभवार्थम् ।

अनर्थ-कार्यस्य विघातनार्थं यन्मन्त्रतेऽसौ परमो हि मन्त्री ॥141॥

जो चालू कार्य को आगे बढ़ाने के लिए आगामी कार्य की उत्पत्ति के लिए और अनर्थक कार्यों का विघात करने के लिए मन्त्रणा करता है, निश्चय से वही उत्कृष्ट मन्त्री है ॥141॥

सुबुद्धि मन्त्रिणोक्तम्-भो राजन् मन्त्रिणा स्वामिहितं कर्म कत्र्तव्यम् । राज्ञोक्तम् त्वमेव सत्पुरुषो लोके, त्वयि सति मदीयापकीर्ति दुर्गतिश्च गता । तथा चोक्तम्-

सुबुद्धि मन्त्री ने कहा - हे राजन्! मन्त्री को स्वामी का हित करने वाला कार्य करना चाहिए ।

राजा ने कहा - लोक में तुम्हीं सत्पुरुष हो, क्योंकि तुम्हारे रहते हुए ही मेरी अपकीर्ति और दुर्गति नष्ट हुई है । जैसा कि कहा है -

वारयति वर्तमानामापदमागामिनी च सत्सेवा ।

तृष्णां च हरति पीतं गाङ्गेयं दुर्गतिं वाम्भ: ॥142॥

सत्पुरुषों की सेवा वर्तमान तथा आगामिनी आपत्ति को उस प्रकार दूर करती है, जिस प्रकार पिया गया गंगाजल तृषा और दुर्गति-दोनों का दूर करता है ॥142॥

गुण जाई णिगुणस्स गोठई, धण जाई पाणिणी दिठ्ठी ।

तप जाई तरुणि नेसंगि, मतिपरा जाई णीचनेसंगि ॥143॥

निर्गुण मनुष्यों की गोठी से गुण नष्ट होता है, पापपूर्ण दृष्टि से धन चला जाता है, तरुण स्त्री की संगति से तप नष्ट हो जाता है और नीच मनुष्यों की संगति से उत्तम बुद्धि चली जाती है ॥143॥

त्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परम: सखा ।

त्वं मे माता गुरुत्वं मे सुबुद्धिदानत: पिता ॥144॥

तुम्हीं उत्कृष्ट बंधु हो, तुम्हीं परम मित्र हो, तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं मेरे गुरु हो और सुबुद्धि के देने से तुम्हीं मेरे पिता हो ॥144॥

इस तरह नाना प्रकार से मंत्री की स्तुति कर राजा ने कहा -

एवं नाना प्रकारैर्मन्त्रिणं स्तुत्वा राज्ञा कथितम्-भो मन्त्रिन् रात्रिनिर्गमनार्थं, विनोदार्थं च नगरमध्ये भ्रमणं क्रियते, तत्र किंचिदाश्चर्यं दृश्यते । यत:

हे मन्त्री! रात्रि निकालने तथा विनोद के लिए नगर के मध्य ही भ्रमण किया जाये, वहाँ भी कोई आश्चर्य दिखाई दे सकता है, क्योंकि

धर्मशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

इतरेषां मनुष्याणां निद्रया कलहेन च ॥145॥

बुद्धिमानों का काल धर्मशास्त्र के विनोद से व्यतीत होता है और अन्य मनुष्यों का काल निद्रा तथा कलह के द्वारा व्यतीत होता है ॥145॥

मन्त्रिणोक्तम् एवमस्तु । एवं पर्यालोच्यालक्ष्यभूतौ द्वौ चलितौ नगराभ्यन्तर आश्चर्यमवलोकयत: । एकस्मिन् प्रदेशे गतौ तत्र राज्ञा छायापुरुषों दृष्ट: तां मनुष्यछायां दृष्ट्वा राज्ञा भणितम्-भो मन्त्रिन्! कोऽयं दृश्यते? तेनोक्तम्-हे देव! अञ्जनगुटिकाप्रसिद्ध: सुवर्णखुरनाम चोरोऽयम् । अञ्जनबलेनादृश्य-तामङ्गीकृत्यसर्वजन- गृहाणि मुष्णाति । कोऽप्यस्य प्रतिकारं कर्तुं न समर्थ: ।

राज्ञोक्तम्-असौ साम्प्रतं य गच्छतीति ज्ञानार्थमनेन सह गन्तव्यम् । एवं पर्यालोच्य चौरपृठतो लग्नौ द्वौ । स चौर: क्रमेणार्हद्दास-श्रेष्ठि-गृहप्राकारस्योपरिस्थित-वटवृक्षस्योपरि अलक्ष्यीभूय स्थित: । राजा मन्त्री चालक्ष्यौ भूत्वा तद्वृक्षमूले स्थितौ । अस्मिन्प्रस्तावे अष्टोपवासिनार्हद्दास-श्रेष्ठिना स्वकीया अष्टौ भार्या: प्रति भणितम्-भो भार्या: अद्य नगरमध्ये पुरुषान्विहाय स्त्रिय: सर्वा अपि राजादेशेन वनक्रीडार्थं गता । भवत्योऽपि व्रजन्तु, अहं धर्म्यध्यानेन गृहे तिष्ठामि । अन्यथा आज्ञाभङ्गेन सर्पवत् विषमो राजा सर्वमनिष्टं करिष्यति । तथा चोक्तम्-

मन्त्री ने कहा - ऐसा हो । ऐसा विचार कर वे दोनों अलक्ष्य होकर-पहचान में न आ सके, इस प्रकार चले और नगर के भीतर आश्चर्य को देखने लगे-खोजने लगे । दोनों ही एक स्थान पर गये, वहाँ राजा ने एक छाया पुरुष देखा **अर्थ**ात् उसकी छाया तो पड़ रही थी परन्तु छाया वाला पुरुष नहीं दिख रहा था । उसे देख राजा ने कहा - हे मन्त्रीजी! यह क्या दिखायी देता है?

उसने कहा - हे देव! यह अंजनगुटिका को सिद्ध करने वाला सुवर्णखुर नाम का चोर है, अंजन के बल से यह अदृश्यता को प्राप्त होकर सब मनुष्यों को लूटता है, कोई भी इसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं है ।

राजा ने कहा - यह इस समय कहाँ जा रहा है? यह जानने के लिए इसके साथ चलना चाहिए ।

ऐसा विचार कर दोनों चोर के पीछे लग गये । वह चोर क्रम से अर्हद्दास श्रेठी के घर के कोट के ऊपर स्थित वटवृक्ष के ऊपर छिपकर बैठ गया । राजा और मन्त्री भी छिपकर उस वृक्ष के नीचे बैठ गये । इसी अवसर पर आठ उपवास करने वाले अर्हद्दास सेठ ने अपनी आठ स्त्रियों से कहा - हे पत्नियो! आज नगर के बीच पुरुषों को छोड़ सभी स्त्रियाँ राजा की आज्ञा से वन क्रीड़ा के लिए गयी

हैं । आप भी जाइये, मैं धर्मध्यान से घर में रहता हूँ, अन्यथा आज्ञा भग्न होने से साँप के समान विषम

राजा सब अनिष्ट कर देगा । जैसा कि कहा है-

ये वेष्टयन्ति पार्श्वस्थं निर्दहन्ति पुर: स्थितम् ।

चिन्व्यन्ति स्थितं पश्चाद् भोगिन: कुटिलानृपा: ॥146॥

कुटिल-टेढ़ी चाल चलने वाले (पक्ष में मायावी) भोगी-साँप (पक्ष में भोगों से युक्त) तथा राजा, पास में रखी हुई वस्तु को लपेट लेते हैं, सामने स्थित को जलाते हैं और पीछे स्थित का चिन्तन करते हैं । भावार्थ-राजा साँप के समान होते हैं ॥146॥

मणिमन्त्रौषधिस्वस्थ: सर्पदष्टो विलोकित: ।

नृपैर्दृष्टिविषैर्दष्टो न दृष्ट: पुनरुत्थित: ॥147॥

साँप का डसा हुआ मनुष्य तो मणि, मंत्र, औषध के द्वारा स्वस्थ होता देखा गया है परन्तु राजा रूपी साँपों के द्वारा डसा हुआ मनुष्य फिर खड़ा होता नहीं देखा गया है ॥147॥

तथा चोक्तम्-

जैसा कि कहा है -

अत्यासन्ना विनाशाय दूरस्था न फलप्रदा: ।

सेव्या मध्यमभावेन राजावह्निगुरुस्त्रिय: ॥148॥

राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री; ये चार पदार्थ अत्यन्त निकटवर्ती हों तो विनाश के लिए होते हैं दूरवर्ती हो तो फल देने वाले नहीं होते, अत: मध्यम भाव से इनकी उपासना करना चाहिए ॥148॥

ताभिरक्तं-भो स्वामिन् अस्माकमष्टोपवासा अद्य संजाता: । उपवासदिने धर्मं विहाय वनक्रीडार्थं कथं गम्यते? इत्येवं भवन्तो विचारयन्तु । ततस्तेन राजादेशेन किं प्रयोजनम्? यदस्माभिरुपार्जित तद् भविष्यत्येव, न वयं वने गच्छाम: । तथा चोक्तम्-

उन स्त्रियों ने कहा - भो स्वामिन् । हम लोगों के आज आठ उपवास हो चुके हैं । उपवास के दिन धर्म छोड़कर वन क्रीड़ा के लिए कैसे जाया जावे? इस प्रकार आप विचार कीजिए । इसलिए उस राजाज्ञा से क्या प्रयोजन है? हम लोगों ने जो उपार्जन किया है वह होगा ही । हम वन में नहीं जावेगी । जैसा कि कहा गया है -

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुं जयत्वाहवे

वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला: पुण्या: कला: शिक्षतु ।

आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं

नाभव्यं भवतीह कर्मवशतों भावस्य नाश: कुत: ॥149॥

जल में डूबों, मेरु की चोटी पर जाओ, युद्ध में शत्रु को जीतो, वाणिज्य तथा खेती और नौकरी आदि की समस्त पुण्य कलाएँ सीखो तथा अत्यधिक प्रयत्न कर पक्षियों के समान विस्तृत आकाश में गमन करो तो भी इस जगत् में न होने योग्य कार्य नहीं हो सकता । ठीक ही है क्रियावश पदार्थ का नाश कैसे हो सकता है? **अर्थ**ात् नहीं हो सकता ॥149॥

किं, कृतोपवासानां कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयोऽयमवधार्यताम् । तथा चोक्तम्-

दूसरी बात यह है कि उपवास करने वालों को क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए इसका भी निश्चय करने योग्य है ।

पञ्चानां पापानामलं-क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥150॥

हिंसादि पाँच पापों का, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अंजन और सूंघनी आदि का उपवास के दिन परित्याग करना चाहिए ॥150॥

धर्मामृतं सतृष्ण: श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालु: ॥151॥

तृष्णा से सहित होता हुआ कानों से धर्मरूपी अमृत को स्वयं पीवे, दूसरों को पिलावे और आलस्य को छोड़कर ज्ञान और ध्यान में तत्पर होवे ॥151॥

श्रेष्ठिनोक्तम्-भवतीभिर्यदुक्तंतत्सत्यमेव । उपवासदिने जिनागमादिश्रवणं कर्तव्यम् । तदेव कर्मक्षयस्य कारणं भवति, न तु क्रीडार्थं वनगमनम् ।

अर्हद्दास सेठ ने कहा - आप लोगों ने जो कहा है, सत्य ही है । उपवास के दिन जैनागम का श्रवण आदि करना चाहिए । वही कर्मक्षय का कारण है न कि क्रीड़ा के लिए वन को जाना ।

धरण्यां स्वपितु त्यागं करोतु चिरमन्धसो
मज्जत्वप्सु दिवा नक्तं गिरे: पततु मस्तकात् ।
विधत्तां पञ्चतायोग्यां क्रियां विग्रहशोषिणीं
पुण्यैर्विरहितो जन्तुस्तथापि न कृती भवेत् ॥152॥

यद्यपि पृथ्वी पर सोंओ, चिरकाल तक भोजन का त्याग करो, रात-दिन पानी में डूबे रहो, पर्वत के मस्तक से नीचे पड़ों और मृत्यु के योग्य तथा शरीर को सुखाने वाली क्रियाएँ करो तो भी पुण्य के बिना प्राणी कृतकृत्य नहीं हो सकता ॥152॥

(यदज्ञानेन जीवेन कृतं कर्मशुभाशुभम् ।
उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥153॥

इस जीव ने अज्ञान से जो शुभ-अशुभ कर्म किये हैं उन सबको यह उपवास के द्वारा उस तरह भस्म कर देता है जिस तरह कि अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है ॥153॥

तथा चोक्तम्-

जैसा कि कहा है -

एकाग्रचित्तस्य दृढव्रत्तस्य पञ्चेन्द्रिय-प्रीतिनिवर्तकस्य ।
अध्यात्मयोगे गतमानसस्य मोक्षो ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य ॥154॥

जिसका चित्त एकाग्र है, जो दृढ़ व्रत का धारक है, जो पञ्चेन्द्रियों की प्रीति को दूर करने वाला है, जिसका मन अध्यात्म योग में लगा हुआ है और जो निरन्तर अहिंसक रहता है उसे निश्चित ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥154॥

ताभिरुक्तम्-हे देव! अस्माभिस्त्वया च स्वगृहमध्यस्थे सहस्रकूटचैत्यालये जागरणं कर्तव्यम् । श्रेष्ठिना भणितं-तथास्तु ततोऽनेकमङ्गलद्रव्यसंगत: श्रेठी ताश्च सहस्रकूटचैत्यालयं गतास्तत्र मङ्गलधवल-शब्दादिना भगवत: परमेश्वरस्य पूजां कृत्वा धर्मानन्दविनोदेन परस्परं स्थिता: । ततो भार्याभिर्भणितम्-भो श्रेष्ठिन्! भो दयित! भो कृपासागर ! भो प्राणवस्लभ ! तव दृढतरसम्यक्त्वं कथं जातं? तन्निरूपणीयम् । श्रेष्ठिना भणितम्-पूर्वं युष्माभिर्निरूपणीयं सम्यक्त्वकारणम् । ताभिरुक्तम्-भो श्रेष्ठिन् त्वमस्माकं पूज्य:, त्वयात: पूर्वं निरूपणीयं पश्चादस्माभिर्निरूप्यते । तथा चोक्तम्-

स्त्रियों ने कहा - हे देव! हमें और आपको अपने घर के मध्य में स्थित सहस्रकूट चैत्यालय में जागरण करना चाहिए । सेठ ने कहा - ऐसा ही हो । तदनन्तर अनेक मंगल द्रव्यों से सहित सेठ और उसकी स्त्रियाँ सहस्रकूट चैत्यालय गयीं । वहाँ मंगलमय निर्मल शब्दों आदि के द्वारा भगवान् अरहंत परमेश्वर की पूजाकर परस्पर धर्म सम्बन्धी हर्ष से विनोद करते हुए सब बैठ गये ।

तदनन्तर स्त्रियों ने कहा - हे प्रिय, हे दयासिन्धो, हे प्राणप्रिय! आपको दृढ़ सम्यग्दर्शन कैसे हुआ यह कहिये ।
सेठ ने कहा - पहले तुम सबको अपने सम्यक्त्व का कारण कहना चाहिए ।
स्त्रियों ने कहा - हे सेठजी! आप हमारे पूज्य हैं अत: आपको पहले कहना चाहिए पीछे हम निरूपण करेंगे । जैसा कि कहा है-
गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरु: ।
पतिरेव गुरु: स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरु: ॥155॥
द्विजों का गुरु अग्नि है वर्णों का गुरु ब्राह्मण है स्त्रियों का गुरु पति ही है अतिथि सबका गुरु है ॥155॥
अत्रान्तरेऽर्हद्दास श्रेष्ठिनो या कुन्दलता लघ्वी भार्यास्ति तथा भणितम्-हे स्वामिन्! किमर्थमेवं विधं कौमुद्युत्सवं सर्वजनानन्दजननं मुक्त्वा देवपूजातपश्चरणादिकं विधीयते युष्माभि: सकलत्रै:? श्रेष्ठिनाऽभाणि-हे भद्रे! यत्पुण्यं विधीयतेऽस्माभिस्तत्परलोकार्थमेव । व्या जल्पितम्-हे स्वामिन्! परलोकं दृष्ट्वा कोऽप्यागत:, वेह लोके केन धर्मफलं दृष्टम् । यदीह लोके परलोकाश्रितं फलं दृष्टं भवति तदा युक्तं देवपूजादिकम्, अन्यथा निरर्थकमेव तत् केवलं शरीरशोषणमेव ।
तत: श्रेष्ठिना भणितम्-हे महानुभावे परलोकफलं दूरेऽस्तु, मया यथा प्रत्यक्षं धर्मफलं दृष्टं तत् श्रृणु । व्योक्तम्-हे स्वामिन्! कथय, श्रेष्ठिना भणितम्-तथास्तु । तथा सावधानो भूत्वा तत: श्रेठी निजसम्यक्त्वप्रापणकथां कथयति । तद्यथा-इहैव नगरे उत्तरमथुरायां राजा पद्मोदयो भूत:, तस्य राज्ञी यशोमति:, व्यो: पुत्र उदितोदय: । स उदितोदय: साम्प्रतं राजाधिराजो वर्तते । अत्रैव राजमन्त्री संभिन्नमति: भार्या सुप्रभा, व्यो: पुत्र: सुबुद्धि:, सम्प्रति मन्त्रीभूत्वा वर्तते ।
अत्रैवाञ्जन-गुटिकादि-विद्या प्रसिद्धो रौप्यखुरनामा चौर: तस्य भार्या रूपखुरा व्यो: पुत्र: स्वर्णखुर: सम्प्रति चौरो वर्तते । अत्रैव राजश्रेठी जिनदत्तो, भार्या जिनमति:, व्यो: पुत्रोऽर्हद्दासोऽहं संप्रति श्रेठीभूत्वा तिष्ठामि । एतत् सर्वं चौरेण राज्ञा मन्त्रिणा च श्रुतम् । चौरेण मनस्युक्तम्-अहो मम चौरव्यापारो नित्यमस्ति, अधुनासौ किं किं निरूपयति? इति श्रूयतेऽतो निश्चलचित्तो भूत्वा श्रृणोति । राज्ञा मन्त्रिणा च भणितम्-एतत्कौतुकमावाभ्यां श्रूयते, इति कृत्वा सावधानौ स्थितौ तौ । तत: श्रेठी कथयति-भो भार्या:? दृष्टा श्रुतानुभूता या कथा मया कथ्यते तां दत्तावधानेनाकर्णयन्तु । ताभिरुक्तम्-महाप्रसाद इति । श्रेठी निरूपयति-
स प्रसिद्धो रूपखुरनामा चौरो नगरमध्ये प्रचण्डचोरिकां कुर्वन् राजादीनां दु:साध्यो जज्ञे । तं तस्करं दु:साध्यं मत्वा स्वनगररक्षार्थं तस्य वृत्तिर्विहिता । तत: स पश्यतोहरश्चौरव्यापारं मुक्त्वा सप्तव्यसनाभिभूतो द्यूतक्रीडां करोति नित्यं, राजवृत्त्यागतं द्युम्नं व्ययीकरोति । व्यसनादितो जीवो दोषजालं न पश्यति । यदुक्तम्-
इसी बीच में अर्हद्दास सेठ की जो कुन्दलता नाम की छोटी स्त्री थी उसने कहा - हे नाथ! समस्त मनुष्यों को हर्ष उत्पन्न करने वाले ऐसे कौमुदी-महोत्सव को छोड़कर आप अपनी स्त्रियों के साथ देवपूजा तथा तपश्चरण आदि किसलिए कर रहे हैं?
सेठ ने कहा - हे भद्रे! हम लोगों के द्वारा जो पुण्य किया जाता है वह परलोक के लिए ही किया जाता है । कुन्दलता ने कहा - हे स्वामिन्! परलोक को देखकर कोई आया भी है? अथवा इहलोक में धर्म का फल किसने देखा है? यदि इहलोक में परलोक से सम्बन्ध रखने वाला फल दिखायी देता तो देवपूजादि करना ठीक है अन्यथा वह सब निरर्थक और मात्र शरीर को सुखाने वाला है ।
इस प्रकार अष्टमदिन की कथा पूर्ण हुई ।
पश्चात् सेठ ने कहा - हे महानुभावे । परलोक का फल तो दूर रहे मैंने धर्म का जो फल प्रत्यक्ष देखा है उसे सुनो कुन्दलता ने कहा - हे नाथ! कहिए, सेठ ने कहा - तथास्तु । तदनन्तर सेठ सावधान होकर अपनी सम्यक्त्व प्राप्ति की कथा कहने लगा - कथा इस प्रकार है-
इसी उत्तर मथुरा नगर में राजा पद्मोदय हो गये हैं, उनकी रानी का नाम यशोमति था और उन दोनों के उदितोदय नाम का पुत्र था । वह उदितोदय इस समय राजाधिराज है । इसी नगर में संभिन्नमति नाम का राजमन्त्री था, उसकी स्त्री का नाम सुप्रभा था और दोनों के सुबुद्धि नाम का पुत्र था । वही सुबुद्धि, इस समय राजाधिराज उदितोदय का मन्त्री है ।
इसी मथुरा नगर में अंजनगुटिका आदि की विद्या में प्रसिद्ध रौप्यखुर नाम का चोर था, उसकी स्त्री का नाम रूपखुरा था और उन दोनों के स्वर्णखुर नाम का पुत्र था । वह इस समय चोर है । इसी नगर में जिनदत्त नाम का राजसेठ था, उसकी स्त्री का नाम जिनमति था और उन दोनों का मैं अर्हद्दास नाम का पुत्र हूँ, जो इस समय राजसेठ होकर रह रहा हूँ ।
यह सब चोर ने राजा ने और मंत्री ने सुना । चोर ने मन में कहा - मेरा चोर-व्यापार नित्य का है इस समय यह क्या-क्या कहता है, यह सुना

जावे, इसलिए निश्चल चित्त होकर सुनने लगा ।
राजा और मन्त्री ने कहा - यह कौतुक हम दोनों अवश्य सुनें, ऐसा विचार कर दोनों सावधान होकर स्थित हो गये । तत्पश्चात् सेठ कहता है- हे प्रियाओ देखी, सुनी और अनुभूत कथा मैं कह रहा हूँ, उसे ध्यान देकर सावधानी से सुनो ।
स्त्रियों ने कहा - यह आपका महाप्रसाद है ।
सेठ कहता है -
वह रूपखुर नामक प्रसिद्ध चोर नगर में भारी चोरी करता हुआ राजा आदि को दु:साध्य हो गया । उसको दु:साध्य मान कर अपने नगर की रक्षा के लिए उसे वृत्ति बाँध दी । तदनन्तर वह चोर, चोर का कार्य छोड़कर सप्त व्यसनों में आसक्त होकर नित्य ही जुआ खेलने लगा । राजा की ओर से मिलने वाली वृत्ति से जो धन आता था उसे वह जुआ में खर्च कर देता था । ठीक ही है व्यसनों से पीड़ित जीव दोष समूह को नहीं देखता है । जैसा कि कहा है -
द्यूतं च मासं च सुरा च वेश्या, पापर्धिचौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके, घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥156॥
जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्रीसेवन लोक में ये सात व्यसन कहलाते हैं, ये व्यसन जीव को अत्यन्त भयंकर नरक में ले जाते हैं ॥156॥
सप्तव्यसनदूषणानि कथ्यन्ते क्रमेण-द्यूतम्-
अब क्रम से सात व्यसनों के दोष कहे जाते हैं-सर्वप्रथम जुआ के दोष देखिये -
द्यूते दश प्रणश्यन्ति धर्म: श्री: सुमति: सुखम् ।
सत्यं शौचं प्रतिष्ठा च निठा विश्वाससद्गता ॥157॥
जुआ में, 1. धर्म, 2. लक्ष्मी, 3. सुबुद्धि, 4. सुख, 5. सत्य, 6. शौच, 7. प्रतिष्ठा, 8. श्रद्धा, 9. विश्वास और 10. सद्गति ये दस बातें नष्ट हो जाती हैं ॥157॥
विषाद: कलहो रारि: कोपो मानो मतिभ्रम: ।
पैशून्यं मत्सर: शोको दश द्यूतस्य बान्धवा: ॥158॥
विषाद, कलह, झगड़ा, क्रोध, मान, बुद्धिभ्रम, चुगली, मत्सर और शोक ये दश जुआ के भाई हैं-सहायक हैं ॥158॥
कुले कलङ्कोऽपयश: पृथिव्यां, मनोऽनुताप: स्वमहत्त्व-नाश: ।
जन्मन्यमुस्मिन्न परत्र सौख्यं, द्यूताच्चतुर्वर्गविनाश एव ॥159॥
जुआ से कुल में कलंक लगता है, पृथ्वी पर अपयश फैलता है, मन में पश्चाताप होता है, अपने महत्त्व-बड़प्पन का नाश होता है, न इस जन्म में सुख होता है और न पर जन्म में सुख मिलता है । यथार्थ में उससे चतुर्वर्ग-धर्म, **अर्थ**, काम और मोक्ष का विनाश ही होता है ॥159॥
परोपकाराय न कीर्तये न, न प्रीव्ये नो स्वहिताय लक्ष्मी: ।
सुखाय न स्वस्य न बान्धवानां, द्यूताद् गता केवलं पातकाय ॥160॥
जुआरी की लक्ष्मी न परोपकार के लिए होती है, न कीर्ति के लिए होती है, न प्रीति के लिए होती है, न अपने हित के लिए होती है, न अपने सुख के लिए होती है और न भाई-बान्धवों के सुख के लिए होती है । जुआ से गयी हुई लक्ष्मी केवल पाप के लिए होती है ॥160॥
कौपीनं वसनं कदन्नमशनं शय्या धरा पांसुला
जल्पोऽश्लीलगिर: कुटुम्ब कुजनो वेश्या सहाया विटा: ।
व्यापारा: परवञ्चनानि सुहृदश्चोरा महान्तो द्विष:
प्राय: सैष दुरोदर-व्यसनिन: संसारवासक्रम: ॥161॥
जुआरी मनुष्य का लंगोट ही वस्त्र होता है, खराब अन्न भोजन होता है, धूलि-धूसरित पृथ्वी ही शय्या होती है, भद्दा वचन ही वार्तालाप होता है, वेश्या कुटुम्ब के खोटे जन हैं, विट सहायक है, दूसरों को धोखा देना व्यापार है, चोर मित्र है और बड़े पुरुष शत्रु हैं, जुआ व्यसन

में आसक्त मनुष्य का प्राय: यही संसारवास का क्रम है । भावार्थ-जुआरी सदा दुखी रहता है ॥161॥

अब मांस व्यसन के दोष देखिए-

सद्य: संमूर्च्छितानामन्तु जन्तुसंतानदूषितम् ।
नरकाध्वनि पाथेयं कोऽश्नीयात् पिशितं सुधी: ॥162॥
स्थावरा जङ्गमाश्चैव प्राणिनो द्विविधा: स्मृता: ।
जङ्गमेषु भवेन्मांसं फलं च स्थावरं स्मृतम् ॥163॥
जीवत्वेनेह तुल्या वै यद्येते च भवन्ति तु ।
स्त्रीत्वे सति यथा माता अभक्ष्यं जङ्गमं तथा ॥164॥
सर्वशुक्रं भवेद्ब्रह्मा विष्णुर्मांसं प्रवर्तते ।
ईश्वरश्चास्थिसंघातस्तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥165॥
मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्ब: ॥166॥

जो शीघ्र ही उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छन जीवों की संतति से दूषित है तथा नरक के मार्ग का संबल है, ऐसे मांस को कौन खावेगा? ॥162॥

स्थावर और त्रस के भेद से प्राणी दो प्रकार के माने गये हैं, उनमें से त्रस जीवों में मांस होता है और फल स्थावर कहलाते हैं ॥163॥

यद्यपि त्रस और स्थावर जीवत्व सामान्य की अपेक्षा निश्चय से समान होंते हैं तथापि त्रस अभक्ष्य ही रहते हैं । जैसे माता और स्त्री दोनों स्त्रीत्व सामान्य से यद्यपि तुल्य हैं तथापि माता स्त्री के समान सेवनीय नहीं हैं ॥164॥

त्रस के शरीर में जो समस्त वीर्य है वह ब्रह्मा है, मांस विष्णु है और अस्थियों-हड्डियों का समूह ईश्वर है इसलिए ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप त्रस का मांस कैसे खाया जा सकता है? ॥165॥

जीव का शरीर मांस है परन्तु जीव का शरीर मांसरूप नहीं है-त्रस जीव का शरीर तो मांस रूप ही है परन्तु स्थावर जीवों का शरीर मांसरूप नहीं है, जैसे नीम वृक्ष तो है परन्तु वृक्ष नीम ही हो यह नियम नहीं है ॥166॥

मद्यम्-

वैरूप्यं व्याधिपीडा स्वजनपरिभव: कार्यकालातिपातो-
विद्वेषो ज्ञाननाश: स्मृतिमतिहरणे विप्रयोगश्च सद्भि:
पारुष्यं नीचसेवा कुलगिरि-चलना, धर्मकामार्थहानि:
कष्टं भो षोडशैते निरूपचयकरा मद्यपानस्य दोषा: ॥167॥
लज्जा-द्रव्यहरं कुलस्य निधनं चित्तस्य संतापनं-
नीचैर्नीचभरं प्रमाद-जननं शीलस्य विध्वंसनम् ।
शिल्पज्ञानविनाशनं स्मृतिहरं शौचस्य निर्नाशनम्॥
मद्यं दोष-सहस्रमार्गकुटिलं केनापि मद्यं पिबेत् ॥168॥
दोषाणां प्रमुखं ह्यधर्मजननं लज्जास्मृतिध्वंसनम् **अर्थ**स्यापि विनाशि विह्वलकरं मूर्खै: सदासेवितम् ।
यं पीत्वा परदारचौर्यगमनं हिंसानृतं जल्पनं
आयान्ति स्वयमेव दोषनिचया मा कोऽपि मद्यं पिबेत् ॥169॥
चिन्तावर्धनमङ्गदुर्बलकरं विघ्नादयोत्पादनं-
स्नेहच्छेदनमर्थनाशनमतिक्लेशावहं निर्गुणम् ।
ते धन्या धरणीतले, प्रतिदिनं ते वन्दनीया नरा:
यैरेतैर्वधबन्ध-दोंष-बहुलं मद्यं सदा वर्जितम् ॥170॥

अब मदिरा व्यसन के दोष देखिये-

विरूपता, बीमारी, पीड़ा, आत्मीयजनों के द्वारा तिरस्कार, कार्य के समय का उल्लंघन, द्वेष, ज्ञाननाश, स्मृतिहरण, बुद्धिहरण, सत्पुरुषों के साथ वियोग, कठोरता नीचों का सेवन, कुचालकों का विचलित होना, धर्म, **अर्थ** और मोक्ष का विनाश ये सोलह मदिरा-पान के दोष हैं ॥167॥

मद्य, लज्जा, रूप, धन को हरने वाला है, कुल का अंत करने वाला है, चित्त को संताप देने वाला है, अत्यन्त नीच जनों को प्रसन्न करने वाला है, प्रमाद को उत्पन्न करने वाला है, शील का विध्वंस करने वाला है, शिल्पज्ञान का विनाशक है, स्मृति को हरने वाला है और पवित्रता का सर्वथा नाश करने वाला है । इस प्रकार दोषों के हजारों मार्ग से कुटिल है, फिर किस कारण मद्य को पीना चाहिए? **अर्थ**ात् किसी कारण नहीं पीना चाहिए ॥168॥

मद्य सब दोषों में प्रमुख है, अधर्म को उत्पन्न करने वाला है, लज्जा और स्मृति का विध्वंस करने वाला है, धन का भी नाश करने वाला है, विह्वल बनाने वाला है, मूर्ख मनुष्य ही सदा जिसका सेवन करते है, जिसे पीकर परस्त्री सेवन और चोरी करने के लिए गमन होता है, हिंसा, झूठ और व्यर्थ का बकवाद आदि दोषों के समूह स्वयं आ जाते हैं, उस मदिरा को कोई भी न पीवें ॥169॥

मद्य चिन्ता को बढ़ाने वाला है, शरीर को दुर्बल करने वाला है, विघ्न और अदयाक्रूरता को उत्पन्न करने वाला है, स्नेह को छेदने वाला है, **अर्थ** का नाश करने वाला है, अत्यधिक क्लेश को प्राप्त करने वाला है और गुणों से रहित है । पृथ्वीतल पर वे मनुष्य "धन्य" हैं और वे ही प्रतिदिन वन्दनीय हैं जिन्होंने वध-बन्धनरूप दोषों से भरे हुए मद्य का सदा के लिए त्याग कर दिया ॥170॥

वेश्या-

नट-विट-भटभुक्तां सत्यशौचादिमुक्तां
कपटशतनिधानं शिष्टनिन्दा-निदानम् ।
परिभवपदमेकं क: पणस्त्रीं भजेत
धननिधन-विधानं सद्गुणानां पिधानम् ॥171॥
रजकशिलासदृशीभि: कुक्कुरकर्प्पर-समानचरिताभि: ।
गणिकाभिर्यदि सङ्ग: कृतमिह परलोकवार्ताभि: ॥172॥

अब वेश्या व्यसन के दोष कहते हैं-

जो नट-विट और सैनिक-जनों के द्वारा भोगी गयी है, सत्य, शौच आदि गुणों से जो रहित है, सैकड़ों कपटों का भण्डार है, शिष्टजनों की निन्दा का प्रमुख कारण है, अनादर का अद्वितीय स्थान है, धन की समाप्ति करने वाली है और सद्गुणों को छिपाने वाली है ऐसी वेश्या का सेवन कौन करेगा? **अर्थ**ात् कोई नहीं ॥171॥

धोबी की शिला के समान अथवा कुत्ते के कर्प्पर के समान चरित्र वाली वेश्याओं के साथ यदि संगम है तो संसार में परलोक की वार्ता करना व्यर्थ है ॥172॥

आखेटकम्-

अब शिकार व्यसन के दोष कहते हैं -

नरके च महाघोरे वारं-वारं च पीडघते ।
बहु दु:खान्यवाप्नोति पापद्ध्यासक्तिमान्नर: ॥173॥
यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातका: ॥174॥ मनुस्मृति॥

शिकार में आसक्ति रखने वाला मनुष्य महाभयंकर नरक में बार-बार पीड़ित होता है और बहुत दु:खों को प्राप्त करता है ॥173॥

हे पाण्डव! पशुओं के शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने हजार वर्ष तक पशुओं का घात करने वाले मनुष्य पकाये जाते हैं ॥174॥

चौर्यम्-

अब चोरी के दोष कहते हैं -

चौर्यपापद्रुमस्येह वध-बन्धादिकं फलम् ।

जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥173॥
चोरीरूप पाप वृक्ष के फल इहलोक में वध-बन्धन आदि होते हैं और परलोक में नरक की वेदना प्राप्त होती है ॥173॥
परस्त्री-
अब परस्त्री सेवन के दोष कहते हैं -
आत्मा दुर्नरके धनं नरपतौ प्राणास्तुलायां कुलं
वाच्यत्वे हृदि दीनता त्रिभुवने तेनायश: स्थापितम् ।
येनेदं बहुदु:खदायि सुहृदां हास्यं खलानां प्रियं
शोच्यं साधुजनस्य निन्दितपरस्त्रीसङ्गसेवासुखम् ॥176॥
दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणग्रामस्य दावानल: ।
संकेतस्सकलापदां शिवपुर-द्वारे कपाटो दृढ:
कामार्तेन नरेण येन कुधिया भुक्त: परस्त्रीगण: ॥177॥
जो बहुत दु:खों को देने वाला है, मित्रों के बीच हँसी कराने वाला है, दुर्जनों को प्रिय है और सज्जन पुरुषों के लिए शोचनीय है, ऐसी निन्दित परस्त्री समागम का सुख जिसने प्राप्त किया है उसने अपनी आत्मा को दु:खदायक नरक में, धन को राजा में, प्राण तराजू पर, कुल निन्दा में, दीनता हृदय में और अपकीर्ति तीनों लोकों में स्थापित की है ॥176॥
काम से पीड़ित जिस दुर्बुद्धि मनुष्य ने परस्त्री समूह का उपभोग किया है, उसने संसार में अपनी अकीर्ति की भेरी दी है, गोत्र पर स्याही का ब्रुश फमरा है, चारित्र को जलांजलि दी है, गुणसमूहरूपी ग्राम में दावानल लगाया है, समस्त आपत्तियों के लिए संकेत दिया है और मोक्ष नगर के द्वार पर मजबूत किवाड़ लगाया है ॥177॥
स सप्तव्यसनी भूत्वैकस्मिन् दिने द्यूतक्रीडां कृत्वा जितं द्रव्यं याचकानां दत्वा क्षुधाक्रान्तो निजगृहं प्रति प्रहरद्वये भोजनार्थं चलित: । राजमन्दिर-समीपतो गच्छता चौरेण सरसरसवत्या: सुगन्धपरिमलं नासिकायामाघ्राय मनसि चिन्तितम्-अहो नानारसयुक्तस्य भक्तस्य कीदृगामोद: स्फुरति? ममाञ्जनसिद्धविद्यया किमपि गहनं नास्ति । इदृग्विधा रसवती अञ्जनबलेन किमर्थं न भुज्यते? इत्येवं मनसि विचार्य नयनयोरञ्जनं चटाप्य राजमन्दिरं प्रविश्य च राज्ञा सह एकस्मिन् स्थाले भोजनं कृत्वागत: । एवं प्रतिदिनं रसालं राज्ञा सह भोजनं करोति तस्कर: तृप्तिं प्राप्त: स्वस्थानं गच्छति । एवं क्रमेण बहुदिने गते स राजा दुर्बलो जात: एकदा संभिन्नमतिमन्त्रिणा राजशरीरं दुर्बलं दृष्ट्वा । विमृशितं किमस्यान्नं नास्ति, अन्यथा कथं दुर्बलो भवतीति । तस्य रसगृद्ध्यभिधान व्यसनं सर्वव्यसनमध्यादाधिक्यं जातम् । तथा चोक्तम्-
वह चोर सप्त व्यसनों से युक्त होकर एक दिन जुआ खेलकर तथा जीता हुआ धन याचकों को देकर भूख से युक्त हो दोपहर के समय भोजन करने के लिए अपने घर की ओर चला । राजमहल के पास से जाते हुए उस चोर ने सरस रसवती (जलेबी) की दूर तक फैलने वाली सुगन्ध नाक से सूँघकर मन में विचार किया-अहो! नानारसों से युक्त भोजन की कैसी गन्ध फैल रही है?
अंजनसिद्ध विद्या के द्वारा मुझे कुछ भी कठिन नहीं है । अंजन के बल से ऐसी रसवती क्यों न खायी जावे? ऐसा मन में विचार कर, नेत्रों में अंजन चढ़ा कर वह राजमहल में घुस गया और राजा के साथ एक थाली में भोजन कर आ गया । इस प्रकार वह चोर प्रतिदिन राजा के साथ रसीला भोजन करता और तृप्ति को प्राप्त कर अपने स्थान पर चला जाता ।
इस प्रकार क्रम से बहुत दिन व्यतीत होने पर वह राजा दुर्बल हो गया । एक दिन संभिन्नमति मन्त्री ने राजा का शरीर दुर्बल देखकर विचार किया कि क्या इनके पास अन्न नहीं है? अन्यथा दुर्बल क्यों होंगे? उसका रसगृद्धि नाम का व्यसन सब व्यसनों के मध्य अधिक हो गया । जैसा कि कहा है -
अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं न्यायेन राज्यं लवणेन भोज्यम् ।
धर्मेण हीनं वत जीवितव्यं न राजते चन्द्रमसा निशीथम् ॥178॥
जिस प्रकार अन्न से रहित शरीर, नेत्र से रहित मुख, न्याय से रहित राज्य, नमक से रहित भोजन और चन्द्रमा से रहित रात्रि सुशोभित नहीं

होती, उसी प्रकार धर्म से रहित जीवन सुशोभित नहीं होता ॥178॥
अक्खाणं रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जीयंति ॥179॥
इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय कर्मों में मोहनीय कर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत और गुप्तियों से मनोगुप्ति ये चारों बड़ी कठिनाई से जीते जाते हैं ॥179॥
वैरं वैश्वानर-व्याधि-वाद-व्यसनलक्षणा: ।
महानर्थाय जायन्ते वकारा: पञ्च वर्जिता: ॥180॥
वैर, वैश्वावर (अग्नि), व्याधि (बीमारी), वाद (वाचनिक संघर्ष) और व्यसन (जुआ आदि) ये पाँच वकार महान् अनर्थ के लिए हैं इसीलिए इन्हें वर्जित किया है ॥180॥
मन्त्रिणा विमृशितम्-किमन्नेऽरुचिर्जातास्ति येन राजा दुर्बलो भवति । ततो मन्त्रिणा राजा पृष्ट:- हे स्वामिन् । तव शरीरे दौर्बल्यं जातं, तत्कारणं कथय, यदि कापि चिन्ता विद्यते तर्हि सापि निरूपणीया यया कृशत्व-माकलमाकलयति यदुक्तम्-
मंत्री ने विचार किया-क्या अन्न में अरुचि हों गयी है, जिससे राजा दुर्बल होता जा रहा है । पश्चात् मंत्री ने राजा से पूछा-हे स्वामिन्! आपके शरीर में दुर्बलता हुई है? उसका कारण कहिए - यदि कोई चिन्ता है तों बतलाइए । जिसके द्वारा आप प्रति समय दुर्बलता को प्राप्त हों रहे हैं । जैसा कि कहा है -
चिन्ता दहति शरीरं शरीरस्था सदापि हि ।
रुधिरामिषौ ग्रसति नित्य दुष्टा पिशाचीव ॥181॥
शरीर में रहने वाली चिन्ता सदा शरीर को जलाती रहती है, वह दुष्ट पिशाची के समान नित्य ही रक्त और मांस को ग्रसती रहती है ॥181॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
बिन्दुनाप्यधिकं मन्ये चिताया इति मे मति: ।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता जीवितमप्यहो ॥182॥
मैं चिता से चिंता में एक बिन्दु ही अधिक मानता हूँ वैसे चिता निर्जीव को जलाती है और चिंता जीवित को भी जलाती है ॥182॥
वा कश्चिद् देवतादीनां दोषोऽस्ति, काश्र्यं येन भजति । ततो मन्त्रिणा (राजपार्श्वे गत्वा) पृष्टम् हे स्वामिन्! तव कायो निरपाय आधि-व्याधिपीडितो वा येन प्रतिदिनं दुर्बलत्वं भजते । अथान्यचिन्तादिकमस्ति यद्यकथ्यं न तर्हि प्रसद्य निवेद्यताम् । तत: नरपतिनाभाणि भो मन्त्रिन् तव ममानन्यशरीरस्य किमकथ्यं चिन्तादिकं किमपि नास्ति परं कौतुककारकं वच: श्रूयताम् । अहं प्रतिदिवसं द्विगुणं त्रिगुणं भोजनं करोमि परं शुन्न शाम्यति, जठरं तृप्तिं न भजते, एतन्नर्मकारि कस्याप्यग्रे कथयितुं न शक्यते, परमेतज्जानामि कोऽप्यञ्जनसिद्धो मया सह नित्यं भुङ्क्ते तेन कारणेनोदराग्निर्न शाम्यति ।
एतद्वचनं श्रुत्वा मन्त्री चेतसि चिन्व्यति-अञ्जनसिद्ध: कोऽपि राज्ञा सह भोजनं करोति तेन कारणेन राजा दुर्बलो जात: । एवं ज्ञात्वा मन्त्रिणोपायो रचित: । तन्निमित्तं प्रथमदिनभोजनकाले रसवतीसमीपे सर्वत्र शुष्कार्ककुसुमान्यानय्य क्षिप्तानि, स्वयं प्रच्छन्नवृत्या स्थित: चतु:कोणेषु रौद्रधूपधूमपर्रिपूर्णा मुखबद्धा:-घटा निक्षिप्ता । एकत्र मन्त्रवादिनो निक्षिप्य आचतुर्दिक्षु सायुधभटा निक्षिप्ता: एकत्र प्रछन्न पुरुषमल्लाश्च निक्षिप्ता: । अस्मिन् प्रस्तावे स तस्कर: पूर्ववददृष्ट: समायात: । शुष्कार्ककुसुमोपरि चरणपातेन तानि चूर्णभूतानि दृष्ट्वा मन्त्रिणा चिन्तितम्, अहो! अयं कोऽप्यञ्जनसिद्धो मनुष्यो न तु देव विद्याधर:, अद्य तावदस्तु, कल्पे बुद्धि-बलेन प्रतीकारमस्य करिष्ये । इति निश्चय द्वितीयदिवसे तथैव क्षिप्तानि शुष्कसूर्यकुसुमानि । एवं कृत्वा यावत्तिष्ठति तावत् स चौर: समागत: भोजनगृहे प्रविष्टश्च । अर्ककलिकोपारि पाद संघटन-संचूर्यमाणध्वनिना चौरं समागतं ज्ञात्वा द्वारे गाढतरामर्गलां दत्त्वा तीव्रघूम-परिपूर्ण-घटमुखबद्ध-वस्त्राणि स्फोटितानि, ततो धूम व्याकुललोचनाश्रुपातेन नयनस्थमञ्जनं गतम् । ततो भटै: स प्रत्यक्षो दृष्ट: । बद्ध्वा राज्ञाग्रे नीत: । एतस्मिन् प्रस्तावे चोरेण मनस्युक्तम्-अहो भोजनं गृहं च द्वयमपि विधिवशाद् गतम् ।
अथवा किसी देवता आदि का दोष है, जिससे दुर्बलता हों रही है । तदनन्तर मंत्री ने राजा के पास जाकर पूछा - हे नाथ! आपका शरीर

नीरोंग है या शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा से पीड़ित है, जिससे प्रतिदिन दुर्बलता को प्राप्त हों रहा है? अथवा अन्य कोई चिन्ता आदि है ? यदि अकथनीय नहीं है तों प्रसन्न होकर बताइए ।

पश्चात् राजा ने कहा - हे मंत्रिन्! आप तों मेरे अभिन्न शरीर हैं अत: आपसे अकथनीय क्या हों सकता है ? चिन्ता आदिक भी कुछ नहीं है परन्तु कौतुक उत्पन्न करने वाली एक बात सुनों । मैं प्रतिदिन दुगुना और तिगुना भोजन करता हूँ परन्तु क्षुधा शान्त नहीं होती है । उदय तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है यह हँसी की बात किसी के आगे कही भी नहीं जा सकती । परन्तु यह जानता हूँ कि अंजन सिद्ध मनुष्य मेरे साथ नित्य भोजन करता है, इस कारण उदराग्नि शान्त नहीं होती है ।

यह वचन सुन मंत्री मन में विचार करता है कि कोई अंजन सिद्ध मनुष्य राजा के साथ भोजन करता है इस कारण राजा दुर्बल हों गया है । ऐसा जानकर मंत्री ने उपाय किया उसके निमित्त मंत्री ने प्रथम दिन भोजन के समय रसवती के समीप सब ओर आक के सूखे फूल लाकर डाल दिये और स्वयं छिप कर खड़ा हों गया । चारों कोनों में भयंकर धूप के धूम्र से परिपूर्ण घट मुख बाँधकर रख दिये । एक ओर मंत्रवादियों को बैठाकर चारों दिशाओं में हथियार बंद सैनिक बैठा दिये और एक स्थान पर छिपा कर पहलवान पुरुष बैठा दिये ।

इसी अवसर पर वह चोर पहले की तरह छिपे रूप से आया । आक के सूखे फूलों पर पैर पड़ने से वे चूर-चूर हों गये, उन्हें देख मंत्री महोंदय ने विचार किया-अहों! यह तों कोई अंजन सिद्ध मनुष्य है न कि देव या विद्याधर । आज रहने दिया जाये प्रात:काल बुद्धिबल से इसका प्रतिकार करँगा । ऐसा निश्चय कर दूसरे दिन भी पहले के समान आकके सूखे फूल बिखेर दिये । ऐसा कर चुकने के बाद ज्योंही वह चोर आकर भोजन ग्रह में प्रविष्ट हुआ त्योंही आक के फूलों के ऊपर पैर पड़ने से उनके चूर-चूर होने का शब्द हुआ । उस शब्द से जान लिया गया कि चोर आ चुका है ।

तदनन्तर द्वार पर अत्यन्त दृढ़ आगल देकर अत्यधिक धूम से परिपूर्ण घड़ों के मुख पर बंधे हुए वस्त्र निकाल दिये ।

तदनन्तर धूम से व्याकुल नेत्रों से अश्रुपात हुआ और उसके कारण चोर के नेत्रों में लगा हुआ अंजन निकल गया । अंजन के निकलते ही सैनिकों ने उसे प्रत्यक्ष देख लिया और बाँधकर राजा के आगे उपस्थित कर दिया । इस अवसर पर चोर ने मन में कहा - अहो! भाग्य के वश से भोजन और घर दोनों ही गये?

शमेन नीतिर्विनयेन विद्या, शौचेन कीर्तिस्तपसा सपर्या ।

विना नरत्वेन न धर्म-सिद्धि:, प्रजायते जातु जनस्य पन्था: ॥183॥

शान्ति के बिना नीति नहीं होती, विनय के बिना विद्या नहीं होती । शौच-निर्लोभ दशा के बिना कीर्ति नहीं होती, तप के बिना पूजा नहीं होती और मनुष्य पर्याय के बिना कभी धर्म की सिद्धि नहीं होती । यह मनुष्य का मार्ग है ॥183॥

अयं कर्मविपाको मध्ये समागमिष्यतीति मम भोजनं गृहं च द्वयमपि गतम् । तथा चोक्तम्-

यह कर्म का उदय बीच में आ गया इसलिए मेरा भोजन और घर दोनों गये । जैसा कि कहा है-

निदाघे दाघार्तस्तरलतर तृष्णा तरलित:

सर: पूर्णं दृष्ट्वा त्वरितमुपयात: करिवर: ।

तथा पङ्के मग्नस्तटनिकटवर्तिन्यपि यथा

न नीरं नो तीरं द्वयमपि विनष्टं विधिवशात् ॥184॥

ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से पीड़ित और बहुत भारी तृषा से चंचल गजराज जल से भरे हुए सरोवर को देखकर शीघ्रता से समीप आया परन्तु तट के निकटवर्ती कीचड़ में उस प्रकार फँस गया कि न तो पानी ही पा सका और न तट ही । भाग्यवश दोनों ही नष्ट हो गये ॥184॥

पुनरपि चौरेण मनसि भणितम्-ममान्यच्चिन्तितं विधिनान्यथा कृतम् । तथा चोक्तम्-

फिर भी चोर ने मन में कहा - मैंने विचार कुछ अन्य किया था, परन्तु भाग्य ने उसे अन्यथा कर दिया । जैसा कि कहा है -

अन्यथा चिन्तितं कार्य दैवेन कृतमन्यथा ।

राजकन्याप्रसादेन भिक्षुको व्याघ्रभक्षित: ॥185॥

अन्य प्रकार से विचारा हुआ कार्य भाग्य के द्वारा अन्यथा कर दिया गया, जैसे राजकन्या के प्रसाद से भिक्षुक व्याघ्र के द्वारा खा लिया गया ॥185॥

अघटितघटितान् घटयति, सुघटितघटितान् जर्जरी कुरुते ।
विधिरेष तानि घटयति, यानि पुमान्नैव चिन्व्यति ॥186॥
यह दैव अघटित कार्यों को घटित-सिद्ध कर देता है और सुघटित-सुसिद्ध कार्यों को जर्जर कर देता है-विघटित कर देता है । यह दैव उन कार्यों को भी घटित कर देता है, जिसका मनुष्य विचार भी नहीं करता है ॥186॥
पुनश्च-
और कहा है -
अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवात्संपद्यतेऽन्यथा ।
यथा वारिजमध्यस्थ : षट्पद: करिणा हत: ॥187॥
अन्य प्रकार से चिन्तित कार्य भाग्यवश अन्य प्रकार का हो जाता है, जैसे कमल के भीतर स्थित भौंरा हाथी के द्वारा मारा गया ॥187॥
रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्री: ।
एवं विचिन्व्यति कोष-गते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥188॥
रात बीतेगी प्रभात होगी सूर्य उगेगा और कमल की शोभा विकसित होगी, ऐसा कमल के भीतर बंद भौंरा विचार करता रहा परन्तु अत्यन्त खेद है कि हाथी ने कमलिनी को उखाड़ कर चबा लिया ॥188॥
अथवा, किमर्थं कातरत्वमङ्गीक्रियते, यदुपार्जितं तद्भविष्यति । यदुक्तम्-
अथवा कातरता-भय क्यों स्वीकृत किया जाये? क्योंकि जो उपार्जन किया है वह अवश्य होगा । जैसा कि कहा है-
उदयति यदि भानु: पश्चिमायां दिशायां
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायाम् ।
प्रचलति यदि मेरु: शान्ततां याति द्धह्यह्नि-
स्तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा ॥189॥
भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत् ।
गन्तव्यं गमयत्येव गजभुक्तकपित्थवत् ॥190॥
यदि सूर्य पश्चिम दिशा में उदित हो जाये, यदि कमल पर्वत के अग्रभाग सम्बन्धी शिला पर विकसित हो जाये, यदि मेरुपर्वत चंचल हो उठे और अग्नि शान्तता-शीतलता को प्राप्त हो जाये तो हो जाये परन्तु होनहार कर्म रेखा टलती नहीं ॥189॥
जिस प्रकार नारियल के भीतर पानी होकर रहता है उसी प्रकार होनहार होकर रहती है और जिस प्रकार गज के द्वारा कैथ का सार निकल जाता है उसी प्रकार जाने वाली वस्तु निकल जाती है ॥190॥
राज्ञोक्तम्-अहो भो सुभटा:! एनं तस्करं शूलोपरि स्थापयन्तु । ततो राजादेशं प्राप्य ते भटास्तं चौरं यष्टिमुष्ट्यादिभि: प्रपीड्य रासभे चटाप्य शूलिकोन्मुखाश्चेलु: । मार्गे राजकिङ्करैर्बहुधा विडम्ब्यमानं तं, पश्यतोहरं दृष्ट्वा लोकै: परस्परं भणितम्-इन्द्रियविषयासक्त: को न नश्यति? उक्तञ्च-
राजा ने कहा - अहो! हे सुभटो! इस चोर को शूली पर चढ़ा दो । तदनन्तर राजा की आज्ञा पाकर वे सुभट उस चोर को लाठी तथा मुक्के आदि से पीटकर तथा गधे पर चढ़ाकर शूली की ओर ले चले । मार्ग में राजा के किंकरों के द्वारा अनेक प्रकार से विडम्बना को प्राप्त हुए उस चोर को देखकर लोग परस्पर में कह रहे थे-इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हुआ कौन मनुष्य नष्ट नहीं होता? जैसा कि कहा है -
कुरङ्ग - मातङ्ग - पतङ्ग - भृङ्गमीना हता: पञ्चभिरेव पञ्च ।
एक: प्रमादी स कथं न हन्यते य: सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥191॥
हरिण, हाथी, शलभ, भ्रमर और मछली ये पाँच स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों में से एक-एक इंद्रिय के द्वारा प्रमादी होकर नष्ट हुए हैं, फिर जो पाँचों इन्द्रियों के द्वारा पाँचों विषयों का सेवन करता है, वह क्यों न नष्ट हो? अवश्य ही नष्ट होता है ॥191॥

तथा च-
और भी कहा है -
सुवर्णमेकं ग्राममेकं भूमेरप्येकमङ्ग्वलम् ।
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूमि-संप्लव: ॥192॥
जो एक सुवर्ण एक ग्राम अथवा पृथ्वी का एक अंगुल भी बिना दिये हरण करता है, वह जब तक पृथ्वी का नाश नहीं होता-प्रलय नहीं पड़ता तब तक नरक को प्राप्त होता है ॥192॥
अत्रावसरे कश्चित्परस्परं भणितम्-अहो एक व्यसनाभिभूतौ मनुष्यो नियमेन म्रियते किं पुन: सप्त-व्यसनाभिभूत:? तथा चोक्तम्-
इसी अवसर पर किन्हीं लोगों ने परस्पर कहा कि-जब एक व्यसन से दबा हुआ मनुष्य नियम से मृत्यु को प्राप्त होता है, तब जो सातों व्यसनों से दबा हुआ है उसका क्या कहना है? जैसा कि कहा है-
द्यूताद्धर्मसुत: पलादिह वको मद्याद्यदोर्नन्दना-
श्चारु: कामिव्या मृगान्तकव्या स ब्रह्मदत्तो नृप: ।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठा-
देकैकव्यसनोद्धता इति जना सर्वैर्न को नश्यति ॥193॥
जुआ से युधिठिर, मांससेवन से बक राजा, मदिरा से यदुपुत्र, वेश्या-सेवन से चारुदत्त, शिकार से ब्रह्मदत्त राजा, चोरी से शिवभूति पुरोहित और पर-स्त्री के दोष से रावण; इस प्रकार हठपूर्वक एक-एक व्यसन का सेवन करने वाले लोग नष्ट हुए हैं, फिर जो सभी विषयों से नष्ट हो रहा है वह क्या नष्ट नहीं होगा? अवश्य ही नष्ट होगा ॥193॥
ततश्चौरो नगरमध्ये भ्रामयित्वा राजादेशेन शूलोंपरि निक्षिप्त: । राज्ञा चतुर्दिक्षु प्रच्छन्न वृत्त्या किङ्करा धृता: पुनराजादेशेन प्रच्छन्नवृत्त्या विलोकयन्त्येवं-क: पुमाननेन सह वार्तां करोति, य एनं वार्तयिष्यति स राजद्रोही राज्ञा निग्राह्य:, तस्य पार्श्वे चौर्यद्रव्यं शोधनीयमिति परस्परं प्रवदन्ति स्थिता: । अस्मिन् प्रस्तावे जिनदासश्रेठी मां गृहीत्वा वनस्थचैत्यसाधुवन्दनां कृत्वा तस्मिन्मार्गे समागतो यत्र चौर: शूलिकोपरि चटापित: । अर्हद्दासेन पितरं प्रत्यभाणि-भो तात! किमेतत्? पित्रा निगदित: चौरोऽयम् । पुत्रेण प्रोक्तम्-कथमेतेनेदं प्राप्तम् पित्रोक्तम्-भो सुत! पूर्वं यदुपार्जितं तत् कथमुदयं विहाय गच्छति? अथवा पुत्रपौत्रादिषु सत्स्वपि पूर्वं कृतं शुभाशुभं कर्म तत्कर्तारमेवाटीकते । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर वह चोर नगर के बीच घुमाकर राजा की आज्ञा से शूली पर चढ़ा दिया गया । राजा ने चारों दिशाओं में प्रच्छन्न रूप से अपने किंकर रख छोड़े थे । वे किंकर राजा की आज्ञा से गुप्त-रूप में यह देखते थे कि कौन पुरुष इस चोर के साथ बात करता है । जो पुरुष इससे बात करेगा वह राजद्रोही तथा दण्ड के योग्य होगा । उसके पास चोरी के द्रव्य की तलाशी ली जायेगी ऐसा लोग कह रहे थे । इसी अवसर पर जिनदास सेठ मुझ अर्हद्दास को साथ लेकर वन में स्थित प्रतिमाओं तथा साधुओं की वन्दना कर उसी मार्ग से निकले जिस मार्ग में चोर शूली पर चढ़ाया गया था ।
अर्हद्दास ने पिता से कहा - हे तात! यह क्या है?
पिता ने कहा - यह चोर है?
पुत्र ने कहा - इसने यह अवस्था क्यों प्राप्त की?
पिता ने कहा - हे पुत्र! पहले जो उपार्जित किया है वह उदय में आये बिना कैसे जा सकता है अथवा पुत्र-पौत्र आदि के रहते हुए भी पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्म उस कर्म के करने वाले के पास ही पहुँचते हैं । जैसा कि कहा है -
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सा विन्दन्ति मातरम् ।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥194॥
जिस प्रकार हजारों गायों में बछड़े अपनी माँ के पास पहुँच जाते हैं उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म अपने कत्र्ता-करने वाले के पास पहुँच जाते हैं ॥194॥
अन्यच्च-

और भी कहा है -
पातालमाविशतु यातु सुरेन्द्रहम्र्य-
मारोहतु क्षितिधराधिपतिं च मेरुम् ।
मन्त्रौषधिप्रहरणैश्च करोतु रक्षां
यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतु: ॥195॥
चाहे पाताल में प्रवेश कर आओ, चाहे स्वर्ग चले जाओ, चाहे गिरिराज सुमेरु पर्वत पर चढ़ जाओ और चाहे मन्त्र, औषधि तथा शस्त्रों के द्वारा रक्षा कर लो परन्तु जो होने वाला है वह होता है - इसमें विचार का कोई कारण नहीं है ॥195॥
एतत् सर्वं चौरेण श्रुत्वा भणितम्-भो श्रेष्ठिन् तृतीयं दिनं गतं, प्राणा न गच्छन्ति, किं करोमि? तथा चोक्तम्-
यह सब सुनकर चोर ने कहा - हे सेठजी! तृतीय दिन निकल गया परन्तु प्राण नहीं जाते हैं । क्या करँ? जैसा कि कहा है-
शृगालभक्षितौ पादौ काकैर्जर्जरितं शिर: ।
पूर्वकर्म समायातं साम्प्रतं किं करोम्यहम् ॥196॥
श्रृगालों ने दोनों पैर खा लिए हैं और कौओं ने शिर जर्जर कर दिया है । पूर्व कर्म ऐसा ही आया है इस समय क्या करँ? ॥196॥
भो श्रेष्ठिन्! त्वं कृपासागर: परम धार्मिको महाद्रुमवज्जगदुपकारी, यत् त्वया क्रियते तत सर्वमपि लोकोपकारार्थम् । अतएव पिपासितस्य मम पानीयं पायय । तथा चोक्तम्-
हे सेठजी! तुम दया के सागर, परम धार्मिक और महावृक्ष के समान जगत् के उपकारी हो । आपके द्वारा जो किया जाता है, वह सभी लोकोपकार के लिए किया जाता है । इसलिए आप मुझ प्यासे को पानी पिला दीजिये । जैसा कि कहा है -
पुरे च राष्ट्रे गिरौ च महीतले महोदधौ वा सुहृदां च सन्निधौ ।
नभ:स्थले वा वरगर्भ वेश्मनि न र्मुति प्राक्तनकर्म सर्वथा ॥197॥
यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानं च मोक्षश्च किं जटाभस्म चीवरै: ॥198॥
छायामन्यस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठन्ति चातपे ।
फलन्ति च परार्थेषु नात्महेतोर्महाद्रुमा: ॥199॥
परोपकाराय ददाति गौ: पय:, परोपकाराय फलन्ति वृक्षा: ।
परोपकाराय वहन्ति नद्य:, परोपकाराय सतां प्रवृत्ति: ॥200॥
पूर्वकृत कर्म नगर में, देश में, पर्वत पर, भूतल पर, समुद्र में, मित्रों के सन्निधान में आकाश-तल में और मध्य ग्रह में सब प्रकार से पीछा नहीं छोड़ता है ॥197॥
जिसका चित्त सब जीवों पर दया से द्रवीभूत रहता है उसी को ज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है, जटा रखने, भस्म रमाने और चीवर पहनने से क्या होता है? ॥198॥
और भी कहा है-बड़े वृक्ष दूसरों को छाया करते हैं और स्वयं धूप में खड़े रहते हैं । वे दूसरों के लिए ही फलते हैं; अपने लिए नहीं ॥199॥
गाय परोपकार के लिए दूध देती है, वृक्ष परोपकार के लिए फलते हैं, नदियाँ परोपकार के लिए बहती हैं और सत्पुरुष की प्रवृत्ति परोपकार के लिए होती है ॥200॥
किञ्च-
और भी कहा है -
क्षुद्रा: सन्ति सहस्रश: स्वभरण-व्यापारमात्रोद्यमा:-
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक: सतामग्रणी: ।
दुष्पूरोदर-पूरणाय पिबति स्रोत:-पतिं वाडवो
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥201॥

मात्र अपना पेट भरने में उद्यम करने वाले क्षुद्र मनुष्य हजारों हैं परन्तु परोपकार करना ही जिसका स्वार्थ है, ऐसा सज्जनों में अग्रसर एक-विरला ही होता है । दु:ख से भरने योग्य उदर को पूर्ण करने के लिए बड़वानल समुद्र को पीता है परन्तु मेघ, गर्मी परिपूर्ण जगत् का संताप दूर करने के लिए पीता है ॥201॥

भो श्रेष्ठिन्! मन्ये त्वं परोपकारायैव सृष्ट: । एवं बहुधा प्रकारै: श्रेठी स्तुत: । एतच्चौरवचनं श्रुत्वापि राज-विरुद्धं ज्ञात्वा तथाप्याद्रचित्तेन तेन श्रेष्ठिना परोपकाराय भणितम्-रे वत्स! मया द्वादशवर्षपर्यन्तं गुरुसेवा कृता अद्य प्रसन्नेन गुरुणा मन्त्रोपदेशो दत्त: । अद्याहं जलार्थं गच्छामि चेन्मंत्रोऽपि विस्मर्यते, अतएव न गच्छामि । चौरेणोक्तम्-यावत्कालपर्यन्तं त्वया जलमानीयते तावत्कालपर्यन्तमिमं मन्त्रमहमुद्घोंषयामीति । चौरेणोक्तम्-अनेन मन्त्रेण किं साध्यते? श्रेष्ठिना भणितम्-पञ्चनमस्कारनामा मन्त्रोऽयं समस्तं सुखं ददाति । यथा-

हे सेठजी! मैं मानता है कि तुम परोपकार के लिए रचे गये हो । इस तरह अनेक प्रकार से सेठ की स्तुति की । चोर के यह वचन सुनकर यद्यपि सेठ ने कुछ करना राजाज्ञा के विरुद्ध समझा तथापि आद्रचित्त से युक्त होने के कारण परोपकार के लिए सेठ ने कहा - हे वत्स! मैंने बारह वर्ष तक गुरु की सेवा की । आज प्रसन्न होकर उन्होंने मन्त्र का उपदेश दिया है । यदि इस समय मैं पानी के लिए जाता हूँ तो वह मन्त्र भूल जाऊँगा इसलिए नहीं जाता हूँ ।

चोर ने कहा - जब तक आप पानी लाते हैं तब तक मैं इस मन्त्र का उच्चारण करता रहूँगा । इस मन्त्र से क्या सिद्ध होता है?

सेठ ने कहा - यह पञ्च-नमस्कार नाम का मन्त्र सब सुख देता है । जैसे -

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजङ्गसिंह-<br>
दुर्व्याधिवारिरिपुबन्धनसंभवानि ।<br>
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां<br>
नश्यन्ति पञ्च परमेठिपदैर्भयानि ॥202॥

पञ्च परमेष्ठियों के पदों से, संग्राम, समुद्र, गजेन्द्र, सर्प, सिंह, दुष्ट, बीमारी, जल, शत्रु और बन्धन से होने वाले तथा चोर, ग्रह, भ्रम, राक्षस और शाकनियों से उत्पन्न भय नष्ट हो जाते हैं ॥202॥

तथा चोक्तम्-

जैसा कि कहा है-

आकृष्टिं सुरसम्पदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यता-<br>
मुच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।<br>
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रपततां मोहस्य संमोहनम्<br>
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥203॥

पञ्चनमस्कार मन्त्र के अक्षरों से तन्मय वह आराधनारूपी देवता देवों की संपत्ति का आकर्षण करती है, मुक्ति लक्ष्मी का वशीकरण करती है, चतुर्गति सम्बन्धी विपत्तियों का उच्चाटन करती है अपने पापों के साथ द्वेष करती है दुर्गति की ओर जाने वालों का स्तम्भन करती है - उन्हें रोकती है और मोह का संमोहन करती है ॥203॥

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तु-शतानि च ।<br>
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यांचोऽपि शिवं गता: ॥204॥

हजारों पाप करके और सैकड़ों जीवों का घातकर इस मन्त्र की आराधना से तिर्यंच भी कल्याण को प्राप्त हुए हैं ॥204॥

अत: ममोपदेशं दत्त्वा झटिति जलार्थं गच्छ । श्रेष्ठिनोक्तम्-तथास्तु । इति मन्त्रोपदेशं दत्त्वा मां च तत्र मुक्त्वा स्वयं जलार्थं गत: । तत एकाग्रचित्तेन पञ्चपरमेठिमन्त्रमुच्चारयता चौरेण प्राणा विसर्जिता: । पञ्चपरमेठिमन्त्रमाहात्म्येन स चौर: सौधर्मस्वर्गे षोडशाभरणभूषितोऽनेकपरिजनसहितो देवो जात: । श्रेठी कियत्कालं विलम्ब्य चौरसमीप आगतों जलं गृहीत्वा । अविकारकृताञ्जलिं चौरं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनाऽभाणि-अहो उत्तमसमाधिनासौ स्वर्गं गत: । तत: पुत्रेणोक्तम्-भो तात! सत्संगति: कस्य पापं न हरति, अपि तु सर्वस्यापि । तथा चोक्तम्-

इसलिए मुझे उपदेश देकर पानी के लिए शीघ्र जाइये । सेठ ने कहा - " तथास्तु" । इस प्रकार मन्त्र का उपदेश देकर और मुझे वहीं

छोड़कर सेठ स्वयं पानी के लिए चला गया । तदनन्तर एकाग्रचित से पंचपरमेठी मंत्र का उच्चारण करते हुए चोर ने प्राण छोड़ दिये । पंचपरमेठी मंत्र के माहात्म्य से वह चोर सौधर्म स्वर्ग में सोलह आभरणों से विभूषित तथा अनेक परिजनों से सहित देव हुआ । जिनदत्त सेठ कुछ समय बाद पानी लेकर चोर के समीप आया तब निर्विकार भाव से हाथ जोड़े हुए चोर को देखकर सेठ ने कहा - अहो । यह तो उत्तम समाधि से स्वर्ग चला गया ।

पश्चात् पुत्र ने कहा - हे पिताजी! सत्संगति किस का पाप नहीं हरती किन्तु सभी का हरती है । जैसा कि कहा है -

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेत: प्रकाशयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ॥205॥

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है वाणी में सत्य का सेचन करती है मान की उन्नति करती है पाप को दूर करती है चित्त को प्रकाशित करती है और कीर्ति को दिशाओं में विस्तृत करती है । कहो सत्संगति पुरुषों का क्या-क्या नहीं करती है? ॥205॥

तत: श्रेष्ठिना व्याघुट्य परमगुरूणां वन्दनं कृत्वा वृत्तान्तं निरूप्योपवासं गृहीत्वा च तत्रैव जिनालये स्थितम् । गुरुणोक्तम्-महत्संसर्गेण कस्योन्न्तिर्न भवति । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर सेठ ने वापस लौटकर परम गुरुओं की वंदना की उन्हें सब समाचार कहा और स्वयं उपवास का नियम लेकर उसी जिनालय में स्थित हो गया । गुरु ने कहा - महापुरुषों की संगति से किसकी उन्नति नहीं होती? **अर्थ**ात् सभी की होती है । जैसा कि कहा -

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते
मुक्ताकारव्या तदेव नलिनीपत्र-स्थितं दृश्यते ।
अन्त:सागरशुक्तिसंपुटगतं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणा: संवासतो देहिनाम् ॥206॥

महानुभाव-संसर्ग: कस्य नोंन्नतिकारणम् ।
गङ्गाप्रविष्टं रथ्याम्बु त्रिदशैरपि वन्द्यते ॥207॥

संतप्त लोहे पर पड़े हुए पानी का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता वही पानी कमलिनी के पत्ते पर स्थित होकर मोती के समान दिखाई देता है और समुद्र के भीतर सीप के पुट में जाकर मोती बन जाता है । ठीक ही है संगति से ही मनुष्यों के गुण प्राय: अधम, मध्यम और उत्तम हो जाते हैं ॥206॥

महान् पुरुषों की संगति किसकी उन्नति का कारण नहीं है किन्तु सभी की उन्नति का कारण है । क्योंकि गंगा में प्रविष्ट हुआ गलियारे का पानी देवों के द्वारा भी वन्दनीय हो जाता है ॥207॥

हेरकेण (गुप्तचरेण) राज्ञोऽग्रे निरूपितम् देव! जिनदत्तश्रेष्ठिना चौरेण सह गोठी कृता । राज्ञोक्तम् स राजद्रोही । तत्पार्श्वे चौरद्रव्यं तिष्ठति । एवं कुपित्वा तद्धारणार्थं भटा: प्रेषिता: । यावदेवं वर्तते, तावत्सौधर्मस्वर्गोत्पन्नेन चौरेण भणितम्-पुण्यं विनेयं सर्वसामग्री न प्राप्यते । तथा चोक्तम्-

गुप्तचर ने राजा को आगे कहा कि - हे देव! जिनदत्त सेठ ने चोर के साथ वार्तालाप किया है ।

राजा ने कहा - वह राजद्रोही है उसके पास चोरी का धन है । इस प्रकार क्रुद्ध होकर राजा ने उसे पकड़ने के लिए योद्धा भेजे । जब तक यहाँ ऐसा होता है तब तक सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए चोर ने कहा - पुण्य के बिना यह सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती । जैसा कि कहा है -

मिष्टान्न-पानशयनासनगन्धमाल्य-
वस्त्राङ्गनाभरणवाहनयान-गेहा: ।
वस्तूनि पूर्वकृतपुष्पविपाककाले-
यत्नाद्विनापि पुरुषं समुपाश्रयन्ते ॥208॥

मिष्ट, अन्नपान, शयन, आसन, गन्ध, माला, वस्त्र, स्त्री, आभूषण, वाहन, यान और महल आदि सभी वस्तुएँ पूर्वकृत पुण्य के उदयकाल में

प्रयत्न के बिना ही पुरुष के पास पहुँच जाती हैं ॥208॥

"भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" इत्यवधिज्ञानेन सर्ववृत्तान्तं ज्ञात्वा भणितम्-स जिनदत्तो मम धर्मोप- देशदाता, तस्योपकारं कदापि न विस्मरामि । अन्यथा मां विहाय कोऽप्यन्यो नास्ति पापी । तथा चोक्तम्-

"भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" इस सूत्र के अनुसार कहे हुए अवधिज्ञान के द्वारा समस्त वृत्तान्त जानकर उसने कहा कि-वह जिनदत्त मुझे धर्मोपदेश को देने वाला है । मैं उसका उपकार कभी नहीं भूलूँगा अन्यथा मुझे छोड़ दूसरा पापी नहीं होगा । कहा भी है-

य: प्रत्युपकृतिं मत्र्य: प्रकुरुते न मन्दधी: ।
दधाति स वृथा जन्म लोके जनविनिन्दितम् ॥209॥
अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्योपदेशकम् ।
दातारं विस्मरन्पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम् ॥210॥

जो मन्दबुद्धि मनुष्य प्रत्युपकार नहीं करता है, वह लोक में मनुष्यों के द्वारा निन्दित जन्म को व्यर्थ ही धारण करता है ॥209॥

जो एक ही अक्षर के उपदेशक अथवा एक ही पदार्थ के दाता को भूल जाता है, वह पापी है फिर धर्मोपदेशक को भूलने वाले की क्या बात है? ॥210॥

इत्येवं सर्वं विचार्य निजगुरूपसर्गनिवारणार्थं दण्डधरो भूत्वा श्रेष्ठिगृहद्वारेऽतिष्ठत । आगतान् राज-किङ्करान्प्रति भणितं तेन-रे वराका:! किमर्थमागच्छथ । तैरुक्तम्-रे रङ्क अस्माकं हस्तेन किं मरणं वाञ्छसि । तेनोक्तम्-रे युष्माभिर्बहुभि: स्थूलै: किं प्रयोजनम्? यस्य तेजो विराजते स एव बलवान् । तथा चोक्तम्-

इस प्रकार सब कुछ विचार कर वह देव अपने गुरु का उपसर्ग निवारण करने के लिए दण्डधारी होकर श्रेठी के गृह द्वार पर बैठ गया और आये हुए राज सेवकों से उसने कहा - अरे क्षुद्र पुरुषों! किस लिए आये हो?

उन्होंने कहा - रे रंक! हमारे हाथ से क्या मरना चाहता है?

उसने कहा - अरे! तुम लोग अनेक तथा स्थूल हो सही पर उससे क्या प्रयोजन? जिसका तेज सुशोभित होता है वही बलवान होता है । जैसा कि कहा है -

हस्ती स्थूलतनु: स चाङ्क्वशवश: किं हस्तिमात्राङ्क्वशो-
वज्रेणापि हता: पतन्ति गिरय: किं वज्रमात्रो गिरि: ।
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तम: किं दीपमात्रं तम:
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु क: प्रत्यय: ॥211॥

हाथी स्थूल होता है वह भी अंकुश के वश होता है सो क्या वह अंकुश हाथी के बराबर होता है? वज्र से भी ताड़ित हुए पहाड़ गिर जाते हैं सो क्या पहाड़ वज्र के बराबर होते हैं और दीपक के प्रज्वलित होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है सो क्या अन्धकार दीपक के बराबर होता है? परमार्थ यह है कि जिसके तेज होता है वही बलवान होता है । स्थूल लोगों में क्या विश्वास किया जाये? ॥211॥

तथा च-

और भी कहा है-

कृशोऽपि सिंहो न समो गजेन्द्रै: सत्त्वं प्रधानं न च मांसराशि ।
अनेकवृन्दानि वने गजानां सिंहस्य नादेन मदं त्यजन्ति ॥212॥

सिंह दुबला होकर भी गजराजों के समान नहीं होता । बल प्रधान है, मांस की राशि नहीं । वन में सिंह की गर्जना से हाथियों के अनेक झुण्ड मद छोड़ने लगते हैं ॥212॥

जीर्ण ततो दण्डेन केचन भूमौ पातिता:, केचन मारिता:, केचन प्रचण्डदण्डिनो मोहिताश्च । एतद्वृत्तान्तं केनचिद् राज्ञोऽग्रे निरूपितम् । ततो राज्ञाऽन्येऽपि तद्वधार्थं प्रेषिता: । तेऽपि तथैव मारिता: । तत: कुपितो राजा चतुरङ्गबलेन सह समागत: । महति संग्रामे जाते सति सर्वेऽपि मारिता: । राजा एक एव स्थित: । देवेन महाभयंकरं राक्षसरूपं धृतम् । सर्वानागतान् राजानं च भयभ्रान्तचित्तानकरोत् । राजा भयाद्भीत: भयाक्रान्तेन राज्ञा पलयतां कृतं । पृठे स देवो लग्न: । भणितं च तेन-रे पापिठ! अधुना यत्र व्रजसि तत्र मारयामि । यदिग्रामबहि:स्थ

सहस्रकूटजिनालयनिवासि-श्रेष्ठिजिनदत्तस्य शरणं गच्छसि चेद् रक्षयामि, नान्यथा ।
एतद्वचनं श्रुत्वा श्रेष्ठिशरणं प्रविष्टो राजा । भणिर्त तेन-भोश्रेष्ठिन् रक्ष रक्ष तव" शरणं प्रविष्टोऽस्मि । रक्षिते सति पुन: प्रतिष्ठा कृता भवतीति । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर उसने कितने ही राजकिंकरों को दण्ड से पृथ्वी पर गिरा दिया कितनों को मार डाला और प्रचण्ड दण्ड को धारण करने वाले कितने ही लोगों को मोह में डाल दिया-मूच्र्छित कर दिया ।
यह सब समाचार किसी ने राजा के आगे कह दिया । जिससे राजा ने उसे मारने के लिए और भी सेवक भेजे परन्तु वे भी उसी तरह मारे गये । तब राजा कुपित होकर चतुरंग सेना के साथ स्वयं आया । बहुत भारी युद्ध होने पर सभी मारे गये । एक राजा ही रह गया । देव ने महाभयंकर राक्षस का रूप रख लिया और आये हुए सब लोगों तथा राजा को भय से भ्रान्तचित्त कर दिया । राजा भयभीत हो गया । भय से युक्त हो उसने भागना शुरू किया परन्तु वह देव पीछे लग गया । उसने कहा - अरे पापी! इस समय तू जहाँ जायेगा वहीं मारूँगा । यदि गाँव के बाहर स्थित सहस्रकूट जिनालय में निवास करने वाले जिनदत्त सेठ की शरण में जाओगे तों बचाऊँगा अन्यथा नहीं । यह वचन सुन राजा सेठ की शरण में प्रविष्ट हुआ ।
राजा ने कहा - हे सेठ बचाओ, बचाओ तुम्हारी शरण में प्रविष्ट आया हूँ । रक्षा करने पर पुन: प्रतिष्ठा होती है । जैसा कि कहा है -
जीर्णं जिनगृहं बिम्बं पुस्तकं श्राद्धमेव वा ।
उद्धार्य स्थापनं पूर्वं पुण्यतोऽधिकमुच्यते ॥213॥
नष्टं कुलं कूपतडागवापी: प्रभ्रष्टराज्यं शरणागतञ्च ।
गां ब्राह्मणं जीर्णसुरालर्य य उद्धरेत्पुण्यचतुर्गुणं स्यात् ॥214॥
जीर्ण जिनमन्दिर, जिनबिम्ब, पुस्तक और श्राद्ध का उद्धार कर फिर से स्थापित करना पूर्व पुण्य से अधिक कहलाता है ॥213॥
नष्ट हुए कुल, कुँआ, तालाब, बावड़ी, राज्यभ्रष्ट तथा शरणागत राजा, गाय, ब्राह्मण, देवमन्दिर का जो उद्धार करता है उसे चौगुना पुण्य होता है ॥214॥
एवं श्रुत्वा श्रेष्ठिना मनसि चिन्तितम्-अयं राक्षश: कोऽपि विक्रियावान् । अन्यस्यैतन्माहात्म्यं न दृश्यते । ततो भणितम्-हे देव! प्रपलायमानस्य पृठतो न लग्यते । तथा चोक्तम्-
ऐसा सुनकर सेठ ने मन में विचार किया यह राक्षस कोई विक्रियाधारी है । अन्य दूसरे का ऐसा माहात्म्य नहीं दिखाई देता । इसके पश्चात् कहा - हे देव! भागते हुए के पीछे नहीं लगा जाता है । जैसा कि कहा है -
भीरु चलायमानोऽपि नान्वेष्टव्यो बलीयसा ।
कदाचिच्छूरतामेति मरणे कृतनिश्चय: ॥215॥
भागते हुए भयभीत मनुष्य का बलवान् को पीछा नहीं करना चाहिए क्योंकि कदाचित् यह हो सकता है कि मरने का निश्चय कर वह शूरवीरता को प्राप्त हो जाये ॥215॥
एतच्छ्रेठिवचनं श्रुत्वा राक्षसरूपं परित्यज्य देवो जात: । श्रेष्ठिनं त्रि:प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृतवान् । पश्चाद्देवं गुरं च नमस्कृत्योपविष्टो देव: । राज्ञा भणितं-हे देव । स्वर्गे विवेको नास्ति, यतो देवं गुरं च त्यक्त्वा प्रथमं गृहस्थवन्दना कृता त्वया । अपक्रमोऽयम् । तथा चोक्तम्-
सेठ के यह वचन सुनकर वह राक्षस का रूप छोड़कर देव हो गया । उसने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर सेठ को नमस्कार किया । तदनन्तर देव और गुरु को नमस्कार कर वह देव बैठ गया । राजा ने कहा - हे देव! स्वर्ग में विवेक नहीं है क्योंकि देव और गुरु को छोड़कर तुमने पहले गृहस्थ को नमस्कार किया है । यह क्रमभंग है जैसा कि कहा है -
अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम् ।
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरून् देवांश्च वन्दते ॥216॥
जहाँ प्रसिद्ध क्रम का उल्लंघन होता है वह अपक्रम कहलाता है जैसे भोजन करके स्नान करता है और उसके बाद गुरु तथा देव की वन्दना करता है ॥216॥
देवेनोक्तम्-हे राजन् समस्तमपि विवेकं जानामि । पूर्वं देवस्य नति:, पश्चाद्गुरोर्नतिस्तदनन्तरं श्रावकस्येच्छाकारो यथायोग्यं जानामि ।

किन्त्वत्र कारणमस्ति । एवं श्रेठी मम मुख्यगुरुस्तेन कारणेन प्रथमं वन्दनां करोमि । राज्ञा देव: पृष्ट:-केन सम्बन्धेन तव मुख्यगुरुर्जात: श्रेठी? ततस्तेन देवेन स्वकीयचोरभवस्य साम्प्रतं पूर्व: समस्तो वृत्तान्तो निरूपितो राज्ञोऽग्रे । तत्र केनचिद्भणितमहो सत्पुरुषोऽयम् । सन्त: कृतमुपकारं न विस्मरन्ति । तथा चोक्तम्-

देव ने कहा - हे राजन्! मैं सभी विवेक जानता हूँ कि पहले देव को नमस्कार किया जाता है तदनन्तर गुरु को और उसके पश्चात् श्रावक को यथायोग्य इच्छाकार किया जाता है; किन्तु यहाँ कारण है, यह सेठ मेरा मुख्य गुरु है, इस कारण इन्हें पहले नमस्कार करता हूँ । राजा ने देव से पूछा कि किस सम्बन्ध से यह सेठ तुम्हारा मुख्य गुरु हुआ है? तब उस देव ने अपने चोर के भव का और वर्तमान भव का समस्त पूर्व वृतान्त राजा के सामने कह दिया । वहाँ किसी ने कहा - अहो यह तो सत्पुरुष है-सज्जन है, सज्जन किए हुए उपकार को नहीं भूलते हैं । जैसा कि कहा है-

प्रथमवयसि पीतं तोयमल्पं स्मरन्त:  
शिरसि निहितभारा नालिकेरा नराणाम् ।  
उदकममृततुल्यं दद्यु राजीवितान्तं  
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥217॥

नारियल के वृक्षों ने अपनी प्रथम अवस्था में थोड़ा-सा पानी पिया था इसलिए पानी का उपकार मानते हुए वे अपने शिर पर जल सहित फलों का बहुत भारी भार धारण करते हैं और मनुष्यों को जीवन पर्यन्त अमृत के तुल्य पानी देते हैं, सो उचित ही है क्योंकि सत्पुरुष किये हुए उपकार को भूलते नहीं हैं ॥217॥

राज्ञोक्तम्-केन प्रेर्यमाण: सन्नेव श्रेठी कृतवानेवम् देवेनोक्तम्-भो राजन्! महापुरुषस्वभावोऽ-यम्-ये केचन सज्जना: स्युस्ते प्रार्थनां बिनापि सर्वेषामुपकारं कुर्वन्ति । तथा चोक्तम्-

राजा ने कहा - किससे प्रेरित होते हुए इस सेठ ने ऐसा किया?

देव ने कहा - हे राजन्! महापुरुष का यह स्वभाव है कि जो सज्जन होते हैं, वे प्रार्थना के बिना ही सबका उपकार करते हैं । जैसा कि कहा है -

कस्यादेशात्प्रहरति तम: सप्तसप्ति: प्रजानां  
छायाहेतो: पथि विटपिनामञ्जलि: केन बद्धा ।  
अभ्यर्थ्यन्ते जललवमुच: केन वा वृष्टिहेतो-  
र्जात्या चैते परहित-विधौ साधवो बद्धकक्षा: ॥218॥

किसकी आज्ञा से सूर्य लोगों के अन्धकार को नष्ट करता है? मार्ग में छाया के लिए वृक्षों के हाथ किसने जोड़े हैं? अथवा वृष्टि के लिए मेघों से कौन प्रार्थना करते हैं? किसी ने नहीं, परमार्थ यह है कि वे साधु जन स्वभाव से ही पर का हित करने के लिए उद्यत रहते हैं । सज्जन और दुर्जनों का यह महान् स्वभाव भेद है ॥218॥

तदसतोरयं महान् स्वभावभेद: । यतश्च-

छिनत्यम्बुज-पत्राणि हंस: सन्नवसन्नपि ।  
सन्तोषयति तान्येव दूरस्थोऽपि दिवाकर: ॥219॥

हंस निकट में रहता हुआ भी कमल के पत्तों को छिन्न-भिन्न करता है और सूर्य दूर स्थित होकर भी उन्हें संतुष्ट करता है ॥219॥

पश्चात् सर्वेषामग्रे राज्ञोक्तम्-सर्वेषां धर्माणां मध्ये महान् धर्मोऽयं जैनधर्मो महता सुकृतेन लभ्यते ।

श्रेष्ठिनोक्तम् - भो राजन्! त्वयोक्तं सत्यमेव चूडामणीयते । अल्पपुण्यैर्नलभ्यतेऽयं धर्म: । तथा चोक्तम्-

पश्चात् सबके आगे राजा ने कहा - सब धर्मों के मध्य में यह जैनधर्म महान् पुण्य से प्राप्त होता है ।

सेठ ने कहा - हे राजन्! आपका कहना सचमुच ही चूड़ामणि के समान है । हीन पुण्यात्मा जनों के द्वारा यह कर्म प्राप्त नहीं किया जा सकता । जैसा कि कहा है -

जैनोधर्म: प्रकटविभव: संगति: साधु-लौकै-

र्विद्वद्गोठी वचनपटुता कौशलं सर्वशास्त्रे ।
साध्वी रामा, चरणकमलोपासनं सद्गुरूणां
शुद्धं शीलं मतिरमलिना प्राप्यते नाल्पपुण्यै: ॥220॥
प्रकट महिमा से युक्त जैनधर्म सज्जनों के साथ संगति, विद्वानों की गोठी, वचनों की चतुराई समस्त शास्त्रों में कुशलता, पतिव्रता स्त्री, सद्गुरुओं के चरण-कमलों की सेवा, शुद्ध शील और निर्मल बुद्धि अल्प पुण्यशाली जीवों को प्राप्त नहीं होती है ॥220॥
लोकोत्तरं हि पुण्यस्य माहात्म्यम् । तथा चोक्तम्-
सचमुच ही पुण्य की महिमा लोक में सर्वश्रेठ है । जैसा कि कहा है-
पुण्यादिष्ट-समागमोमतिमतां हानिर्भवेत्कर्मणां-
लब्धि: पावनतीर्थभूतवपुष: साधो शुभाचारिण: ।
उत्पथ्यं सुपथं यत: परमधी: कान्ति: कला कौशलं
सौभाग्यं सकलं त्रिलोकपतिगं तत्संख्यलोकार्चितम् ॥221॥
पुण्य से बुद्धिमान् जनों को इष्ट का समागम होता है, कर्मों की हानि होती है पवित्र तीर्थ-स्वरूप शरीर को धारण करने वाले शुभाचारी साधु की प्राप्ति होती है, कुमार्ग-सुमार्ग हो जाता है उत्कृष्ट बुद्धि कान्ति, कला-कौशल और तीनलोक के द्वारा पूजित त्रिलोकीनाथ का समस्त सौभाग्य पुण्य से ही प्राप्त होता है ॥221॥
ततस्तेन देवेन पञ्चाश्चर्येण जिनदत्तश्रेठी प्रपूजित: प्रशंसितश्च । अहं चौरोऽपि तव प्रसादेन देवो जात: । निष्कारणेन परोपकारित्वंते । एतत्सर्वं प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा वैराग्यसम्पन्नो भूत्वा भणति च राजा- अहो! विचित्रं धर्मस्य माहात्म्यम् । देवा अपि धर्मस्य दासत्वं कुर्वन्ति । एवं सर्वेऽप्यबला बालादयो जानन्ति । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर उस देव ने पञ्चाश्चर्यों के द्वारा जिनदत्त सेठ की बहुत भारी पूजा की और अत्यधिक प्रशंसा की । मैं चोर होकर भी आपके प्रसाद से देव हो गया हूँ । आपका परोपकारीपन अकारण है **अर्थ**ात् आप किसी स्वार्थ के बिना ही परोपकार करते हैं ।
यह सब प्रत्यक्ष देखकर तथा वैराग्य से युक्त होकर राजा ने कहा - अहो! धर्म की महिमा विचित्र है । देव भी धर्म का दासपना करते हैं । इस प्रकार सभी स्त्री तथा बालक आदि जानते हैं । जैसा कि कहा है-
सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्प-दामायते
सम्पद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपु: ।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनस: किं वा बहु ब्रूमहे
धर्मो यस्य नभोंऽपि तस्य सततं रत्नै: परैर्वर्षति ॥222॥
धर्म के प्रभाव से साँप हार बन जाता है, तलवार उत्तम फूलों की माला के समान आचरण करने लगती है, विष भी रसायन हो जाता है, शत्रु प्रीति करने लगता है, देव प्रसन्नचित्त होकर वश में हो जाते हैं अधिक क्या कहें? जिसके धर्म है उसके लिए आकाश भी निरन्तर उत्तम रत्नों की वर्षा करता है ॥222॥
ततो राज्ञा पुत्रं स्वपदे संस्थाप्य दीक्षा गृहीता । तथैव मन्त्रिणा तथैव श्रेष्ठिनाऽन्यैश्च वैराग्याचित्त- चित्तैर्बहुभिर्दीक्षा गृहीता जिनचन्द्र-मुनीश्वर-समीपे । केचनाणुव्रतधारिण: श्रावका, केचन भद्रपरिणामिनश्च संजाता: । सर्वेषां जिनधर्मस्थिरताभूत् । देवोऽपि दर्शनं गृहीत्वा स्वर्गं गत: । ततोऽर्हद्दासेनोक्तं-भो भार्या:! एतत्सर्वं मया प्रत्यक्षेण दृष्टम्, अतएव सम्यग्दृष्टिर्जातोऽहम् । भार्याभि-र्भणितम्-भो स्वामिन्! यत्त्वया बाल्यत्वे दृढतरं दृष्टं श्रुतमनुभूतं च तत्सर्वं वयं सर्वा अपि श्रद्दध्म:, इच्छामो, रोचामहे । एतद्धर्मफलानुमोदनव्याऽस्माकमपि पुण्यं भवतु । ततो लब्ध्या भार्यया कुन्दलव्या भणितम्-एतत्सर्वं व्यलीकमतएवाहं न श्रद्धामि, नेच्छामि न रोचे । एवं कुन्दलताया: वचनं श्रुत्वा राजा मन्त्री चौरश्च कुपित: चिन्व्यति । राज्ञोक्तम्-एतन्मया प्रत्यक्षेण दृष्टम्, मत्पिता मम राज्यं दत्त्वा तपस्वी जात: । मन्त्रिणापि तथैव भणितम्-एतत्सर्वं मया प्रत्यक्षेण दृष्टम् । मत्पित्रा चौर: शूले निक्षिप्त: । श्रेष्ठिनापि निगदितम्-पञ्चनमस्कारमन्त्रप्रभावेण चौर: स्वर्गे देवो जातस्तस्मादागत्य श्रेष्ठिन उपसर्गो निवारितस्तेन । राजा कथयति-सर्वेऽपि जना: जानन्ति । कथमियं पापिठा न मानयति, श्रेष्ठिवचनं व्यलीकं निरूपयति । साम्प्रतं सभामध्ये गत्वा किमपि कथयितुं न शक्यते, प्रभात समयेऽस्या निग्रहं करिष्यामि । पुनरपि चौरेणोक्तम्-नीचस्वभावेयं

यत्प्रसादाज्जीवति तस्यैव निरूपकं करोति ।
॥ इति प्रथम कथा ॥
तदनन्तर राजा ने पुत्र को अपने पद पर बैठाकर दीक्षा ग्रहण कर ली । इसी प्रकार जिनके चित्त वैराग्य से व्याप्त हैं, ऐसे मंत्री सेठ तथा अन्य लोगों ने भी दीक्षा धारण कर ली । कई अणुव्रतों को धारण करने वाले श्रावक हुए और कई भद्रपरिणामी हुए । सबकी जैनधर्म में स्थिरता हुई । देव भी दर्शन कर स्वर्ग चला गया ।
तदनन्तर अर्हद्दास ने कहा - हे पत्नियों । यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है सुना है और अनुभव किया है । अत: मैं सम्यग्दर्शन का धारी हुआ हूँ । भार्याओं ने कहा - हे स्वामिन् । जो आपने बाल्यावस्था में अच्छी तरह देखा, सुना और अनुभव किया है, उस सबकी हम लोग श्रद्धा करती हैं, इच्छा करती हैं उसकी रुचि करती हैं । इस धर्मफल की अनुमोदना का मुझे भी पुण्य हो ।
तदनन्तर छोटी स्त्री कुन्दलता ने कहा कि - यह सब झूठ है इसलिए मैं इसकी न श्रद्धा करती हूँ, न इच्छा करती हूँ और न इसकी रुचि करती हूँ । कुन्दलता का ऐसा कहना सुनकर राजा, मंत्री और चोर कुपित होकर विचार करते हैं ।
राजा ने कहा कि-यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है । मेरे पिता मुझे राज्य देकर तपस्वी हुए थे ।
मन्त्री ने भी ऐसा ही कहा कि - यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है । मेरे पिता ने चोर को शूली पर चढ़ाया था ।
सेठ ने भी कहा कि - पञ्च नमस्कारमन्त्र के प्रभाव से चोर स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर उसने सेठ का उपसर्ग दूर किया ।
राजा कहता है कि सभी लोग जानते हैं फिर यह पापिनी क्यों नहीं मानती है, सेठ के वचन को झूठा बतलाती है । इस समय सभा के बीच जाकर कुछ भी कहा नहीं जा सकता परन्तु प्रात:काल इसका निग्रह करँगा ।
फिर भी चोर ने कहा कि - यह नीच स्वभाव वाली है जिसके प्रसाद से जीवित है उसी की बुराई करती है ।
॥ इस प्रकार प्रथम कथा पूर्ण हुई॥

## सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली मित्रश्री की कथा

सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली मित्रश्री की कथा
कथा :
सम्यक्त्वप्राप्तमित्रश्रिय: कथा
इति सम्यक्त्वकारणकथां निरूप्य मित्रश्रियं प्रति श्रेठी भणति-भो भार्ये! त्वयापि किमपि श्रीधर्म-माहात्म्यं दृष्टं श्रुतमनुभूतं भवति तदा निवेदय । ततो मित्रश्री: धर्मफलं कथयति-
मगधदेशे राजगृहनगरे राजा संग्रामशूर:- राज्यं करोति । तस्य राज्ञी कनकमाला, तत्रैव नगरे श्रेठी वृषभदासो महासम्यग्दृष्टि: पञ्च-गुणोपेत: परमधार्मिक: सर्व-लक्षण-संपूर्णश्च वसति । तथा चोक्तम्-
इस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली कथा का निरूपण कर सेठ मित्रश्री से कहते हैं कि प्रिये! तुमने भी श्रीधर्म का कुछ माहात्म्य देखा, सुना अथवा अनुभव किया हो तो उसे कहो । तदनन्तर मित्रश्री धर्म का फल कहती है ।
मगध देश के राजगृह नगर में राजा संग्राम शूर राज्य करते थे । उनकी रानी का नाम कनकमाला था । उसी नगर में सेठ वृषभदास रहता था, जो महान् सम्यग्दृष्टि था, पञ्च गुणों से सहित था, परम धार्मिक था और संपूर्ण लक्षणों से सहित था । जैसा कि कहा है-
पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगे परिजनै: सह ।
शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पुरुष: पञ्चलक्षण: ॥223॥
जो योग्य पात्र में त्याग करने वाला हो, गुण में राग करने वाला हो, भोग में परिजनों के साथ रहता हो, शास्त्र में ज्ञाता हो और युद्ध में योद्धा हो; वही पञ्च लक्षणों, पाँच गुणों को धारण करने वाला पुरुष है ॥223॥
तस्य श्रेष्ठिनो भार्या जिनदत्ता । सापि परमधार्मिका सम्यक्त्वादि-गुणोपेता, दक्षत्वादिगुणौघै: मूर्तिमतिश्रीरिव सर्वलक्षणसम्पूर्णा च । तथा चोक्तम्-
उस सेठ की स्त्री का नाम जिनदत्ता था । वह जिनदत्ता भी परम धार्मिक सम्यक्त्वादि गुणों से सहित दक्षता आदि गुणों के समूह से मूर्तिमती लक्ष्मी के समान तथा समस्त लक्षणों से युक्त थी । जैसा कि कहा है-

आज्ञाविधायिनी तुष्टा दक्षा साध्वी विचक्षणा ।
एभिरेव गुणैर्युक्ता श्रीरेव स्त्रीर्न संशय: ॥224॥
जो आज्ञाकारिणी हो, संतुष्ट हो, दक्ष हो, साध्वी हो, पतिव्रता हो तथा विदुषी हो इन्हीं गुणों से युक्त स्त्री लक्ष्मी ही है, इसमें संशय नहीं है ॥224॥
एवं गुणविशिष्टापि सा जिनदत्ता, परन्तु वन्ध्यात्वदूषणेन दूषिता । केनाप्युपायेन तस्या: पुत्रो न भवति । एकस्मिन् दिवसेऽवसरं प्राप्यकरौ कुड्मलीकृत्य निजस्वामिनं प्रति भणितं व्या-भो स्वामिन् पुत्रं बिना कुलं न शोभते, वंशच्छेदोऽपि भविष्यति । अतएव सन्तानवृद्ध्यर्थं द्वितीयो विवाह: कर्तव्य: । तथाचोक्तम्-
जिनदत्ता यद्यपि इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट थी परन्तु बन्ध्यात्व नामक दोष से दूषित थी । किसी भी उपाय से उसके पुत्र नहीं होता था । एक दिन अवसर पाकर तथा हाथ जोड़कर उसने अपने पति से कहा - हे स्वामिन् । पुत्र के बिना कुल सुशोभित नहीं होता है तथा वंश का विच्छेद भी हो जायेगा इसलिए सन्तान की वृद्धि के लिए दूसरा विवाह करने के योग्य है । जैसा कि कहा है -
तारुणं लावणं पि य पेम्मं भूसणाइसंभारो ।
सव्वो पलाल सरिता एक्केण विणा सुपुत्तेण ॥225॥
नागो भाति मदेन कं जलरुहै: पूर्णेन्दुना शर्वरी ।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्य: सभा पण्डितै:॥
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगों नित्योत्सवैर्मन्दिरं ।
सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा लोंकत्रयं धार्मिकै: ॥226॥
शर्वरीदीपकश्चन्द्र: प्रभातो रविदीपक: ।
त्रैलोंक्यदीपको धर्म: सत्पुत्र: कुलदीपक: ॥227॥
पुनश्च- संसारश्रान्तजीवानां तिस्रौ विश्रामभूमय: ।
अपत्यं च2कलत्रं च सतां संगतिरमव च ॥228॥
यौवन, सौन्दर्य, प्रेम और आभूषणों का समूह सब कुछ एक पुत्र के बिना भूसी के समान है ॥225॥
हाथी मद से, पानी कमलों से, रात्रि पूर्ण चन्द्रमा से, वाणी व्याकरण से, नदियाँ हंस हंसिनियों के युगलों से, सभा विद्वानों से, स्त्री शील से, घोड़ा वेग से, मन्दिर नित्य प्रति होने वाले उत्सवों से, कुल सत्पुत्र से, राजा से पृथ्वी और धर्मात्माओं से तीनों लोक सुशोभित होते हैं ॥226॥
रात्रि का दीपक चन्द्रमा है, प्रभात का दीपक सूर्य है, तीन लोक का दीपक धर्म है और कुल का दीपक उत्तम पुत्र है ॥227॥
और भी कहा है-संसरण-पञ्च परावर्तन से थके हुए जीवों के लिए विश्राम की भूमियाँ तीन हैं-पुत्र, स्त्री और सत्संगति ॥228॥
मिथ्यादृष्टयोऽप्येवं वदन्ति-पुत्रं विना गृहस्थस्य गतिर्नास्ति । तथा चोक्तम्-
मिथ्यादृष्टि लोग भी ऐसा कहते हैं कि पुत्र के बिना गृहस्थ की गति नहीं है । जैसा कि कहा है -
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुक: ॥229॥
पुत्र रहित मनुष्य की गति नहीं होती, उसे स्वर्ग तो प्राप्त होता ही नहीं है इसलिए पुत्र का मुख देखकर पश्चात् भिक्षुक-संन्यासी हुआ जाता है ॥229॥
श्रेष्ठिना भणितम्-भो भद्रे तव कथितं सत्यं परमसत्यं, परमिदं शरीरमपि सर्वमनित्यं दृष्टवा यो भोगानुभवनं करोतु स विवेकशून्य एव । पुनरपि श्रेष्ठिना भणितम्-परिपूर्णसप्ततिवर्षकोऽहम्, अत: पाणिग्रहणं न युज्यते । वृद्धत्वे धर्मं विहायैवं क्रियते चेल्लोके मोहमाहात्म्यं, हास्यं विरुद्धं च भविष्यति । तथा चोक्तम्-
सेठ ने कहा - हे भद्रे! तुम्हारा कहना यद्यपि सत्य है तथापि असत्य है । यह शरीर भी पर है, सभी वस्तुओं को अनित्य देखकर जो भोगों का अनुभव करता है वह विवेक से शून्य ही है । फिर भी सेठ ने कहा कि-मेरे सत्तर वर्ष पूर्ण हो चुके हैं अत: विवाह करना उचित नहीं है ।

वृद्धावस्था में धर्म को छोड़कर यदि ऐसा किया जाता है-विवाह किया जाता है तो लोक में मोह की महिमा हँसी और विरुद्धता होगी । जैसा कि कहा गया है-

एषा तनो: कवलनायकृता कृतान्त
वाञ्छोदयेन परमन्तरिता समास्ते ।
नित्यामिमां किल मुधा बहु मन्यमाना
मुह्यन्ति हन्त विषयेषु विवेकशून्या: ॥230॥
रोगेप्यङ्गविभूषणद्युतिरियं शोकेऽपि भोगस्थिति-
र्दारिद्रयेऽपि गृहे वय:-परिणतावप्यङ्गनासंगम: ।
येनान्योंन्यविरुद्धमेतदखिलं जानन् जन: कार्यते
सोऽयं सर्वजगत्त्रयीं विजयते व्यामोहमल्लो महान् ॥231॥

शरीर को ग्रसने के लिए यमराज ने यह इच्छा कर रखी है परन्तु वह मोहोदय से अन्तरित हो रही है । जो मनुष्य इस शरीर को नित्य मानते हुए व्यर्थ ही विषयों में मोहित हो रहे हैं वे विवेक से शून्य हैं ॥230॥

रोग होने पर भी शरीर को आभूषणों से सजाना, शोक रहते हुए भी भोगों में निमग्न रहना, दरिद्रता होने पर भी घर में रहना और अवस्था पक जाने-वृद्धावस्था आ जाने पर भी स्त्री समागम करना... यह सब परस्पर विरुद्ध बातें हैं । इन्हें जानता हुआ भी मनुष्य जिससे प्रेरित हो इन्हें करता है वह महान् मोहरूपी मल्ल समस्त तीनों लोकों को जीतता है ॥231॥

व्योक्तम्-भो पते! भोगरागवशतो यद्येवमतिक्रम: क्रियते सदा हास्यस्य कारणं भवति, सन्तानवृद्धये न च दोष:, इति महता कष्टेन श्रेष्ठिना प्रतिपन्नम् । तत्रैव नगरे निजपितृबन्धु जिनदत्तबन्धुश्रियो: पुत्री कनकश्रीरस्ति । सा सपत्नभगिनी व्या याचिता । उभाभ्यां भणितम्-सपत्न्युपरि न दीयते । जिनदत्तया भणितम्-भोजनकालं मुक्त्वा कनकश्रीगृहे नागच्छामि । जिनगृहे एवाहं तिष्ठामीति शपथं कृत्वा याचिता, ताभ्यां दत्ता च । शुभमुहूर्ते विवाहो जात: । जिनदत्ता श्रेष्ठिनी तत: शनै: शनै: सर्वगृहभारं सपत्नीकरमध्ये विमुच्य दिवानिशं धर्मपरायणा जाता । गृहचिन्तां कामपि न विदधाति । कालक्रमेण कनकश्रिय: पुत्रोऽभूत् एवं जिनदत्ता जिनगृहस्थिता दम्पती च स्वगृहे सुखेन स्थितौ । एकदा कनकश्रीर्निजमातृगृहं गता । मात्रा पृष्टा-भो पुत्रि! निजभत्र्रा सह सुखानुभव: क्रियते न वा? पुत्र्योक्तम्-हे मात! मम भर्ता मया सह वचनालापमपि न करोति, कामभोगेषु का वार्ता? अन्यच्च, मां सपत्न्युपरि विवाहयितुं दत्त्वा किं सौख्यं पृच्छसि? मुण्डे मुण्डनं कृत्वा पश्चान्नक्षत्रं, पानीयं पीत्वा पश्चाद् गृहं च पृच्छसि । मता तुषमात्रमपि सुखं नास्ति । जिनदत्तया मम भर्ता सर्वप्रकारेण गृहीत: । तौ दम्पती जिनालये सर्वदा तिष्ठत:, तत्रैव सुखानुभवनं कुरुत:, मध्याह्नकाले संध्यासमये च भोजनं कर्तुमागच्छत: । एकाकिनी क्षीणगात्राहं रात्रौ स्वभाग्य-निन्दां करोति । एतत्सर्वमसत्यं मायया स्वमातुरग्रे कनकश्रिया प्रतिपादितम् । ततो बन्धुश्रिया भणितम्-रतिरूपामिमां मत्पुत्रीं परित्यज्य जिनालये जराजर्जरितां वृद्धां सेवते । अतएव काम्युचितानुचितं न जानाति । तथा चोक्तम्-

स्त्री ने कहा - हे स्वामिन् यदि भोगों के राग के वशीभूत हो ऐसा अपराध किया जाता है तो वह हँसी का कारण होता है परन्तु सन्तान वृद्धि के लिए ऐसा करना दोष नहीं है, इस प्रकार स्त्री के कहने पर सेठ ने बड़ी कठिनाई से दूसरा विवाह करना स्वीकृत कर लिया ।

उसी नगर में अपने पिता के भाई जिनदत्त और उनकी स्त्री बन्धुश्री की कनकश्री नामक पुत्री थी । सेठानी ने उसे अपनी सपत्नी बनाने के लिए याचना की । परन्तु दोनों ने कह दिया कि सौत के ऊपर पुत्री नहीं दी जाती है ।

जिनदत्ता ने कहा - भोजन का समय छोड़कर मैं कनकश्री के घर नहीं आऊँगी जिनमन्दिर में ही रहूँगी, ऐसी शपथ कर उसने कनकश्री की याचना की । उसके माता-पिता ने उसे दे दिया और शुभ मुहूर्त में विवाह हो गया । तदनन्तर जिनदत्ता सेठानी धीरे-धीरे घर का सब भार सपत्नी के हाथ में छोड़कर दिन-रात धर्म में तत्पर रहने लगी । वह घर की कुछ भी चिन्ता नहीं करती थी । कालक्रम से कनकश्री के पुत्र हो गया । इस प्रकार जिनदत्ता जिनमन्दिर में और दम्पत्ति अपने घर में सुख से रहने लगे ।

एक दिन कनकश्री अपनी माता के घर गयी । माता ने उससे पूछा कि हे पुत्री! अपने पति के साथ सुख का अनुभव करती हो या नहीं? पुत्री ने कहा - हे मात! मेरा पति मेरे साथ वार्तालाप भी नहीं करता है कामभोग की तो बात ही क्या है, दूसरी बात यह है कि मुझे सपत्नी के ऊपर विवाह कर सुख की बात क्यों पूछती हो? शिर पर मुण्डन कराकर पीछे नक्षत्र और पानी पीकर पीछे घर पूछती हो । मुझे

तुषमात्र भी सुख नहीं है । जिनदत्ता ने मेरे पति को सब प्रकार से वश में कर रखा है । वे दोनों दम्पत्ति सदा जिनमन्दिर में रहते हैं वहीं सुख का अनुभव करते हैं, मध्याह्नकाल तथा संध्या समय भोजन करने के लिए आते हैं । मैं अकेली दुर्बल शरीर होकर रात्रि में भाग्य की निन्दा करती रहती हूँ । यह सब मिथ्या समाचार कनकश्री ने मायाचार से अपनी माता के आगे कहा ।

तदनन्तर बंधुश्री ने कहा कि-रति स्वरूप मेरी इस पुत्री को छोड़कर मन्दिर में जरा जर्जरित क्या स्त्री का सेवन करता है? इसीलिए कामी मनुष्य उचित कार्य को नहीं जानता है । जैसा कि कहा गया है -

किमु कुवलयनेत्रा: सन्ति नो नाकनार्य-
स्त्रिदशपतिरहिल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
हृदयतृण-कुटीरम दह्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति क: पण्डितोऽपि ॥232॥

क्या कुवलय नील-कमल के समान नेत्रों वाली देवांगनाएँ थी, जिससे इन्द्र ने अहिल्या नामक तापसी का सेवन किया । ठीक ही है क्योंकि हृदयरूपी कुटी में कामाग्नि के प्रज्ज्वलित रहते हुए विद्वान् होकर भी उचित और अनुचित को कौन जानता है? ॥232॥

तस्य लज्जापि नास्ति । तथा चोक्तम्-

उसे लज्जा भी नहीं है । जैसा कि कहा है-

कामी न लज्जति न पश्यति नो श्रृणोति
नापेक्षते गुरुजनं स्वजनं परं वा ।
गच्छाग्रत: कमलपत्र - विशालनेत्रे!
विन्ध्याटवीं प्रति दृशोर्मम राजमार्ग: ॥233॥

संसार से विरक्त हो दीक्षा लेने के लिए विंध्याटवी की ओर जाने वाले किसी पुरुष की ओर उसकी पूर्व प्रेमिका काम-विह्वल दृष्टि से देख रही है, उसे सम्बोधित करने के लिए विरक्त पुरुष कहता है कि कामीजन न लज्जित होता है, न किसी को देखता है, न हित की बात सुनता है और न गुरुजन, आत्मीयजन अथवा अन्यजनों की अपेक्षा करता है । हे कमल पत्र के समान विशाल नेत्रों को धारण करने वाली भद्रे! तुम आगे जाओ, मेरे नेत्रों का राजमार्ग तो विंध्याटवी की ओर जा रहा है-मैं संसार की मोह-ममता से विरक्त हो दीक्षा लेने के लिए विंध्याटवी की ओर जा रहा हूँ ॥233॥

अहो मकरध्वजस्य माहात्म्यम्, गुरुतरं पण्डितमपि विडम्बयति स: । तथा चोक्तम्-

अहो! कामदेव की महिमा आश्चर्यकारक है । वह महान् विद्वान् को भी विडम्बित कर देता है । जैसा कि कहा है-

विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरमति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देव: ॥234॥

कामदेव कलाकुशल मनुष्य को क्षणभर में विकल कर देता है, पवित्र मनुष्य की हँसी उड़ाता है, विद्वान् की विडम्बना करता है और धीर वीर पुरुष को नीचा कर देता है ॥234॥

हे पुत्रि । किं बहुनोक्तेन, येनोपायेनेयं पापिठा जिनदत्ता म्रियते तदुपायं न करोमि । एवं पुत्री मनसि संतोषमुत्पाद्य पतिगृहे प्रस्थापिता । व्या कनकश्रिया तथा दोषोद्धाटनं कृतं यथा मातुमनसि जिनदत्ताया उपरि मत्सरो जात: । सेयं मनसि वैरं कृत्वा स्थिता-

एकदानेकावधूतसहितोऽस्थ्याभरणभूषित-विग्रह: त्रिशूलडमरुनूपुराद्युपेतो महारौद्रमूर्ति: कापालिकनामा योगी भिक्षार्थं बन्धुश्रीगृहमागत: । बन्धुश्रिया च एवंविधं योगिनं दृष्ट्वा मनसि चिन्तितमहो मयानेककापालिका दृष्टा: अस्येव माहात्म्यं न कुत्रापि दृश्यते । अस्य पार्श्वे मम कार्यसिद्धिर्भविष्यतीति निश्चित्य स्वकार्यं करणायानेक-रसवती-सहिता भिक्षा दत्ता व्या । "" तावत्कीर्तिर्भवेल्लोके यावद् दानं प्रयच्छतिङ्क" इति सुठूक्तम् ।

पुनर्बन्धुश्रिया भणिता कापालिक:-हे योगिन्! त्वया मम गृहे नित्यमेव भिक्षार्थमागन्तव्यम् । तेन कापालिकेनापि प्रतिपन्नं तद्वचनम् । एवं स योगी सदैव बन्धुश्रियो गृहमागच्छति । तथा चोक्तम्-

हे पुत्रि! बहुत कहने से क्या? यह पापिनी जिनदत्ता जिस उपाय से मरेगी वह उपाय मैं करती हूँ । इस प्रकार पुत्री के मन में सन्तोष उत्पन्न

कराकर उसे पति के घर भेज दिया । उस कनकश्री ने उस ढंग से दोषों का उद्धाटन किया कि जिससे माता के मन में जिनदत्ता के ऊपर ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हो गया । यह मन में वैर बाँधकर रह गयी ।

एक समय, जो अनेक अवधूतों से सहित था, जिसका शरीर हड्डियों के आभूषणों से विभूषित था, जो त्रिशूल, डमरू तथा नूपुर आदि से युक्त था तथा जिसकी आकृति अत्यन्त भयंकर थी ऐसा एक कापालिक नाम का योगी भिक्षा के लिए बंधुश्री के घर आया । बंधुश्री ने ऐसे योगी को देखकर मन में विचार किया कि अहो! मैंने अनेक कापालिक देखे परन्तु इसका जैसा महात्म्य है वैसा नहीं दिखाई देता । इसके पास मेरे कार्य की सिद्धि हो जायेगी, ऐसा निश्चय कर उसने अपना कार्य कराने के लिए उसे अनेक जलेबियों सहित भिक्षा दी । यह ठीक ही कहा गया है कि - लोक में तभी तक किसी की कीर्ति होती है जब तक दान देता है । पश्चात् बंधुश्री ने कापालिक से कहा कि-हे योगिन्! तुम मेरे घर भिक्षा के लिए नित्य ही आया करो । कापालिक ने भी बंधुश्री का कहना स्वीकृत कर लिया । इस तरह वह योगी सदा बंधुश्री के घर आने लगा । जैसा कि कहा है -

कार्यार्थं भजते लोके न कश्चित् कस्यचित्प्रिय: ।

वत्स: क्षीरक्षयं दृष्ट्वा स्वयं त्यजति मातरम् ॥233॥

संसार में कार्य के लिए ही कोई किसी की सेवा करता है, परमार्थ से कोई किसी का प्रिय नहीं है । दूध का क्षय देखकर बछड़ा स्वयं ही माता को छोड़ देता है ॥233॥

एवमनुदिनं सा बन्धुश्रीर्योगिने भिक्षां ददाति । एकदा तस्या भक्तिं निरीक्ष्य योगिना मनसि चिन्तितमहो मातेयमस्या: कमप्युपकारं करिष्यामि । तथा चोक्तम्-

इस प्रकार प्रतिदिन वह बंधुश्री योगी के लिए भिक्षा देने लगी । एक दिन उसकी भक्ति देखकर योगी ने मन में विचार किया कि-अहो यह तो माता है इसका कुछ उपकार करँगा । जैसा कि कहा है-

जनकश्चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।

अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितर: स्मृता: ॥236॥

पिता, यज्ञोपवीत करने वाला, विद्या देने वाला, अन्न देने वाला और भय से रक्षा करने वाला ये पाँच पिता माने गये हैं ॥236॥

किञ्च

और भी कहा है-

राजपत्नी गुरो: पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।

पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता: मातर: स्मृता: ॥237॥

राजपत्नी, गुरुपत्नी, मित्रपत्नी, पत्नी की माता और अपनी माता; ये पाँच मातायें मानी गयी हैं ॥237॥

ततो योगिना भणितम्-हे मात: मम महाविद्यासिद्धिरस्ति । यत्प्रयोजनं भवति ते तत्कथय, तथाहं करोमि । ततो रुदन्त्या बन्धुश्रिया सगद्गद्कण्ठं सर्वोऽपि वृतान्त: कथित: । किं बहुना! इयं पापिठा जिनदत्ता त्वया मारयितव्या । तव भगिन्या यथा गृहवासो भवति तथा कत्र्तव्यम् । ततो योगिना भणितम्-भो मातस्त्वं स्थिरीभव । मम जीवमारणे शङ्का नास्ति । अद्याहं कृष्णचतुर्दशीदिने श्मशानमध्ये विद्यासाधनं कृत्वा ध्रुवं जिनदत्तां मारयामि, मद्भगिनीं कनकश्रियं सुखिनीं करोमि, नोचेत्तह्र्यग्निप्रवेशं करोम्यहम् ततों बन्धुश्रीर्दृष्टा जाता स्वकार्यसिद्धित: । कापालिकोऽप्येवं प्रतिज्ञाय भणित्वा च चतुर्दशीदिने पूजाद्रव्यं गृहीत्वा श्मशाने गत: । तत्र स्वस्थान-समागतेन मृतकमेकमानीय पूजयित्वा तस्य हस्ते खङ्गं बद्धवोपवेश्य तस्य महतीं पूजां विधाय मन्त्रजपेन तेन वेताली- महाविद्याराधिता आह्वानिता च । मन्त्रप्रभावेण झटिति मृतकशरीरे वेताली विद्या प्रत्यक्षीभूता । भणति स्मच-हे कापालिक! यत्कार्यवशत: समाराधिताहं तत्कार्यं समादिश । योगिना भणितम्-भो महामाये! जिनालयस्थितां कनकश्री सपत्नीं जिनदत्तां मारय । तद्वच: श्रुत्वा तथोक्तम्-" तथास्तु" इति । किलकिलायमाना सा विद्या जिनदत्तासमीपे गता, यावद्विलोकयति तावत्तां जिनदत्तां गृहीतप्रोषधव्रतां सम्यक्त्वभावितचित्तां कायोत्सर्गस्थितां श्रीपञ्चपरमेठिपदपरिवर्तनोद्यतां पश्यति । सा वेताली विद्या प्रचण्डापि तस्या धर्ममाहात्म्येन किंचिद् विरूपकं कर्तुं समर्था नाभूत् । यदुक्तम्-

तदनन्तर योगी ने कहा - हे मात! मुझे महा विद्या की सिद्धि है, तुम्हारा जो प्रयोजन हो, कहो, मैं वैसा करँगा । पश्चात् रोती हुई बंधुश्री ने

गद्गद्कण्ठ से सभी हाल कह दिया । अधिक क्या कहा जाये? उसने यहाँ तक कह दिया कि यह पापिनी जिनदत्ता तेरे द्वारा मारने योग्य है । तुम्हारी बहिन का घर में निवास जिस तरह हो सके उस तरह तुम्हें करना चाहिए ।
तब योगी ने कहा - हे माता । तुम स्थिर होओ-निश्ंिचत रहो, मुझे जीवों को मारने में कोई शंका नहीं है । आज मैं कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन श्मशान में विद्या सिद्ध कर निश्चित ही जिनदत्ता को मार डालूँगा और अपनी बहिन कनकश्री को सुखी करँगा । यदि ऐसा नहीं कर सका तो अग्नि में प्रवेश करँगा ।
योगी के ऐसा कहने से बंधुश्री अपने कार्य की सिद्धि समझ हर्षित हुई । कापालिक भी ऐसी प्रतिज्ञा कर तथा कहकर चतुर्दशी के दिन पूजा की सामग्री लेकर श्मशान गया । वहाँ अपने स्थान पर पहुँचकर वह एक मुर्दा ले आया तथा पूजाकर उसके हाथ में तलवार बाँध कर बैठ गया । बैठकर उसने उस मुर्दे की बड़ी पूजा की, मन्त्र का जाप किया, पश्चात् बेताली महाविद्या की आराधना कर उसका आह्वान किया । मंत्र के प्रभाव से वह बेताली विद्या शीघ्र ही मृतक के शरीर में प्रत्यक्ष हो गयी-दिखायी देने लगी । उसने कहा - हे कापालिक । जिस कार्य के वश मेरी आराधना की है वह कार्य कहो । योगी ने कहा - हे महामाये! जिनमन्दिर में स्थित, कनकश्री की सौत जिनदत्ता को मार डालो । कापालिक के वचन सुनकर विद्या ने कहा - " तथास्तु" जैसा आपने आदेश दिया है वैसा ही करँगी । तदनन्तर हर्ष से किल-किल शब्द करती हुई वह विद्या जिनदत्ता के पास गयी । ज्योंही वह देखती है त्योंही उसने उस जिनदत्ता को देखा जो कि प्रोषध व्रत लिए हुए थी, जिसका चित्त सम्यक्त्व की भावना से युक्त था, जो कायोत्सर्ग से खड़ी थी तथा पञ्चपरमेठी के पदों का-नमस्कार मंत्र का उच्चारण करने में उद्यत थी । वह बेताली विद्या यद्यपि अत्यन्त शक्तिशालिनी थी तथा धर्म के माहात्म्य से उसका कुछ भी कर सकने के लिए समर्थ नहीं
हो सकी । जैसा कि कहा है-

सिंह: फेरुरिभस्तमोऽग्निरुदकं भीष्म: फणी भू-लता
पाथोधि: स्थलमन्दुको मणिशिराश्चौरश्च दासोऽञ्जसा ।
तस्य स्याद् ग्रहशाकिनीगद रिपुप्राया: पराश्चापद-
स्तन्नाम्ना विलयन्ति यस्य वसते सम्यक्त्वदेवो हृदि ॥238॥

जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी देव निवास करता है उसके नाम से सिंह, श्रृगाल, हाथी, अग्नि, पानी, भयंकर सर्प, विष, समुद्र स्थल, गर्त, मणिधारी सर्प, चौर, दास, ग्रह, शाकिनी, रोग और शत्रु तुल्य उत्कृष्ट आपत्तियाँ विलीन हो जाती हैं ॥238॥
तत: सा विद्या त्रिप्रदक्षिणीकृत्य व्याघुट्य प्रेतवने गता । तां विकरालां दृष्ट्वा योगी पलाप्य गत: । पुनरपि तस्मिन् मृतक-शरीरस्थितां विद्यां दृष्ट्वा योगिनागत्य च प्रेरिता विद्या तेन प्रेरिता तत्र गता तदा सापि पूर्ववत् तस्या किंचिदपि कर्तुमसमर्था सती अट्टहासं समुच्यागता । एवं वारत्रयमभूत्, चतुर्थवेलायां निजमरणभयेन योगिना निरूपितम् । भो महाभैरवि कनकश्री जिनदत्तयोर्मध्ये या दुष्टा तां मारय शीघ्रम् । तत: सा वेताली भीषण-शब्दान् मुंन्ती गृहप्रदेशेनागता यावत्तावत्काय-शुद्धि-चिन्तार्थमुत्थितां कनकश्रियं पश्यति स्म । कापालिकादेशं स्मृत्वा शुद्ध-सम्यक्त्वतप: शीलादिगुणयुक्तां देवगुरुभक्तां जिनदत्तां पराभवितुमसमर्थां स्वां ज्ञात्वा प्रमादिनीकनकश्रियं खड्गेन विनाश्य रक्तलिप्तगात्रा कापालिकाग्रे पितृवने समायाता विद्या योगिना विसर्जिता स्वस्थानं गता । कपालिकोऽपि निजस्थानं गत: । प्रारब्धं केनापि लङ्घयितुं न शक्यते । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर वह विद्या तीन प्रदक्षिणाएँ देकर तथा लौटकर श्मशान में चली गयी । उस भयंकर विद्या को देखकर योगी भाग गया । पश्चात् उस मृतक शरीर में स्थित विद्या को देखकर योगी ने पुन: उसे प्रेरित किया । उसके द्वारा प्रेरित विद्या जिनदत्ता के पास गयी परन्तु पहले के समान जब कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकी, तब अट्टहास करके वापस आ गयी । ऐसा तीन बार हुआ, चौथी बार अपने मरण के भय से योगी ने कहा - हे महा भैरवि कनकश्री और जिनदत्ता के बीच जो दुष्टा हो उसे शीघ्र मार डालो ।
तदनन्तर वह बेताली भयंकर शब्द करती हुई जब घर में आयी तब उसने शरीर शुद्धि की चिन्ता के लिए उठी हुई कनकश्री को देखा । पश्चात् कापालिक की आज्ञा का स्मरण कर तथा शुद्ध सम्यक्त्व तप और शील आदि गुणों से युक्त, देव और गुरु की भक्त जिनदत्ता का पराभव करने में अपने आपको असमर्थ जानकर उस विद्या ने प्रमाद युक्त कनकश्री को तलवार से मार डाला और खून से लिप्त शरीर को धारण करने वाली वह विद्या श्मशान में कापालिक के आगे आकर खड़ी हो गयी । योगी ने उसका विसर्जन किया जिससे वह अपने स्थान

पर चली गयी । कापालिक भी अपने स्थान पर चला गया । ठीक है-होनहार का कोई उल्लंघन नहीं पर सकता । जैसा कि कहा है-

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकर: किङ्कर इव

स्वयं स्रष्टा सृष्टे: पतिरथ निधीनां निजसुत: ।

क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-

महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधे: ॥239॥

जिनके गर्भ में आने के छह माह पहले से इंद्र किंकर के समान हाथ जोड़े फिरता था, जो स्वयं सृष्टि के सृष्टा थे और जिनका पुत्र भरत निधियों का स्वामी था वे भगवान् वृषभदेव भी क्षुधातुर होकर लगातार छह माह तक पृथ्वी पर भ्रमण करते रहे, सो ठीक है क्योंकि दुष्टविधि दुर्दैव की चेष्टा का उल्लंघन इस जगत् में कोई नहीं कर सकता ॥239॥

प्रभातसमये संतुष्टचित्ता बन्धुश्रीर्निज-पुत्री-गृहं गता । शय्योपरि छिन्न-शरीरां तां दृष्टवा पूत्कारं कृत्वा राजपार्श्वं गता । राज्ञा सा पृष्टा-भो भद्रे! त्वं किमिति पूत्कारं करोषि? व्या जल्पितम्-हे देव! मम पुत्री कनकश्रीर्जिनदत्तया सपत्न्या मारिता । इमां वार्तां श्रुत्वा कोपपरायणेन राज्ञा दम्पतीधारणार्थं गृहरक्षणार्थं च भटा: प्रेषिता: । ते च सर्वेऽपि पुण्यदेव्या स्तम्भिता: । एतद्वृत्तान्तं जिनालय-प्रस्थिताभ्यां दम्पतीभ्यां श्रुत्वा जिनदत्तया भणितम्-उपार्जितं न केनापि लङ्घयितुं शक्यते । तथा चोक्तम्-

प्रात:काल संतुष्टचित्त से युक्त बंधुश्री अपनी पुत्री के घर गयी । शय्या पर खण्डित शरीर वाली पुत्री को देखकर रोती हुई राजा के पास गयी । राजा ने उससे पूछा कि-हे भद्रे! तुम इस प्रकार क्यों रो रही हो? उसने कहा - हे देव! मेरी पुत्री कनकश्री को उसकी सौत जिनदत्ता ने मार डाला है । यह बात सुनकर राजा ने कुपित होकर दम्पत्ति को पकड़ने और घर की रक्षा करने के लिए सैनिक भेजे । परन्तु वे सभी सैनिक पुण्य देवी के द्वारा कील दिये गये । मन्दिर जाने वाले स्त्री-पुरुषों से यह वृत्तान्त सुनकर जिनदत्ता ने कहा कि-उपार्जित कर्म किसी के द्वारा नहीं लांघे जा सकते । जैसा कि कहा है-

यस्मिन्देशे यदा काले यन्मुहूर्ते च यद्दिने ।

हानिवृद्धियशोलाभस्तथा भवति नान्यथा ॥240॥

जिस देश में, जिस काल में, जिस मुहूर्त में और जिस दिन में जो हानि, वृद्धि, यश तथा लाभ लिखा है, वह अन्यथा नहीं होता ॥240॥

कायोत्सर्गं धारयित्वा चिन्व्यति स्म-अहो मह्यमेष कलङ्क समायात: । पूर्वभवे यत्कृतं तदन्यथा न भवति । पुनरेवं चिन्तयित्वोपसर्गनिवारणार्थं शासनदेवी-निमित्तं कायोत्सर्गमकार्षीत् । तथा द्विविधं संन्यासं गृहीत्वा चैत्यालये स्थिता । तत्कायोत्सर्गाकृष्टया देवव्याऽभाणि । हे बाले! त्वं स्थिरा भव, तवोपसर्गो विलयं यास्यति । श्री जैनधर्मस्य स्फूर्तिर्भाविनीति मत्वा धर्मध्यान-परा सुतिष्ठ इति गदित्वा देवता गता । जिनदत्तापि नमस्कारान् गुणयन्ती समाधिना तस्थौ ।

तावद् देवव्या प्रेर्यमाणो योगी नगरमध्ये वदत्येवम् । भो भो लोका: श्रूयताम् बन्धुश्रिया उपरोध्य मम प्रेरित-बेतालीविद्यया निजपुत्री मारितेति निश्चय: कार्य: । तथा कनकश्री: समत्सरा दुष्टाभिप्रायेति मारिता अत्रार्थे विकल्पो न कार्य: । देवतायोगिनोर्वच: श्रुत्वा राज्ञा लोकैश्च भणितम्-जिनदत्ता निरपराधा साध्वी च । ततो देवव्या जिनदत्ता सुवर्णरत्नवस्त्रपुष्पादिभि: पूजिता जयजयरवंचक्रे । सर्वै: शुद्धतालाप लपिता । एतस्मिन् प्रस्तावे देवै: पञ्चाश्चर्यं कृतं नगरमध्ये । एतत्सर्वं दृष्ट्वा राज्ञा भणितं-बन्धुश्रीर्दुष्टा खरोपरि चाटयित्वा निर्घाटनीया । व्योक्तम्-देव अज्ञानतस्तथा कृतं मया । मम प्रायश्चित्तं दापयितव्यम् । राज्ञोक्तम्-अस्य दोषस्य प्रायश्चित्तं न कुत्रापि श्रुतमस्ति । तथा चोक्तम्-

कायोत्सर्ग को पूरा कर वह विचार करने लगी कि अहो यह कलंक मेरे लिए ही आया है । पूर्वभव में जो किया है, वह अन्यथा नहीं हो सकता । ऐसा विचार कर उसने उपसर्ग दूर करने के लिए शासन देवी के निमित्त फिर से कायोत्सर्ग किया तथा दोनों प्रकार का संन्यास लेकर वह मन्दिर में खड़ी हो गयी । उसके कायोत्सर्ग में आकृष्ट होकर शासन देवी ने कहा कि-हे बेटी! तुम स्थिर रहो, तुम्हारा उपसर्ग विलीन हो जायेगा और श्रीजैनधर्म की प्रभावना होगी । ऐसा मानकर तुम धर्मध्यान में तत्पर रहती हुई स्थित रहो । ऐसा कहकर शासन देवी चली गयी । जिनदत्ता भी नमस्कार-मंत्र का बार-बार उच्चारण करती हुई समाधि का नियम लेकर खड़ी रही ।

इधर यह हो रहा था, उधर शासन देवी के द्वारा प्रेरित योगी नगर के मध्य कह रहा था कि-हे नगरवासी लोगो! सुनो, बंधुश्री ने आग्रह कर मेरे द्वारा प्रेरित बेताली विद्या के द्वारा अपनी पुत्री को मरवा डाला है-ऐसा निश्चय करना चाहिए । कनकश्री मात्सर्य से सहित तथा दुष्ट

अभिप्राय से युक्त थी, इसलिए मार डाल गयी है, इस विषय में विकल्प नहीं करना चाहिए । देवता और योगी के वचन सुनकर राजा तथा लोगों ने कहा - जिनदत्ता निरपराध साध्वी स्त्री है ।

तदनन्तर शासन देवी ने सुवर्ण, रत्न तथा वस्त्र आदि के द्वारा जिनदत्ता की पूजा की तथा उसका जय-जयकार किया । सब लोगों से शुद्धता की बात कही । इसी अवसर पर देवों ने नगर के मध्य पञ्चाश्चर्य किये । यह सब देखकर राजा ने कहा - बंधुश्री दुष्टा है अत: उसे गधे पर चढ़ाकर निकाल देना चाहिए ।

बंधुश्री ने कहा - मैंने अज्ञान से ऐसा किया है मुझे प्रायश्चित्त दिलाया जावे ।

राजा ने कहा - इस दोष का प्रायश्चित्त कहीं सुना नहीं है । जैसा कि कहा है -

मित्रद्रुह: कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य पिशुनस्य च ।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नैव शुश्रुम: ॥241॥

मित्रद्रोही, कृतघ्नी, स्त्री की हत्या क रने वाला और चुगलखोर इन चारों का प्रायश्चित्त हमने नहीं सुना है ॥241॥

ततो निर्घाटिता सा । व्योक्तम्-अहो, उत्कृष्टपुण्यपापयो: फलमत्रैव झटिति दृश्यते । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर बन्धुश्री निकाल दी गयी । उसने कहा - अहो । अत्यधिक पुण्य और पाप का फल इसी लोक में शीघ्र ही दिख जाता है । जैसा कि कहा है -

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिमासैस्त्रिभि: पक्षैस्त्रिभिर्दिनै: ।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ॥242॥

तीन वर्ष, तीन माह, तीन पक्ष अथवा तीन दिन में अत्यन्त उग्र पुण्य और पाप का फल इसी लोक में प्राप्त हो जाता है ॥242॥

अनया बंधुश्रियात्युग्रपापस्य फलं तत्कालमेव दृष्टम् इति सभासदै: कथितम् ।

तदनन्तरं राज्ञा मनसि विचारितम्-श्रीजिनधर्मं विहायेतरधर्मस्येयान् महिमा न दृश्यते । इत्येवं निश्चित्य स जिनालये गत: । तत्र समाधिगुप्तमुनेर्दम्पत्योश्च नमस्कारं कृत्वोपविष्ट: । तदनन्तरमभाणि राज्ञा-भो मुनिनाथ दम्पत्योरनयोर्महोपसर्गो धर्मेणाद्य निवारित: । मुनिनोक्तम्-भो राजन्! यदिष्टं तत्सर्वं धर्मेण भवति । पुनरपि- यतिनोक्तम्-राजन् अस्मिन् संसारे धर्मं विहाय सर्वमप्यनित्यम् । अतएव धर्म: कर्तव्य: । तथा चोक्तम्-

इस बन्धुश्री ने अत्यन्त उग्र पाप का फल तत्काल देख लिया, ऐसा सभासदों ने कहा । तदनन्तर राजा ने मन में विचार किया-श्रीजैनधर्म को छोड़कर अन्य धर्म की इतनी महिमा दिखाई नहीं देती । ऐसा निश्चय कर वह जिनमन्दिर में गया और समाधिगुप्त मुनि तथा सेठ और सेठानी को नमस्कार कर बैठ गया ।

तदनन्तर राजा ने कहा - हे मुनिराज! आज धर्म के द्वारा इन दंपत्तियों-सेठ और सेठानी का उपसर्ग दूर हुआ है । मुनिराज ने कहा - हे राजन्! जो कुछ इष्ट है, वह सब धर्म से प्राप्त होता है ।

मुनिराज ने फिर भी कहा - हे राजन्! इस संसार में धर्म को छोड़कर सभी कुछ अनित्य है अतएव धर्म करना चाहिए । जैसा कि कहा -

सकुलजन्म विभूतिरनेकधा प्रियसमागम-सौख्य-परम्परा ।
नृपकुले गुरुता विमलं यशो भवति धर्मतरो: फलमीदृशम् ॥243॥

उत्तम कुल में जन्म, नाना प्रकार की विभूति, प्रियजनों के समागम से होने वाली सुख की परम्परा, राजवंश में गौरव और निर्मल यश...ऐसा धर्मरूपी वृक्ष का फल होता है ॥243॥

किञ्च-

और भी कहा है -

**अर्थ**ा: पादरज:-समा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवितम् ।
धर्मं यो न करोति निश्चलमति: स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिगत: शोकाग्निना दह्यते ॥244॥

धन पैर की धूलि के समान है, यौवन पहाड़ी नदी के वेग के तुल्य है, मनुष्य पर्याय पानी की बूँद के समान चंचल है और जीवन फमन के सदृश है...ऐसा जानकर जो दृढ़ बुद्धि होता हुआ स्वर्ग के आगल को खोलने वाला धर्म नहीं करता है वह वृद्धावस्था में पश्चाताप से पीड़ित होता हुआ शोकरूपी अग्नि द्वारा जलता है ॥244॥

ततो राज्ञा पृष्टम्-भगवन् स धर्म: कीदृग्विध: । तत: साधुना कथितम्-हिंसादिरहित: । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर राजा ने पूछा-हे भगवन्! वह धर्म किस प्रकार का है? पश्चात् मुनिराज ने कहा - हिंसादि से रहित है? जैसा कि कहा है -

हिंसामङ्गिषु मा कृथा वद गिरं सत्यामपापावहां
स्तेयं वर्जय सर्वथा पर-वधूसङ्गं विमुञ्चादरात् ।
कुर्विच्छापरिमाणमिष्टविभवे क्रोधादिदोषांस्त्यज
प्रीतिं जैनमते विधेहि नितरां सौख्ये यदीच्छास्ति ते ॥245॥

हे भव्य! यदि तुझे सुख की इच्छा है तो प्राणियों की हिंसा मत कर, पुण्य को धारण करने वाली सत्य वाणी बोल, चोरी का सर्वथा त्याग कर, आदरपूर्वक परस्त्री का संग छोड़, इष्ट सामग्री में इच्छा का परिमाण कर, क्रोधादि दोषों का त्यागकर और जैनमत में अत्यधिक प्रीति कर ॥245॥

तत: संग्रामशूरेण राज्ञा स्वपुत्रसिंहशूराय राज्यं दत्वा समाधिगुप्तसूरिपार्श्वे दीक्षा गृहीता । वृषभदासश्रेष्ठिना जातवैराग्यैर्बहुभिश्च जनै: स्वस्वपदे स्वस्वसुतान् स्थापयित्वा दीक्षा गृहीता । राह्या कनकमालया जिनदत्तया अन्याभि: बहुभिश्च जिनमतिपार्श्वे दीक्षा गृहीता केचित्सम्यक्त्वे केचित् श्रावकत्वे स्थिता: केचिद् भद्रपरिणामिनश्चजज्ञिरे । मुनिनोक्तम्-भो पुत्र! चारु कृतम् सर्वेषां पदार्थानां भयमस्ति, वैराग्यमेवाभयं वस्तु गृहीतं भवद्भि: । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर संग्रामशूर राजा ने अपने पुत्र सिंहशूर के लिए राज्य देकर समाधिगुप्त आचार्य के पास दीक्षा ले ली । वृषभदास सेठ ने विरक्तचित्त अन्य अनेक लोगों के साथ अपने-अपने पदों पर अपने पुत्रों को रख दीक्षा ग्रहण कर ली । रानी कनकमाला, जिनदत्ता सेठानी तथा अन्य अनेक स्त्रियों ने जिनमति आर्यिका के समीप दीक्षा ले ली । कोई सम्यग्दर्शन में कोई श्रावक के व्रत में स्थित हुए और कोई भद्र परिणामी मन्दकषायी हुए । मुनि ने कहा - हे पुत्र! तुमने अच्छा किया, सब वस्तुओं में भय है, एक वैराग्य ही भय रहित है जिसे आपने ग्रहण किया है । जैसा कि कहा है -

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद्भयं-
दासे स्वामिभयं जये रिपुभयं वंशे कुयोषिद्भयम् ।
माने म्लानभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं-
सर्वं नाम भयं भवेदिदमहो वैराग्यमेवाभयम् ॥246॥

भोग में रोग का भय है, सुख में क्षय का भय है,धन में अग्नि और राजा का भय है, दास में स्वामी का भय है, विजय में शत्रु का भय है, कुल में कुल्टा स्त्री का भय है, मान में मलिनता आने का भय है, गुण में दुर्जन का भय है और शरीर में यमराज-मृत्यु का भय है । इस प्रकार सभी वस्तुओं में भय है परन्तु आश्चर्य है कि यह वैराग्य अभय है-भय से रहित है ॥246॥

न वैराग्यात्परं भाग्यम् ।

वैराग्य से बढ़कर भाग्य नहीं है ।

ततो मित्रश्रिया भणितम्-भो स्वामिन्! श्रीजिनधर्मस्यैतत्फलं मया प्रत्यक्षेण दृष्टमनुभूतं श्रुतं अतो दृढतरं सम्यक्त्वं जातं मम । अर्हद्दासेनोक्तम्-भो भार्ये! यत् त्वया दृष्टं तदहं श्रद्दधामि, इच्छामि, रोचे । अन्याभिश्च तथैव भणितम् । तत: कुन्दलव्या भणितं- सर्वमेतदसत्यम् । एतत्सर्वं श्रुत्वा राज्ञा मन्त्रिणा चौरेण च स्वमनसि भणितम्-कथमियं पापिठा सत्यस्यासत्यत्वं कथयति । अस्या निगदं प्रात: करिष्ये । प्रातरियं निर्घाटनीया गर्दभोपरि चाटयित्वा पुनरपि चौरेण स्वमनसि चिन्तितम्-अहो । "गुणं विहाय लोकेऽस्मिन् दोषं गृह्णाति दुर्जन:" लोकोक्तिरियं सत्या । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर मित्रश्री ने कहा - हे स्वामिन्! श्री जिनधर्म का यह फल मैंने प्रत्यक्ष देखा, अनुभव किया और सुना है इसलिए मुझे अत्यन्त दृढ़ सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है ।

अर्हद्दास सेठ ने कहा - हे प्रिये! तुमने जो देखा है मैं उसकी श्रद्धा करता हूँ, उसकी इच्छा करता हूँ और उसकी रुचि करता हूँ अन्य स्त्रियों ने भी ऐसा ही कहा ।

तदनन्तर कुन्दलता ने कहा - यह सब असत्य है ।

यह सब सुन राजा, मन्त्री और चोर ने अपने मन में कहा - यह पापिनी सत्य को असत्य क्यों कहती है? प्रात:काल इसका दण्ड करँगा । प्रात:काल इसे गधे पर चढ़ाकर निकालना चाहिए ।

चोर ने फिर भी अपने मन में विचार किया- अहो! इहलोक में दुर्जन गुण को छोड़कर दोष को ग्रहण करता है । यह कहावत सत्य है । जैसा कि कहा है-

दोषमेव समाधत्ते न गुणं विगुणो जन: ।

जलौका स्तनसंपृक्त: रक्तं पिबति नामृतम् ॥247॥

दोषान् गृह्णन्ति यत्नेन गुणास्त्यजन्ति दूरत: ।

दोषग्राही गुणत्यागी चालणीरिव दुर्जन: ॥248॥

दुष्टकण्टकितो हृष्टा भवन्ति परतापत: ।

उष्णकाले सकिसलया जायन्ते हि यवासका: ॥249॥

निर्गुण मनुष्य दोष को ग्रहण करता है गुण को नहीं, क्योंकि स्तन पर लगी हुई जोंक रक्त ही ग्रहण करती है दूध नहीं ॥247॥

दुर्जन मनुष्य यत्नपूर्वक दोषों को ग्रहण करते हैं और गुणों को दूर से ही छोड़ते हैं । ठीक ही है क्योंकि-दुर्जन मनुष्य चालनी के समान दोषों को ग्रहण करता है और गुणों का त्याग करता है ॥248॥

दुष्ट मनुष्यरूप जवासे के पौधे दूसरों के सन्ताप से हर्षित होते हैं क्योंकि वे ग्रीष्मकाल में नवीन पल्लवों से युक्त होते हैं ॥249॥

तत: श्रेष्ठिना कुन्दलता भणिता-भो कुन्दलते! त्वमपि ईदृशं धर्मफलं श्रुत्वा संदेहं मुं नृत्यादिकं कुरु । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर सेठ ने कुन्दलता से कहा - हे कुन्दलते! तुम भी ऐसा धर्म का फल सुनकर संदेह छोड़ो तथा नृत्यादिक करो । जैसा कि कहा है-

श्रीसर्वज्ञपदार्चनं गुणिजने प्रीतिर्गुरौ नम्रता

मैत्री बन्धुषु दु:खितेषु च दया सिद्धान्ततत्त्वश्रुति: ।

पात्रे दानविधि: कषायविजय: साधम्र्यकेष्वद्भुतं

वात्सल्यं सततं परोपकरणं कार्यं भवद्भि: सदा ॥250॥

श्री सर्वज्ञ भगवान् के चरणों की पूजा, गुणीजनों में प्रीति, गुरु में नम्रता, बंधुजनों में मित्रता, दु:खीजनों पर दया, सिद्धान्त के रहस्य को सुनना, पात्र में दान देना, कषायों को जीतना, साधर्मी भाइयों में आश्चर्यकारक वात्सल्यभाव धारण करना और निरन्तर परोपकार करना; ये सब आपको सदा करना चाहिए ॥250॥

॥ इति द्वितीयकथा समाप्ता॥

॥ इस प्रकार द्वितीय कथा पूर्ण हुई ॥

## सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली चन्दनश्री की कथा

सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली चन्दनश्री की कथा

कथा :

सम्यक्त्वप्राप्तचन्दनश्रिय: कथा

तत: श्रेष्ठिना चन्दनश्री: भणिता-भो भार्ये! त्वमपि स्वसम्यक्त्वकारणं कथय । तत: सा कथयति । तद्यथा- कुरुजाङ्गलदेशे हस्तिनागपुरे राजा भूभोग:, राज्ञी भोगवती, राजश्रेठी गुणपाल: परम धार्मिकोऽधिक-सम्यग्दृष्टि: भार्या गुणवती । तत्रैव नगरे ब्राह्मणसोमदत्तो महादरिद्र:, भार्या सोमिल्लातीव साध्वी । व्यो: पुत्री सोमा । एकस्मिन् समये ज्वराक्रान्ता सोमिल्ला मृता । तस्या: शोकेन सोमदत्तो महादु:खी जात: । शोकाग्निना दह्यमान: स यापि रतिं न लभते । एकदा वनमध्ये रुदन् केनचिद्यतिना दृष्टो भणितश्च-भो पुत्र! किमर्थं दुखं करोषि? तेन दु:खकारणं निवेदितम्, पुन: यतिनाऽभाणि-रे पुत्र जातस्य जीवस्य मरणं ध्रुवमस्ति । ततो महति प्रयत्नेऽप्ययं पापीयान् कालो

जीवं कवलयत्येव । पुनरपि यतिनोक्तम्-हे पुत्र! तवेहलोके परलोके च धर्म एव हितकारी नान्य: । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर सेठ ने चन्दनश्री से कहा - हे भार्ये! तुम भी अपने सम्यक्त्व का कारण कहो । पश्चात् वह कहने लगी -

कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर में राजा भूभोग रहते थे, उनकी रानी का नाम भोगवती था । वहीं राजसेठ गुणपाल रहता था, जो परमधार्मिक और अत्यधिक सम्यग्दृष्टि था । उसकी स्त्री का नाम गुणवती था । उसी नगर में सोमदत्त नाम का एक अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्री का नाम सोमिल्ला था, जो अत्यन्त पतिव्रता थी । उन दोनों के सोमा नाम की पुत्री थी ।

एक समय ज्वर से पीड़ित होकर सोमिल्ला मर गयी । उसके शोक से सोमदत्त बहुत दुखी हुआ । शोकरूपी अग्नि से अत्यन्त दग्ध होता हुआ वह कहीं भी प्रीति को प्राप्त नहीं होता था । एक समय वह रोता हुआ वन में बैठा था कि किन्हीं मुनिराज ने उसे देख लिया तथा उससे कहा - हे पुत्र! किसलिये दु:ख करते हो ? उसने दु:ख का कारण कह दिया, मुनिराज ने फिर कहा - अरे पुत्र! जो जीव उत्पन्न होता है, उसका मरण तो निश्चित ही होता है इसलिए बहुत भारी प्रयत्न करने पर भी यह पापी काल उसे कवलित कर ही लेता है । बातचीत के प्रसंग में मुनिराज ने फिर कहा - हे पुत्र! तुझे इहलोक तथा परलोक में धर्म ही हितकारी है अन्य नहीं । जैसा कि कहा है -

धर्माद् देवगति: परत्र च शुभं शुल्कं च जन्मक्षय-
स्तस्माद् व्याधिरुजान्तके हितकरे संसारनिस्तारके ।
शुक्लध्यानवरे भवप्रमथने कुर्याद् प्रयत्नं बुधो-
मोक्षद्वारकपाटपाटनपरे संसेव्यतां सर्वदा ॥251॥

धर्म से परभव में देवगति प्राप्त होती है । शुभ शुक्लध्यान प्राप्त होता है और शुक्लध्यान से संसार का क्षय होता है इसलिए ज्ञानीजन को उस उत्कृष्ट शुक्लध्यान के विषय में यत्न करना चाहिए और सदा उसी की सेवा करना चाहिए, जो कि व्याधिरूपी रोग को नष्ट करने वाला है, हितकारी है, संसार से निस्तरण करने वाला है, संसार को नष्ट करने वाला है और मोक्ष के द्वार पर लगे हुए कपाटों को तोड़ने वाला है ॥251॥

किञ्च-

और भी कहा है -

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्धनं
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसंपच्छ्रिय: ।
कान्ताराच्च महार्णवाच्च सततं धर्म: परित्रायते
धर्म्म: सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रद: ॥252॥

धर्म से अच्छे कुल में जन्म होता है, शरीर में सामर्थ्य रहती है, सौभाग्य, आयु और धन प्राप्त होता है । निर्मल यश, विद्या, धन-संपत्ति और लक्ष्मी धर्म से ही प्राप्त होती है । वन से तथा महासागर से धर्म ही रक्षा करता है, वास्तव में अच्छी तरह उपासना किया हुआ धर्म स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है ॥252॥

इति यतिवचनं श्रुत्वा शोकं त्यक्त्वा उपशमनं गत्वा श्रावको जात: । यथाशक्ति दानमपि करोति तथा चोक्तम्-

इस प्रकार मुनि के वचन सुनकर उसने शोक छोड़ दिया तथा उपशम भाव को प्राप्त होकर श्रावक हो गया । वह यथाशक्ति दान भी करने लगा । जैसा कि कहा है-

देयं स्तोकादपि स्तोकं न व्यपेक्षा महोदय: ।
इच्छानुकारिणी शक्ति: कदा कस्य भविष्यति ॥253॥

थोड़ी वस्तु भी दान के योग्य होती है, दान के विषय में महान् अभ्युदय की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है क्योंकि इच्छानुसार शक्ति कब और किसके होगी ? ॥253॥

एवं कालं गमयति । एकदा तेन श्रेष्ठिना गुणपालेन "श्रावको दरिद्रोऽयम्" इति ज्ञात्वा निजगृहं नीत्वा पूजित: । सर्वप्रकारेण तस्य निर्वाहं करोति स श्रेठी । तथा भणितं च । अहो! महत्संसर्गेण गुणी पूज्यश्च को न भवति? तथा चोक्तम्-

इस प्रकार वह अपना समय व्यतीत करने लगा । एक दिन उस गुणपाल सेठ ने "यह श्रावक दरिद्र है" यह जान अपने घर ले जाकर

उसका सम्मान किया । वह सेठ उसका सब प्रकार से निर्वाह करता था । ऐसा कहा भी है - महापुरुषों की संगति से गुणवान और पूज्य कौन नहीं होता है ? कहा भी है -

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषा: ।
सुस्वादुतोयं प्रवहन्ति नद्य: समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेया: ॥254॥

गुण, गुणों के जानने वालों के पास गुण होते हैं और निर्गुण के पास जाकर वे गुण दोष हो जाते हैं । जैसे नदियाँ अत्यन्त मधुर जल को धारण करती हैं परन्तु समुद्र को प्राप्त कर वे ही नदियाँ अपेय हो जाती हैं **अर्थ**ात् खारी हो जाने से उनका पानी पीने योग्य नहीं रहता है ॥254॥

अन्यच्च-

और भी कहा है-

गुणिन: समीपवर्ती पूज्यो लोके गुणविहीनोऽपि ।
विमलेक्षण-संसर्गादञ्जनमाप्नोति काम्यत्वम् ॥255॥

गुणी मनुष्य के पास रहने वाला गुणहीन मनुष्य भी लोक में पूज्य हो जाता है । जैसे- निर्मल नेत्र का संसर्ग पाकर अंजन सुन्दरता को प्राप्त हो जाता है ॥255॥

महानुभावसंसर्ग: कस्य नोन्नतिकारणम् ।
गङ्गाप्रविष्टं रथ्याम्बु त्रिदशैरपि वन्द्यते ॥256॥

महापुरुषों की संगति किसकी उन्नति का कारण नहीं है ? **अर्थ**ात् सभी की उन्नति का कारण है क्योंकि गंगा में प्रविष्ट हुआ गलियों का पानी देवों के द्वारा भी वन्दनीय हो जाता है ॥256॥

एकदा रुजाक्रान्तेन सोमदत्तेन निजमरणमासन्नं ज्ञात्वा गुणपाल-श्रेष्ठिनमाहूय भणितम्-भो श्रेष्ठिन् तव साहाय्येन किञ्चदपि दुखं न ज्ञातं मया श्रावकत्वं चाराधितम् । अपरं साम्प्रतं परलोकं प्रस्थितस्यममैका चिन्तास्ति-पुत्रिसोमा श्रावकब्राह्मणं विहायान्यस्य न दातव्या । एवं भणित्वा निजपुत्रीं गुणपालस्य हस्ते दत्वा स्वयं संयमत्वेन मरणं कृत्वा स्वर्गं गत: । तथा चोक्तम्-

एक समय रोग से पीड़ित सोमदत्त ने अपना मरण निकट जानकर गुणपाल सेठ को बुलाकर कहा - हे सेठजी! आपकी सहायता से मुझे कुछ भी दु:ख का अनुभव नहीं हुआ, श्रावक धर्म की अच्छी तरह आराधना की परन्तु इस समय परलोक को जाते हुए मुझे एक चिन्ता है । वह यह है कि बेटी सोमा श्रावक ब्राह्मण को छोड़कर अन्य को नहीं दी जाये । ऐसा कहकर अपनी पुत्री को गुणपाल के हाथ में देकर वह स्वयं संयमपूर्वक मर गया और मरकर स्वर्ग को गया । कहा भी है -

विद्या तपो धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता ।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादिवाप्यते ॥257॥

विद्या, तप, धन, शूरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष-सब कुछ धर्म से प्राप्त होता है ॥257॥

गुणपाल: सोमां निज-पुत्रीवत्पालयति । अथ तस्मिन्नेव नगरे ब्राह्मणो धूर्तो रुद्रदत्तनामा वसति । तथा चोक्तं धूर्तलक्षणम्-

गुणपाल सोमा का अपनी पुत्री के समान पालन करने लगा । तदनन्तर उसी नगर में रुद्रदत्त नाम का एक धूर्त ब्राह्मण रहता था । जैसा कि धूर्त का लक्षण कहा गया है-

मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दन-शीतलम् ।
हृदयं कत्त्तरिसंयुक्तं त्रिविश्रशं धूर्तलक्षणम् ॥258॥

जिसका मुख कमल की कलिका के आकार का है, वचन चन्दन के समान शीतल है और हृदय कैंची से संयुक्त है, वह धूर्त है, यह तीन प्रकार का धूर्त का लक्षण है ॥258॥

स प्रतिदिनं द्यूतक्रीडां करोति । एकस्मिन् दिवसे सा सोमा मार्गे क्रीडार्थं गच्छन्ती द्यूतकारैर्दृष्टा । पृष्टाश्च ते रुद्रदत्तेन-कस्येयं पुत्री ? तैर्भणितं सोमदत्तस्य पुत्री । पित्रा मरणसमये गुणपालस्य हस्ते दत्ता । पुण्यवान् स स्वपुत्रीवदिमां पालयति कुमारिकां । तेषां वचनं श्रुत्वा भणिति रुद्रदत्तो विवाहयामीमाम् । तैर्भणितम्-रे अज्ञानेन किमसम्बद्धं ब्रवीषि । दीक्षितादिब्राह्मणैर्विवाहयितुं याचिता । परन्तु श्रेठी जैनं ब्राह्मणं

विहायान्यस्य न प्रयच्छति । त्वं तु कितवशिरोमणिद्र्यत-कार: सर्वभ्रष्ट:, कथं त्वया प्राप्यते? ततस्तेषां वचनं श्रुत्वा साभिमानव्या रुद्रदत्तो वदसिस्म । अहो! मम बुद्धिकौशलं पश्यत । यद्येनां न विवाहयामि तदा मम पशुमध्ये रेखा देयेति प्रतिज्ञां कृत्वा देशान्तरं गत:, कस्यचिन्मुने: समीपे मायारूपेण ब्रह्मचारी जात: । देव- वन्दनादिक्रियां पठित्वा व्याघुट्य तत्रैव नगर आगत: ।

गुणपालकारितचैत्यालये स्थित: । तस्यागमनं श्रुत्वा गुणपालश्चैत्यालय आगत: । गुणपाल इच्छाकारं कृत्वोपविष्ट: । ब्रह्मचारिणा "दर्शन-विशुद्धिरस्तु" इत्याशीर्वादो दत्त: । श्रेष्ठिना भणितम्-धन्योऽयम्, अस्य दिवसा धर्म्मध्यानेन गच्छन्तीति । पुनरपि श्रेष्ठिना पृठ:-भो प्रभो क्व जन्मभूमि: कस्यान्तेवासी कस्मात्समागतोऽसि ? वर्णिना भणितम्-अष्टौपवासिनो जिनचन्द्र- भट्टारकस्याहमन्तेवासी पूर्वदेशं परिभ्रम्य तीर्थङ्करदेवपञ्चकल्याणकस्थानानि वन्दित्वा सम्प्रति शान्ति-कुन्थ्वर-देवानां वन्दनार्थमागतोऽहम् ।

श्रेष्ठिना भणितम्-धन्योंऽयमस्य दिवसो धर्म्मध्यानेन गच्छति । तथा चोक्तम्-

वह प्रतिदिन जुआ खेलता था । एक दिन वह सोमा क्रीड़ा के लिए मार्ग में जा रही थी कि जुवारियों ने उसे देख लिया । रुद्रदत्त ने उन जुवारियों से पूछा कि यह किसकी पुत्री है ? उन्होंने कहा कि-सोमदत्त की पुत्री है, पिता ने मरणकाल में गुणपाल के हाथ में दी थी । वह पुण्यशाली गुणपाल, अपनी पुत्री के समान इस कुमारी का पालन करता है । जुवारियों के वचन सुनकर रुद्रदत्त कहने लगा कि - मैं इससे विवाह करँगा ।

उन्होंने कहा - अरे अज्ञान से असंबद्ध बात क्यों बोलता है ? दीक्षित आदि ब्राह्मणों ने विवाह करने के लिए इसकी याचना की है परन्तु सेठ जैन ब्राह्मण को छोड़कर अन्य को नहीं देता है । तू तो जुवारियों का सिरमौर सर्वभ्रष्ट जुवारी है, अत: तेरे द्वारा कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

तदनन्तर उनके वचन सुन रुद्रदत्त ने बड़े अभिमान से कहा - अहो! मेरी बुद्धि की कुशलता को देखो । यदि मैं इसे न विवाहूँ तो पशुओं के बीच मेरी गिनती करना ।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर वह अन्य देश को चला गया ।

वहाँ वह किसी मुनि के पास मायारूप से ब्रह्मचारी हो गया । देव-वन्दना आदि की क्रिया को पढ़कर वह पुन: उसी नगर में वापस लौट आया और गुणपाल के द्वारा निर्मापित चैत्यालय में ठहर गया । उसका आगमन सुन गुणपाल चैत्यालय आया और ब्रह्मचारी को इच्छाकार करके बैठ गया ।

ब्रह्मचारी ने "दर्शन विशुद्धि हो" यह आशीर्वाद दिया ।

सेठ ने कहा - यह धन्य है, इसके दिन धर्मध्यान से व्यतीत होते हैं । सेठ ने पूछा हे प्रभो! आपकी जन्मभूमि कहाँ है किसके शिष्य हैं और कहाँ से आये हैं ?

ब्रह्मचारी ने कहा कि-मैं आठ उपवास करने वाले जिनचन्द्र भट्टारक का शिष्य हूँ । पूर्व देश में घूमकर तथा तीर्थंकर भगवान् के पंच कल्याणकों के स्थानों की वन्दना कर इस समय शान्ति, कुन्थु और अरनाथ भगवान् की वन्दना के लिए आया हूँ ।

सेठ ने कहा - यह धन्य है, इसके दिन धर्मध्यान से जाते हैं । जैसा कि कहा है-

देवान् पूजयतो दयां विदधत: सत्यं वचो जल्पत:
सद्भि: सङ्गमनुज्झतो वितरतो दानं मदं मुञ्चत: ।
यस्येत्थं पुरुषस्य यान्ति दिवसास्तस्यैव मन्यामहे
श्लाघ्यं जन्म च जीवितं च सकुलं तेनैव भूर्भूषिता ॥259॥

जो देवों की पूजा करता है, दया करता है, सत्यवचन बोलता है, सज्जनों की संगति को नहीं छोड़ता है, दान देता है और गर्व को छोड़ता है, इस प्रकार जिसके दिन व्यतीत होते हैं उसी के जन्म, जीवन और कुल को हम धन्य मानते हैं और उसी के द्वारा यह पृथ्वी सुशोभित है ॥259॥

पुनरपि गुणपालेन वर्णी पृष्ट:-भो प्रभो । क्व जन्मभूमि: तेनोक्तम्-अत्र नगरे ब्राह्मण: सोमशर्मा भार्या सोमिल्ला व्यो: पुत्रो रुद्रदत्तोऽहं पितृमातृमरणावस्थां दृष्ट्वा शोकेन तीर्थयात्रायां गत: । वाराणस्यां जिनचन्द्रभट्टारकेण किं कुलेन? किं मातृपक्षेण? संबोध्य ब्रह्मचारी कृतोऽहम् । किं गोत्रेण? किं देशेन? संसारे किं कस्य नित्यमस्ति? अतएव मम धर्म एव शरणं येन सर्वसिद्धिर्भवति । तथा चोक्तम्-

गुणपाल ने उस ब्रह्मचारी से पुन: पूछा-हे प्रभो! आपकी जन्मभूमि कहाँ है ? उसने कहा - इसी नगर में सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्री का नाम सोमिल्ला था । मैं उन दोनों का पुत्र रुद्रदत्त हूँ, पिता व माता की मरणावस्था देखकर शोक से तीर्थयात्रा के लिए चला गया था ।

वाराणसी में जिनचन्द्र भट्टारक ने सम्बोधित कर मुझे ब्रह्मचारी बना दिया । अब मुझे गोत्र से तथा देश से क्या प्रयोजन है ? कुल तथा मातृवंश से क्या मतलब है ? संसार में किसकी कौन वस्तु नित्य है ? **अर्थ**ात् कोई भी नहीं, इसलिए मेरा धर्म ही शरण है जिससे कि सब पदार्थों की सिद्धि होती है । जैसा कि कहा है -

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनद: कामार्थिनां कामद:

सौभाग्यार्थिषु तत्प्रद: किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रक: ।

राज्यार्थिष्वपि राज्यपद: किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां

तत्किं यन्न ददाति किञ्च तनुते स्वर्गापवर्गावपि ॥260॥

यह धर्म, धन के प्रेमी मनुष्यों को धन देने वाला है, काम के इच्छुक मनुष्यों को काम देने वाला है, सौभाग्य के अभिलाषी मनुष्यों को सौभाग्य देने वाला है और क्या, पुत्र के चाहने वालों को पुत्र देने वाला है, राज्यार्थियों को राज्य देने वाला है अथवा अनेक विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? वह कौन-सी वस्तु है जो मनुष्य के लिए नहीं देता है ? प्रमुख बात है कि धर्म, स्वर्ग और मोक्ष को भी देता है ॥260॥

बहुधा प्रशंस्य पुनरपि श्रेष्ठिना भणितम्-भो ब्रह्मचारिन् ! त्वया सावधिकं निरवधिकं वा ब्रह्मचर्यं गृहीतम्? तेनोक्तम्-सावधिकं, परन्तु मम स्त्र्युपरि वाञ्छा नास्ति, यत: स्त्रियो हि विषमं विषम् । तथा चोक्तम्-

बहुत प्रकार से प्रशंसा कर सेठ ने फिर भी कहा - हे ब्रह्मचारी जी! आपने ब्रह्मचर्य व्रत कुछ अवधि के साथ लिया है या बिना अवधि का ? उसने कहा - अवधि के साथ लिया है परन्तु स्त्रियों के ऊपर मेरी इच्छा नहीं है क्योंकि स्त्रियाँ विषम विष हैं । जैसा कि कहा है -

कण्ठस्थ: कालकूटोऽपि शम्भो किमपि नाकरोत् ।

सोऽपि प्रवाध्यते स्त्रीभि: स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥261॥

कण्ठ में स्थित कालकूट भी जिस शम्भु का कुछ भी नहीं कर सका वे शम्भु भी स्त्रियों द्वारा अत्यधिक बाधा को प्राप्त हुए हैं, यह ठीक ही है क्योंकि स्त्रियाँ विषम विष हैं ॥261॥

पादाहत: प्रमदया विकसत्यशोक:

शोकं जहाति वकुलो मुखसीधुसिक्त: ।

आलिङ्गित: कुरुवक: कुरुते विकाश-

मालोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति ॥262॥

स्त्री के द्वारा पैर से ताड़ित हुआ अशोक वृक्ष विकसित हो जाता है, मुख की मदिरा से सींचा गया बकुल का वृक्ष शोक छोड़ देता है, आलिंगन को प्राप्त हुआ कुरवक खिल उठता है और देखा हुआ तिलक वृक्ष कलिकाओं से युक्त हो जाता है ॥262॥

सत्यं शौचं श्रुतं वित्तं सौख्यं लोकेषु पूज्यता ।

नश्यन्त्येतानि सर्वाणि पुंसां स्त्रीणां प्रसङ्गत: ॥263॥

सत्य, शुद्धता, शास्त्र ज्ञान, धन, सुख और लोक प्रतिष्ठा, मनुष्यों की इतनी वस्तुएँ स्त्रियों के प्रसंग से नष्ट हो जाती हैं ॥263॥

श्रेष्ठिनाभाणि-भो विभो! मम गृहे ब्राह्मणपुत्री तिष्ठति । तां त्वं विवाह्य श्रावकं ज्ञात्वा तुभ्यं ददामि । श्रेष्ठि- वचनं श्रुत्वा तेनोक्तम्-विवाहेन संसारपातो भवति । अतएव विवाहेन मे प्रयोजनं नास्ति । अन्यच्च, स्त्रीसंगमेन मयाभ्यस्तं शास्त्रमपि गच्छति । तथा चोक्तम्-

सेठ ने कहा - हे विभो! मेरे घर ब्राह्मण की पुत्री है, उससे आप विवाह कर लीजिये, श्रावक जानकर आपके लिए देता हूँ । सेठ के वचन सुनकर उसने कहा - विवाह से संसार में पतन होता है इसलिए मुझे विवाह से प्रयोजन नहीं है । दूसरी बात यह है कि स्त्री के समागम से मेरे द्वारा अभ्यस्त शास्त्र भी चला जाता है-नष्ट हो जाता है । जैसा कि कहा गया है-

व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि वनिताराधनं प्रति ॥264॥

स्त्रियों की सेवा में वशीकरण, अंजन, तन्त्र और अनेक प्रकार के मन्त्र तथा यन्त्र सभी कुछ व्यर्थ हो जाते हैं ॥264॥

तत: श्रेष्ठिना महताग्रहेण विवाहित: । विवाहानन्तरं द्वितीयदिने करकङ्कण सहितो रुद्रदत्त: कितवस्थानं गत: । कितवानामग्रे भणितम्-भो कितवा: मया सोमापाणिग्रहणे या प्रतिज्ञा कृता सा बुद्धिबलेन पूरितास्ति । इति श्रुत्वा तै: प्रशंसितो रुद्रदत्त: । ततस्तस्य पूर्वभार्या वसुमित्रा-कुट्टिन्या: पुत्री कामलता वेश्या, तस्या: गृहे पुनरपि संस्थित: । रुद्रदत्तस्य वृत्तान्तं श्रुत्वा दृष्ट्वा च विलक्ष्यीभूय सोमा चिन्व्यति-अहो, मम कर्मणां स्वभावोऽयं, यदुपार्जितं तत्कथं गच्छति । तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा सोमाग्रे श्रेष्ठिना भणितम्-भो पुत्रि! विरोधं मा कुरु कलियुगस्वभावोऽयम् तथा चोक्तम्-

तदनन्तर सेठ ने बहुत भारी आग्रह से उसके साथ पुत्री का विवाह कर दिया । विवाह के बाद दूसरे दिन हाथ में कंकण बाँधे हुए रुद्रदत्त जुवारियों के स्थान पर गया और जुवारियों के आगे कहने लगा-अरे जुवारियो! मैंने सोमा के साथ विवाह करने की जो प्रतिज्ञा की थी वह बुद्धि बल से पूर्ण हो गयी है । यह सुनकर जुवारियों ने रुद्रदत्त की प्रशंसा की । तदनन्तर वह अपनी पहले वाली स्त्री कामलता वेश्या, जो कि वसुमित्रा वेश्या की पुत्री थी, के घर फिर से रहने लगा । रुद्रदत्त का हाल सुन व देखकर लज्जित होती हुई सोमा ने विचार किया अहो! मेरे कर्मों का यह स्वभाव है, जो उपार्जित किया है वह कैसे जा सकता है ? यह सब समाचार सुनकर सेठ ने सोमा के आगे कहा - हे पुत्रि! विरोध मत करो, यह कलियुग का स्वभाव है । जैसा कि कहा है-

यद्भावि तद्भवति नित्यमयत्नतोऽपि
यत्नेन वापि महता न भवत्यभावि ।
एवं विधातृवशवर्तिनि जीवलोके
किं शोच्यमस्ति पुरुषस्य विचक्षणस्य ॥265॥
शशिनि खलु कलङ्क: कण्टका: पद्मनाले
ह्युदधिजलमपेयं पण्डिते निर्धनत्वम् ।
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे
धनपति-कृपणत्वं रत्नदोषे कृतान्तम् ॥266॥

जो होने वाला है वह निरन्तर बिना प्रयत्न के भी होता है और जो नहीं होने वाला है वह बहुत भारी प्रयत्न से भी नहीं होता है । इस प्रकार जब प्राणियों का संसार विधाता के वशीभूत होकर चल रहा है तब विवेकी जन को क्या शोक करना है ? ॥265॥

निश्चय से चन्द्रमा में कलंक होता है, पद्मनाल में काँटे होते हैं, समुद्र का जल अपेय होता है, पण्डित जन में निर्धनता होती है, प्रियजन का वियोग होता है, सुन्दर रूप में दौर्भाग्य होता है, धनाढ्य में कृपणता होती है और रत्न में भी दोष उत्पन्न करने वाला दुर्देव होता है ॥266॥

दुर्लभा हि सत्या प्रवृत्तिर्वेश्याव्यसनिनाम् । तथा चोक्तम्-

वेश्याव्यसन में आसक्त मनुष्यों की सच्ची प्रवृत्ति होना दुर्लभ है । जैसा कि कहा गया है -

सत्यं शौचं शमं शीलं संयमं नियमं तथा ।
प्रविशन्ति बहिर्मुक्त्वा विटा: पण्याङ्गनागृहे ॥267॥
तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया ।
छिद्यन्ते वेश्यया सद्य: कुठारेण यथा लता ॥268॥

विटमनुष्य, सत्य, शौच, शम, शील, संयम और नियम को बाहर छोड़कर वेश्या स्त्री के घर में प्रवेश करते हैं ॥267॥

जिस प्रकार कुठार के द्वारा लता छिद जाती है उसी प्रकार वेश्या के द्वारा तप, व्रत, विद्या, कुलीनता, दम और दया शीघ्र छिद जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं ॥268॥

पुनरप्युक्तम्-

फिर भी कहा है -

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां यापि याति विनायक: ॥269॥

बड़े-बड़े पुरुषों के भी अच्छे कार्य अनेक विघ्नों से युक्त होते हैं और खोटे कार्य में प्रवृत्ति करने वाले पुरुषों के गणेश कहीं चले जाते हैं

**अर्थ**ात् उनके कार्य में विघ्न नहीं आते ॥269॥
सोमया भणितम्-भो तात मम मनसि किमपि नास्ति, कितवस्य स्वभावोऽयम् । तथा चोक्तम्-
सोमा ने कहा - हे पिताजी! मेरे मन में कुछ भी नहीं है । जुवारी का यह स्वभाव है! जैसा कि कहा है -
नास्ति सत्यं सदा चौरे न शौचं वृषलीपतौ ।
मद्यपे सौहृदं नास्ति द्यूते च त्रिव्यं नहि ॥270॥
चोर में सदा सत्य नहीं रहता, शूद्रा स्त्री के पति में पवित्रता नहीं होती, मदिरा पीने वाले में मित्रता नहीं होती और जुवारी में तीनों नहीं रहते ॥270॥
किञ्च तात! कलियुगस्वभावं जानामि । तथा चोक्तम्-
दूसरी बात यह है कि पिताजी! मैं कलियुग के स्वभाव को जानती हूँ । जैसा कि कहा गया है -
अनृत - पटुता चौर्य - बुद्धि: सतामप्यपमानता ।
मतिरविनये धर्म्मे साव्यं गुरुष्वपि र्वना॥
ललित - मधुरा - वाक् प्रत्यक्षे परोक्षविधातिनी
कलियुग-महाराजस्यैता: स्फुरन्ति विभूव्य: ॥271॥
काल: सम्प्रति वर्तते कलियुगे सत्या नरा दुर्लभा:-
नाना चोरगणा मुषन्ति पृथिवीमार्योजन: क्षीयते ।
देशांशा: प्रलयं गता: करभरै र्लौल्ये स्थिता भूभुज:
पुत्रस्यापि न विश्वसन्ति पितर: कष्टं जगद् वर्तते ॥272॥
असत्य बोलने में चतुराई, चोरी में बुद्धि, सत्पुरुषों का भी अपमान करना, अविनय में बुद्धि रखना, धर्म के विरुद्ध चलना, गुरुओं से छल करना, सामने सुन्दर और मीठी बात करना तथा पीछे विघात करना, ये सब कलियुगरूपी महाराज की विभूतियाँ हैं ॥271॥
इस समय कलिकाल चल रहा है, कलियुग में सत्य मनुष्य दुर्लभ हैं, अनेक चोरों के समूह पृथ्वी को लूट रहे हैं, आर्य मनुष्य नष्ट हो रहे हैं, प्रदेश करों के भार से नष्ट हो गये हैं, राजा विषयलम्पट और तृष्णा से युक्त हो गये हैं, पिता पुत्र का भी विश्वास नहीं करता है, सचमुच ही जगत् अत्यन्त कष्टमय हो रहा है ॥272॥
और भी कहा है -
कुलजोऽयं गुणवानिति विश्वासो न हि खलेषु कर्तव्य: ।
ननु मलयचन्दनेऽपि समुत्थितोऽग्निर्दहत्येव ॥273॥
यह कुलीन तथा गुणवान है ऐसा समझकर दुर्जनों का भी विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि मलयागिरि चन्दन में भी उठी अग्नि जलाती ही है ॥273॥
एते स्निग्धतमा इति मा क्षुद्रेषु यातु विश्वासम् ।
सिद्धार्थानामेषां स्नेहोऽप्यश्रूणि पाव्यति ॥274॥
ये अत्यन्त स्नेही हैं, ऐसा समझ कर क्षुद्र मनुष्यों में विश्वास मत करो, क्योंकि इन सिद्धार्थों-कृतकार्यों पक्ष में सरसों का स्नेह-प्रेम (पक्ष में तेल) भी आँसू गिरा देता है ॥274॥
ऋजुरेष पक्षवानिति काण्डे प्रीतिं खले च माकार्षी: ।
प्रायेणेत्यृजुगुण: फलेन हृदयं विदारयति ॥275॥
यह सीधा है और पक्षवान्-पंखों से युक्त तथा अनेक सहायकों से युक्त है, ऐसा समझ कर बाण में तथा दुर्जन में प्रीति मत करो क्योंकि प्राय: सरलता रूप गुण से युक्त बाण और मनुष्य, फल-अग्रभाग और कार्य सिद्धि के द्वारा हृदय को विदीर्ण कर देता है ॥275॥
श्रेष्ठिना कथितम्-भो पुत्रि! अज्ञानव्या यन्मया कृतं तत्सर्वं सहनीयमिति । एवं निरूप्य बहुतरं द्रव्यं दत्त्वा भणितम्-भो पुत्रि! दानपूजादिकं कुरु येनोत्तमा गतिर्भवति । तथा चोक्तम्-

सेठ ने कहा - हे पुत्रि! अज्ञान से जो मैंने किया है, वह सब सहन करने योग्य है । ऐसा कहकर तथा बहुत भारी धन देकर उसने कहा - हे पुत्रि! दान-पूजा आदि करो, जिससे उत्तम गति होती है । कहा भी है -

गौरवं प्राप्यते दानान्नतु द्रव्यस्य संग्रहात् ।
स्थितिरुच्चै: पयोदानां पयोधीनामध: पुन: ॥276॥
जीवन् स्वर्गी मृत: स्वर्गी दातायं त्यागभोगत: ।
नारकी कृपणोऽप्येवमभोंगादानत: सुते! ॥277॥
आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयस: ।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तय:॥278॥

दान से गौरव प्राप्त होता है न कि धन के संग्रह से । देखो, दान देने वाले मेघों की स्थिति ऊँची है और संचय करने वाले समुद्रों की स्थिति नीची है **अर्थ**ात् दान के प्रभाव से मेघ ऊपर आकाश में रहते हैं और संचय के प्रभाव से समुद्र नीचे पृथ्वी पर पड़े हुए हैं ॥276॥

यह दानी मनुष्य, त्याग और भोग के प्रभाव से जीवित रहता हुआ भी स्वर्गीय जैसे सुख को भोगने वाला है और मरकर भी स्वर्ग के सुख को भोगता है परन्तु हे पुत्रि! कृपण मनुष्य भोग और दान से रहित होने के कारण नारकी होता है ॥277॥

सैकड़ों प्रयासों से प्राप्त तथा प्राणों से भी गुरुतर धन की एक ही गति होती है-दान देना अथवा नष्ट होना ॥278॥

चक्रवत्र्यादयो हित्वा सर्वे ययुरिदं धनम् ।
इत्थं च कृपणो जानन् तथापि यतते धने॥279॥

कंजूस मनुष्य यह जानता है कि-चक्रवर्ती आदि सभी मनुष्य इस धन को छोड़कर चले गये हैं फिर भी वह धन के लिए यत्न करता है ॥ 279॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

लक्ष्मीर्दानफला श्रुतं शमफलं पाणि: सुरार्चाफल-
श्चेष्टा धर्मफला परार्तिहरणे क्रीडाफलं जीवितम् ।
वाणी सत्यफला जगत्सुखफलं स्फाति: प्रभावोन्नति-
र्भव्यानां भवशान्ति चिन्तनफला भूत्यै भवत्येव धी:॥280॥

लक्ष्मी का फल दान है, शास्त्र पढ़ने का फल शान्ति धारण करना है, हाथ का फल देवपूजा है, धर्म का फल दूसरों की पीड़ा दूर करने में पुरुषार्थ करना है, जीवन का फल क्रीड़ा प्राप्त करना है, वाणी का फल सत्य बोलना है, जगत् का फल सुखोपभोग करना है, सम्पन्नता का फल प्रभाव को उन्नत करना है और भव्यजीवों की बुद्धि का फल संसार में शान्ति किस प्रकार हो, ऐसा विचार करना है, क्योंकि ऐसी बुद्धि ही विभूति के लिए होती है ॥280॥

इत्यादिगुणपालश्रेष्ठिनोक्तं श्रुत्वा तेन द्रव्येण सोमया जिनालय: कारित: । प्रतिष्ठा कारिता, प्रतिष्ठानन्तरं चतुर्थ दिवसे चातुर्वर्णसङ्घो यथा प्रतिपत्त्या पूजित: सम्मानितश्च । तदनन्तरं द्वितीय दिनेऽपरेऽपि नगरलोका:, कुट्टिनी वसुमित्रा, तत्पुत्री कामलता, रुद्रदत्तादयश्च भोजनार्थं निमन्त्रिता: । तेऽपि यथा प्रतिपत्त्या सोमया सम्मानिता: । तथा चोक्तम्-

गुणपाल सेठ के द्वारा कहे हुए इन पूर्वोक्त वचनों को सुनकर सोमा ने उस धन से जिनमन्दिर बनवाया, प्रतिष्ठा करवायी और प्रतिष्ठा के पश्चात् चौथे दिन यथायोग्य आदर के द्वारा चातुर्वर्ण संघकी पूजा की तथा सबको सम्मानित किया ।

पश्चात् दूसरे दिन नगर के अन्य मनुष्यों, वसुमित्रा वेश्या, उसकी पुत्री कामलता तथा रुद्रदत्त आदि को भोजन के लिए निमन्त्रित किया और उन सबको भी सोंमा ने यथायोग्य आदर से सम्मानित किया । जैसा कि कहा गया है-

दद्यात् सौम्यां दृशं वाचमभ्युत्थानमथासनम् ।
शक्त्या भोजन-ताम्बूलं शत्रोरपि गृहागते:॥281॥

घर आये हुए शत्रु को भी सौम्यदृष्टि, मधुर वचन, उठकर खड़े होना, आसन तथा शक्ति के अनुसार भोजन और पान देना चाहिए ॥281॥

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधव: ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डाल वेश्मन:॥282॥
सज्जन, गुणहीन जीवों पर भी दया करते हैं, क्योंकि चन्द्रमा चाण्डाल के घर पर से चाँदनी को हटाता नहीं है ॥282॥
सोमागृहागव्या वसुमित्रा कुट्टिन्या सोमा रूपं निरीक्ष्य शिरो धूणितम् । अहो, सोमा ईदृग्विधा सुन्दरी वर्तते । यद्यस्यामसौ रुददत्त: कथमप्यासक्तो भविष्यति तर्हि कथमस्माकं जीवितं भवतीत्यवश्यं केनचिदुपायेन मत्पुत्री सपत्नीयं मारणीया । एवं निश्चित्य गृहमागत्य वसुमित्रया घटमध्ये महादारुणसर्पमानाय्य पुष्पै: सह निक्षिप्य पुनरपि सोमागृहमागव्या सोमाहस्ते घटो दत्त: उक्तञ्च भो पुत्रि! एभि: पुष्पैर्देवपूजा करणीया । सोमाया: पुण्य माहात्म्येन सर्पोऽपि पुष्पमाला जाता, ततो देवपूजा कृता व्या सरलया । एतदाश्चर्यं दृष्ट्वा मया सर्पो घटे निक्षिप्तो न वेत्येवं विस्मयं गता कुट्टिनी । तत: सोमया ते त्रयोऽपि भोजनवस्त्राभरणादिना सम्मानिता: । अनन्तरमाशीर्वादं दत्वा सा माला सोमया कामलताकण्ठे निक्षिप्ता । तत्क्षणादेव सर्पो जात: । तेन सर्पेण कण्ठे दष्टा सती सा भूमौ पतिता । तत: स्वपुत्र्यास्तथाविधामवस्थां दृष्ट्वा कुट्टिन्या वसुमित्रया पूत्कारं कृत्वा मालासर्पौ घटे निक्षिप्य राज्ञोऽग्रे निरूपितम् । देव! मत्पुत्री कामलता गुणपालपुत्र्या सोमया मारिता । ततो राज्ञा कुपितेन सोमा आकारिता । सोमा राजपार्श्वं समागता । राज्ञा पृष्टा-रे दुष्टे! किमर्थं कामलता मारिता कारणं बिना । सोमयोक्तम्-देव! मया न मारिता । अहं जैनी, जिनधर्मोदयायुक्त:, जीवघातेन नरकादिदु:खं जायते जीवानाम्, जीवरक्षणेन च स्वर्गादिसुखं भवति । अतएव सुखार्थिना सूक्ष्मजीवघातो न करणीय: किं पुन: स्थूलस्य? तथा चोक्तम्-
सोमा के घर आयी हुई वसुमित्रा वेश्या ने सोमा का रूप देखकर अपना शिर धुना । वह विचार करने लगी-अहो! सोमा ऐसी सुन्दरी है । यदि रुद्रदत्त किसी तरह इसमें आसक्त हों जायेगा तो हम लोगों का जीवन कैसे चलेगा ? इसलिए किसी उपाय से अवश्य ही अपनी पुत्री की यह सौत मारने के योग्य है ।
ऐसा निश्चय कर तथा आकर वसुमित्रा ने एक महान् भयंकर साँप बुलाया, उसे फूलों के साथ एक घड़े में रखा और सोमा के घर जाकर वह घड़ा सोमा के हाथ में दे दिया । साथ में कहा भी-हे पुत्री! इन फूलों से देवपूजा करना चाहिए । सोमा के पुण्य माहात्म्य से साँप भी पुष्पमाला हो गया ।
तदनन्तर भोली-भाली सोमा ने देवपूजा की । यह आश्चर्य देख वसुमित्रा कुट्टिनी आश्चर्य को प्राप्त हुई कि मैंने घड़े में साँप रखा भी था या नहीं ।
पश्चात् सोमा ने वसुमित्रा, कामलता और रुद्रदत्त इन तीनों को भोजन, वस्त्र तथा आभूषण आदि से सम्मानित किया । तदनन्तर सोमा ने आशीर्वाद देकर वह माला कामलता के कण्ठ में डाल दी । परन्तु डालते ही वह माला साँप हो गयी । साँप ने उसे कण्ठ में डस लिया जिससे वह पृथ्वी पर गिर पड़ी । पश्चात् अपनी पुत्री की वैसी अवस्था देख वसुमित्रा कुट्टिनी ने रोकर माला और साँप को घड़े में रख राजा के आगे कहा - हे देव! गुणपाल की पुत्री सोमा ने मेरी पुत्री कामलता को मार डाला है । पश्चात् राजा ने क्रुद्ध हो सोमा को बुलवाया । सोमा राजा के पास गयी । राजा ने पूछा-रे दुष्टे! तूने बिना कारण ही कामलता को क्यों मार डाला? सोमा ने कह-देव! मैंने नहीं मारा । मैं जैनी हूँ, जैनधर्म दया से युक्त है, जीवों का घात करने से प्राणियों को नरकादि का दु:ख होता है और जीवों की रक्षा करने से स्वर्गादि का सुख होता है । इसलिए सुख के इच्छुक मनुष्य को सूक्ष्म जीव का भी घात नहीं करना चाहिए, स्थूल जीव की तो बात ही क्या है? जैसा कि कहा है -
पापाद्दु:खं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद् विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥283॥
पाप से दु:ख और धर्म से सुख होता है, यह समस्त जनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिए सुख के इच्छुक मनुष्य को पाप छोड़कर सदा धर्म का आचरण करना चाहिए ॥283॥
ततो नरेन्द्रेण पृष्टं चेत् त्वया न मारिता तर्हि किं किं जातं तत् सर्वं सत्यं कथय । ततो राज्ञोऽग्रे पूर्ववृत्तान्तं समस्तमपि सोमया निरूपितम् । पश्चाद् राज्ञा वसुमित्रामुखमवलोकितम् । तत: कुट्टिन्या घटस्थ: सर्पो राज्ञोऽग्रे दर्शित: । ततो राज्ञा सोमाग्रे कथितम्-रे वाचाले किमिदम्? व्या जल्पितम्-हे प्रजापाल! घटमध्ये पुष्पमालास्ति नैव सर्प: । राज्ञा निरूपितम्-तर्हि निष्कासय । तथा पुष्पदाम निष्कासितं राजादीनां च दर्शितम् । ततो वसुमित्रया राजादेशेन तदेव दाम गृहीतं सर्परूपमजायत । यदा सोमा गृह्णाति तदा पुष्पमाला, यदान्ये गृह्णन्ति तदा सर्प: ।

इत्थं राजादीनां चेतसि महांश्चमत्कारोऽजनिष्ट । ततो राज्ञा सभ्यैश्च उपरोधं कृत्वा सोमा प्रार्थिता वेश्याजीवदानविषये । एतद्वचनं श्रुत्वा जिनस्तुतिं कृत्वा सकलसुरासुरनायकं समस्तसुखदायकं श्रीजिनं हृदयकमले निधाय निजकरेण कामलतायाः शरीरं स्पृष्टं व्या । ततो निर्विषा जातोत्थिता च सा । श्रीजिनस्तवनात् किं किं न सिद्ध्यति । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर राजा ने पूछा कि यदि तूने नहीं मारा है तो क्या हुआ, सब सच कहो । पश्चात् सोमा ने पहले का समस्त वृत्तान्त राजा के आगे कह दिया । तदनन्तर राजा ने वसुमित्रा के मुख की ओर देखा । तब कुट्टिनी ने घड़े में रखा हुआ साँप राजा के आगे दिखा दिया । पश्चात् राजा ने सोमा के आगे कहा - रे वाचाले! यह क्या है ?

उसने कहा - हे प्रजापाल! घड़े के भीतर पुष्प माला है न कि साँप ।

राजा ने कहा तो निकालो । उसने फूलों की माला निकाली और राजा आदि को दिखलायी ।

तदनन्तर राजा की आज्ञा से वही माला वसुमित्रा ने ली तो साँप बन गयी ।

जब सोमा उसे लेती तब पुष्पमाला हो जाती और जब कोई अन्य लोग लेते तो साँप बन जाती ।

इस प्रकार राजा आदि के मन में बड़ा चमत्कार हुआ । तदनन्तर राजा तथा अन्य सभासदों ने आग्रह कर कामलता वेश्या को जीवनदान देने के लिए सोमा से प्रार्थना की । इन सबके वचन सुन जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति कर समस्त सुर असुरों के नायक सर्व सुखदायक श्री जिनेन्द्रदेव को हृदय कमल में विराजमान कर उसने

अपने हाथ से कामलता का शरीर छुआ, जिससे वह विष रहित होकर खड़ी हो गयी । ठीक ही है - श्री जिनेन्द्रदेव के स्तवन से क्या-क्या सिद्ध नहीं होता है ? जैसा कि कहा है -

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी भूतपन्नगाः ।

विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥284॥

जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने पर विघ्नों के समूह, शाकिनी, भूत और सर्प नष्ट हो जाते हैं तथा विष निर्विषता को प्राप्त हो जाता है ॥ 284॥

ततश्चमत्कृतेन राज्ञा कामलतां निर्विषां दृष्ट्वा वसुमित्राया अभयदानं दत्वा कुट्टिनी पृष्टा-किमेतत् ममाग्रे सत्यं कथय । व्योक्तम्-हे देव! एतत्सर्वं मम विलसितम्, सोमा निर्दोषा, इति पूर्ववृत्तान्तं समस्तमपि कुट्टिन्या राजाग्रे निरूपितम् । इति धर्मप्रभावं निरीक्ष्य राज्ञा मनुष्यैः देवश्च सा सोमा पूजिता ।

अपर्, देवैः पञ्चाश्चर्याणि कृतानि । ततो विस्मितहृदयैर्लोकैर्भणितम्-अहो धर्मात् किं किं न भवति । ततों भूभोगेन राज्ञा, गुणपालेन, अन्यैश्च बहुभिर्जिनचन्द्र-भट्टारकसमीपे तपो गृहीतम् । केचन श्रावका जाताः, केचन भद्रपरिणामिनो जाताः । श्रीमत्यार्यिकासमीपे राज्ञी भोगावती, गुणपालाभार्या गुणवती, सोमा, अन्याश्च तपो गृह्णन्ति स्म । रुद्रदत्त-वसुमित्रा-कामलतादिभिश्च श्रावकव्रतं गृहीतम् । चन्दनश्रिया भणितम्-भो स्वामिन्! एतत्सर्वमपि धर्मफलं मया प्रत्यक्षं दृष्टं, तदा प्रभृति मया सम्यक्त्वादिप्रतिपत्ति कृता । ततः श्रेष्ठिनाभाणि-भो प्रिये! यत्त्वया दृष्टं तदहं श्रद्दधामि, रोचे, इच्छामि च । अन्याभिश्च तथैव भणितम् । श्रेष्ठिना कुन्दलता भणिता-हे कुन्दलते त्वमपि निश्चलधर्मा सती पूजादिकं कुरु । कुन्दलव्या भणितम्-सर्वमसत्यमेतद् वृत्तान्तम् । तद्वचः श्रुत्वा राज्ञा मन्त्रिणा च स्वमनसि चिन्तितम्-अहो इयं पापिठा । कुतः, चन्दनश्रिया प्रत्यक्षेण दृष्टं धर्मफलं कथमसत्यं वदति । प्रभातसमये गर्दभस्योपरि चाटयित्वा निर्घाटयामः । पुनरपि चौरेण मनसि भणितम् निन्दकस्वभावोऽयम् । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर कामलता को विष रहित देख आश्चर्य से परिपूर्ण राजा नेअभयदान देकर वसुमित्रा कुट्टिनी से पूछा-यह क्या है? मेरे आगे सत्य कहो । वसुमित्रा ने कहा - हे देव! यह सब मेरी कुचेष्टा है, सोमा निर्दोष है, इस प्रकार उसने पहले का सभी समाचार राजा के आगे कह दिया । इस प्रकार धर्म का प्रभाव देखकर राजा ने, मनुष्यों ने तथा देवों ने उस सोमा की पूजा की । इसके अतिरिक्त देवों ने पञ्चाश्चर्य किये । पश्चात् आश्चर्य से परिपूर्ण हृदय वाले लोगों ने कहा - अहो! धर्म से क्या-क्या नहीं होता है? तदनन्तर भूभोग राजा ने, गुणपाल ने तथा अन्य बहुत लोगों ने जिनचन्द्र भट्टारक के समीप तप ग्रहण कर लिया । कोई श्रावक हो गये, कोई भद्र परिणामी हो गये । रानी भोगावती ने, गुणपाल की स्त्री गुणवती ने, सोमा ने तथा अन्य अनेक स्त्रियों ने श्रीमती आर्यिका के समीप तप ग्रहण कर लिया । रुद्रदत्त, वसुमित्रा और कामलता ने श्रावक का व्रत ग्रहण किया ।

चन्दनश्री ने कहा - हे नाथ! यह सभी धर्म का फल मैंने प्रत्यक्ष देखा है, उसी समय से मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है ।

तदनन्तर सेठ ने कहा - हे प्रिये! तुमने जो देखा है, उसकी मैं श्रद्धा करता हूँ, रुचि करता हूँ और इच्छा करता हूँ । अन्य स्त्रियों ने भी ऐसा ही कहा ।

सेठ ने कुन्दलता से कहा - हे कुन्दलते! तुम भी धर्म में निश्चल हो पूजा आदि करो ।

कुन्दलता ने कहा - यह सब वृत्तान्त असत्य है ।

उसके वचन सुन राजा और मन्त्री ने अपने मन में विचार किया कि अहो! यह बड़ी पापिनी है, क्योंकि चन्दनश्री के द्वारा प्रत्यक्ष देखे हुए धर्म के फल को असत्य क्यों कह रही है ? प्रात:काल गधे पर चढ़ाकर इसे नगर से निकाल देंगे ।

चोर ने भी मन में कहा - यह निन्दक जन का स्वभाव है । जैसा कि कहा है-

यो भाषते दोषमविद्यमानं सतां गुणानां ग्रहणे च मूक: ।

स पापभाक् स्यात् स विनिन्दकश्च यशोवध: प्राणवधाद् गरीयान् ॥285॥

जो अविद्यमान दोष को कहता है तथा विद्यमान गुणों को ग्रहण करने में मूक रहता है वह पापी है और निन्दक है । यश का वध करना प्राणों के वध से बड़ा है ॥285॥

इदं हि खलजनलक्षणम्-

दुर्जन मनुष्य का यह लक्षण है -

वाक्यं जल्पति कोमलं सुखकरं कृत्यं करोत्यन्यथा

वक्रत्वं न जहाति जातु मनसा सर्पो यथा दुष्टधी: ।

नो भूतिं सहते परस्य न गुणं जानाति कोपाकुलो

यस्तं लोकविनिन्दितं खलजनं को वा सुधी: सेवते ॥286॥

जो सुख उत्पन्न करने वाले मीठे वचन बोलता है परन्तु कार्य इससे विपरीत करता है । जो दुर्बुद्धि से युक्त हो साँप के समान मन से कभी कुटिलता को नहीं छोड़ता है, जो क्रोध से आकुलित हो दूसरे की विभूति को सहन नहीं करता है और न उनके गुण को जानता है उस लोक निन्दित दुर्जन की कौन बुद्धिमान् सेवा करता है ? **अर्थ**ात् कोई नहीं ॥286॥

॥इति तृतीय कथा॥

॥ इस प्रकार तृतीय कथा पूर्ण हुई ॥

## सम्यक्त्व प्राप्त विष्णुश्री की कथा

सम्यक्त्व प्राप्त विष्णुश्री की कथा

कथा :

सम्यक्त्व प्राप्त विष्णुश्रिय: कथा

ततोऽर्हद्दासेन विष्णुश्री: पृष्टा-भो भार्ये! सम्यक्त्वकारणं कथां कथय । सा कथयति स्म । तद्यथा -

भरतक्षेत्रे वत्सदेशे कौशाम्बी पुरी । राजाजितञ्जय: तस्य राज्ञी सुप्रभा, राजमंत्री सोमशर्मा, तस्य भार्या सोमा । स मन्त्री सोमशर्मा सर्वदा कुपात्रदानविषये रत: ।

तस्मिन्नेव नगरे समाधिगुप्तभट्टारक आगत: । तन्नगरबाह्यस्थितोपवनमध्ये मासोपवासस्य प्रतिज्ञा गृहीता तेन । तदतिशयात् तद्वनं सुशोभितं सञ्जातम् । यथाहि -

तदनन्तर अर्हद्दास ने विष्णुश्री से कहा - हे प्रिये! सम्यक्त्व प्राप्ति में कारणभूत कथा कहो । वह कहने लगी -

भरतक्षेत्र के वत्सदेश में कौशाम्बी नामक नगरी है उसके राजा का नाम अजितंजय, रानी का नाम सुप्रभा, राजमन्त्री का नाम सोमशर्मा और उसकी स्त्री का नाम सोमा था । वह सोमशर्मा मन्त्री सदा कुपात्रदान में तत्पर रहता था ।

उसी कौशाम्बी नगरी में किसी समय समाधिगुप्त नामक भट्टारक आये । उन्होंने नगरी के बाहर स्थित उपवन के मध्य में मासोपवास की प्रतिज्ञा की । उस अतिशय से वह वन अत्यन्त सुशोभित हो गया । जैसा कि कहा है-

शुष्काशोक-कदम्बचूत-वकुला: खर्जुरकादिद्रुमा
जाता: पुष्पफलप्रपल्लवयुता: शाखोपशाखाचिता: ।
शुष्काब्जा जलवापिकाप्रभृव्यो जाता पय:पूरिता:
क्रीडन्त्येव सुराजहंसशिखिनश्चक्रु: स्वरं कोकिला: ॥287॥

अशोक, कदम्ब, आम, मौलश्री तथा खजूर आदि के जो वृक्ष पहले सूख गये थे, वे फूल फल व कोपलों से युक्त हो गये तथा शाखा और उपशाखाओं से व्याप्त हो गये । जिनके कमल सूख गये थे ऐसी जलवापिका आदि जलाशय जल से परिपूर्ण हो गये, उनमें राजहंस पक्षी निरन्तर क्रीड़ा करने लगे और कोकिलाएँ सुन्दर शब्द करने लगीं ॥287॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

जातीचम्पक-पारिजातक-जपासत्केतकी-मल्लिका:
पद्मिन्य: प्रमुखा: क्षणाद्विकसिता: प्रापुद्र्विरेफास्तत: ।
कुर्वन्तो मधुरं स्वरं सुललितं तद्गन्धमाघ्राय ते
गायन्ते विहगा परस्परपरे भातीदृशं तद्वनम् ॥288॥

चमेली, चम्पा, पारिजात, जपा, उत्तम केतकी, मालती तथा कमलिनी आदि क्षण भर में खिल उठे, उनकी सुन्दर सुगन्ध को सूँघकर भौंरे मधुर शब्द करने लगे और पक्षी परस्पर गाने लगे । इस प्रकार वह वन सुशोभित हो उठा ॥288॥

स तपस्वी कीदृग्विध: ?

वे तपस्वी भट्टारक कैसे थे ?

साधवस्तु कृपावन्तो भवन्ति पुण्यचेतस: ।
अपकृतों च सत्यां वै कुर्वन्त्युपकारकं सदा ॥289॥

पवित्र चित्त के धारक साधु परम दयालु होते हैं । अपकार करने पर भी वे सदा उपकार ही करते हैं ॥289॥

तद्यथा-

और भी कहा है-

देहे निर्ममता गुरौ विनतता नित्यं श्रुताभ्यासता
चारित्रोज्जवलता महोपशमता संसार-निर्वेदता ।
अन्तरबाह्य-परिग्रहत्यजनता धर्मज्ञता साधुता
साधो: साधुजनस्य लक्षणमिदं संसारविच्छेदकम् ॥290॥

साधु का लक्षण यह है - शरीर में ममता का अभाव, गुरु में नम्रता, निरन्तर शास्त्र का अभ्यास, चारित्र की निर्मलता, अत्यन्त शान्तवृत्ति, संसार से उदासीनता, अन्तर तथा बाह्य परिग्रह का त्याग, धर्मज्ञता और सज्जनता; यह उत्तम साधु का लक्षण है और यह लक्षण उनके संसार का विच्छेद करने वाला है ॥290॥

पुन: परिग्रह: -

फिर परिग्रह इस प्रकार है -

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदश्च चतुष्पदम् ।
यानं शय्यासनं कुप्यं भाण्डश्चेति बहिर्दश ॥291॥
मिथ्यात्वं वेदहास्यादि षट्कषायचतुष्टयम् ।
रागद्वेषौ च सङ्गा: स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥292॥
मिच्छत्तं वेयतिगं हासाई छक्कयं च णायव्वम् ।
कोहादीण चउक्कं चउदस अब्भंतरा गंथा ॥293॥

खेत, मकान, धन, धान्य, दासी-दास आदि द्विपद, गाय, भैंस आदि चतुष्पद, वाहन, शय्या-आसन, वस्त्र और बर्तन; ये दश बाह्य परिग्रह हैं ॥291॥

मिथ्यात्व, वेद, हास्यादि छह नोकषाय, क्रोधादि चार कषाय, राग और द्वेष; ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ॥292॥

यही भाव प्राकृत गाथा में दर्शाया गया है-मिथ्यात्व तीनवेद, हास्यादिक छह नोकषाय और क्रोधादिक की चौकड़ी, ये सब मिलकर चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ॥293॥

प्रतिज्ञानन्तरमेवं गुणविशिष्टं समाधिगुप्तभट्टारकं चर्यार्थमागतं दृष्ट्वा लघुकर्मणा श्रद्धादिसप्तगुण-समन्वितेन, नव-विधान-युक्तेन, सोमशर्म-मन्त्रिणा मुनिप्रतिलम्भतोऽतिमोदमानेन मुनिं प्रतिष्ठाप्य चर्या कारिता । के सप्तगुणा इति चेत्? तद्यथा-

प्रतिज्ञा के अनन्तर **अर्थ**ात् मासोपवास की प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर इस प्रकार के गुणों से युक्त समाधिगुप्त भट्टारक चर्या के लिए नगर में आये । उन्हें देख, जिसके कर्म अत्यन्त अल्प रह गये थे, जो श्रद्धा आदि सात गुणों से सहित था, नवधाभक्ति से युक्त था और मुनिराज की प्राप्ति से अत्यधिक हर्षित हो रहा था, ऐसे सोंमशर्मा मन्त्री ने पड़गाहन कर आहार कराया ।

वे सात गुण कौन-से हैं ? यह कहते हैं-

श्रद्धा शक्तिरलोभित्वं दयाभक्ति: क्षमा तथा ।
विज्ञानञ्चेति सप्तैते दातु: सप्तगुणा मता: ॥294॥

श्रद्धा, शक्ति, निर्लोभता, दया, भक्ति, क्षमा और विज्ञान; ये दाता के सात गुण माने गये हैं ॥294॥

कश्च विधि:-

और विधि क्या है ? यह कहते हैं -

पडिगहमुच्चठ्ठाणं पादोदयमच्चणं हु पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी हु णवविहं पुण्णं ॥295॥

पड़गाहन, उच्च स्थान पर विराजमान करना, पैर धुलाना, पूजा करना, प्रणाम करना, मन शुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि का प्रकट करना तथा आहार जल की शुद्धि को बताना; यह नौ प्रकार की विधि है **अर्थ**ात् नवधाभक्ति है ॥295॥

ततो हस्तौ संयोज्य मन्त्री वदति स्म । हे मुने! अद्याहं धन्यो जात: । मयाद्य तीर्थंकरो दृष्ट: पूजितश्च । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर हाथ जोड़कर मन्त्री ने कहा कि-हे मुनिराज! आज मैं धन्य हो गया । मैंने आज तीर्थंकर को देखा है और उनकी पूजा की । जैसा कि कहा है -

सम्प्रत्यस्ति न केवली कलियुगे त्रैलोक्यरक्षामणि: ।
तद्वाच: परमाश्चरन्ति भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका:॥
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनं ।
तत्पूज्या जिनवाक्यपूजनव्या साक्षाज्जिन: पूजित: ॥296॥

इस समय कलिकाल में तीन लोक के महान् रक्षक केवली भगवान् नहीं है परन्तु भरतक्षेत्र में जगत् को प्रकाशित करने वाली उनकी उत्कृष्ट वाणी चल रही है । रत्नत्रय के धारक उत्तम मुनि उस वाणी के आधारभूत हैं; अत: जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के पूज्य होने से वे मुनि पूज्य हैं । उनकी पूजा करने से ऐसा जान पड़ता है मानों साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् की ही पूजा की हो ॥296॥

मन्त्रिमन्दिरे मुनिदानफलेनामरविरचितानि पञ्चाश्चर्याणि जातानि । भट्टारकदत्ताहारदानफलातिशयं दृष्ट्वा मन्त्री स्वमनसि वदति-अहो, वैष्णवधर्मे यानि दानानि प्रतिपादितानि, तानि सर्वाण्यपि दीक्षिताग्नि- होतृ-श्रोत्रिय- त्रिपटकशासन-धर्मकथक-भागवत-तपस्विवन्दक-यौगीन्द्रादीनामनेकधा दत्तानि मया दानानि । तथा चोक्तम्-

मन्त्री के महल में मुनि दान के फलस्वरूप देवों के द्वारा विरचित पञ्चाश्चर्य हुए । मुनिराज को दिये हुए आहारदान के फल का अतिशय देख मन्त्री मन में कहता है कि-अहो! वैष्णव धर्म में जो दान बतलाये गये हैं, वे सब मैंने दीक्षित, अग्निहोत्री, श्रोत्रिय, (वेदपाठी) त्रिपटक शासन, धर्मकथक, भागवत, तपस्वी, वन्दक तथा योगीन्द्र आदि अनेक प्रकार से दिये हैं । जैसा कि कहा है -

कनकाश्वतिला नागो रथो दासी मही गृहम् ।

कन्या च कपिलाधेनुर्महादानानि वै दश ॥297॥

सुवर्णदान, अश्वदान, तिलदान, हस्तिदान, रथदान, दासीदान, पृथ्वीदान, गृहदान, कन्यादान और कपिला गाय का दान; ये दश महादान हैं ॥297॥

परं तद्दानफलातिशय: कोऽपि नु दृष्टो मया । इत्येवं मनसि निश्चित्यापराह्णसमये स्वस्थानमागतस्य साधो: पार्श्वं गत्वा विधिपूर्वेण भट्टारकं वन्दित्वा तेन भट्टारक: पृष्ट:-भो: भगवन् दीक्षितादिदानफलातिशय: कोऽपि न दृष्टो मया किमिति कारणम्? भगवानाह-भो सचिव! ते दीक्षितादय: कुपात्रा आर्तरौद्रध्यानयुक्ता अत: न पात्रभूता:, तेषां दानानि देयानि न भवन्ति । योऽतिथिरात्मानं यजमानं च तारयति तस्य दानं दातव्यम् । तथा चोक्तम्-

परन्तु उन दानों के फल का कुछ भी अतिशय मैंने नहीं देखा है । इस प्रकार का मन में निश्चय कर, अपराह्ण समय में जब मुनिराज अपने स्थान पर आये तब उनके पास जाकर तथा विधिपूर्वक नमस्कार कर मन्त्री ने उनसे पूछा-हे भगवन्! दीक्षित आदि को दिये हुए दान के फल का कुछ भी अतिशय मैंने नहीं देखा है, इसका क्या कारण है?

मुनिराज ने कहा कि-हे मन्त्री! वे दीक्षित आदि कुपात्र हैं, आर्त और रौद्रध्यान से युक्त हैं अत: पात्र नहीं हैं, उन्हें दान नहीं देना चाहिए । जो अतिथि अपने आपको तथा यजमान को तारता है, उसे ही दान देना चाहिए । जैसा कि कहा है -

अवद्यमुक्ते पथि य: प्रवर्तते प्रवर्तयत्यन्यजनञ्च नि:स्पृह: ।
स एव सेव्य: स्वहितेच्छुना गुरु: स्वयं तरन् तारयितुं क्षम: परम् ॥298॥

जो पाप रहित मार्ग में स्वयं प्रवर्तता है और नि:स्पृह भाव से दूसरे को भी प्रवर्ताता है, आत्मकल्याण के इच्छुक मनुष्य के द्वारा वही गुरु अपराधनीय है, ऐसा ही गुरु स्वयं तरता है और दूसरे को तारने में समर्थ है ॥298॥

अन्यच्च-

और भी कहा है-

दानं दातव्यं शीलवद्भ्य: प्रणम्य
ज्ञानं ज्ञातव्यं बन्धमोक्ष-प्रदर्शि ।
देवा: संसेव्या द्वेषरागप्रहीणा:
स्वर्गं मोक्षं गन्तुकामेन पुंसा ॥299॥

स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्य को शीलवन्त मुनियों के लिए प्रणाम कर दान देना चाहिए, बन्ध और मोक्ष को दिखलाने वाले ज्ञान को जानना चाहिए तथा राग-द्वेष से रहित देवों की अच्छी तरह सेवा करनी चाहिए ॥299॥

उत्तमपात्रमध्यमपात्रजघन्यपात्राणामौषधाभयाहारशास्त्रदानानि यथायोग्यं दातव्यानि । तथा चोक्तम्-

उत्तमपात्र, मध्यमपात्र और जघन्यपात्रों के लिए यथायोग्य औषध, अभय, आहार और शास्त्र दान देना चाहिए । जैसा कि कहा है-

उत्तमपत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ।
अविरदसमाइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥300॥

उत्तमपात्र मुनि और मध्यमपात्र श्रावक कहे गये हैं । अविरत-सम्यग्दृष्टि जीवों को जघन्यपात्र जानना चाहिए ॥300॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

उत्कृष्ट-पात्रमनगारमणुव्रताढ्यं
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥301॥

महाव्रत को धारण करने वाले मुनि उत्तमपात्र हैं, अणुव्रत से सहित श्रावक मध्यम पात्र हैं और व्रत से रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं । सम्यग्दर्शन से रहित किन्तु व्रत समूह से युक्त मनुष्य कुपात्र हैं और सम्यग्दर्शन तथा व्रत-दोनों से रहित मनुष्य को अपात्र जानो ॥301॥

अभीतिरभयादाहुराहाराद् भोगवान् भवेत् ।
आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं शास्त्राद्धि श्रुतकेवली ॥302॥
पुनश्चोक्तं चतुर्विधदानफलम्-
चतुर्विध दान का फल कहा भी है-अभयदान देने से मनुष्य निर्भय होता है, आहारदान देने से भोग युक्त होता है, औषधदान देने से आरोग्य-नीरोगता प्राप्त होती है और शास्त्रदान देने से श्रुतकेवली होता है ॥302॥
य: पुन:
और
अपात्रेभ्यो दानं ददाति स आत्मानं पात्रं च नाशयति "भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थ व्यय:" इति सोंमनीति: । तथा च-
जो अपात्रों को दान देता है वह अपने आपको तथा पात्र को नष्ट करता है क्योंकि सोमदेव के नीति शास्त्र में कहा गया है कि - भस्म में किये हुए होम के समान अपात्रों में किया हुआ धन का व्यय व्यर्थ होता है और भी कहा है -
जायते दन्दशूकाय दत्तं क्षीरं यथा विषम् ।
तथापात्राय यद्दत्तं तद्दानं तद्विषं भवेत् ॥303॥
जिस प्रकार साँप के लिए दिया हुआ दूध विष होता है, उसी प्रकार जो दान अपात्र के लिए दिया जाता है, वह विष हो जाता है ॥303॥
उप्तं यथोषरे क्षेत्रे बीजं भवति निष्फलम् ।
तथापात्राय यदद्त्तं तद्दानं निष्फलं भवेत् ॥304॥
जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया हुआ बीज निष्फल होता है उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ दान निष्फल होता है ॥304॥
अन्यच्च
और भी कहा है -
एकवापीजलं यद्वदिक्षौ मधुरतां व्रजेत् ।
निम्बे कटुकतां याति पात्रापात्रेषु योजितम् ॥305॥
जिस प्रकार एक ही वापिका का जल ईख में मधुरता को प्राप्त होता है और नीम में कडुवापन को प्राप्त होता है उसी प्रकार पात्र और अपात्र में दिया दान विविध रूपता को प्राप्त होता है ॥305॥
एतत् श्रुत्वा पुनरपि मन्त्री पृच्छति स्म-भो भगवन्! यथा मुनिदानफलातिशयो मया प्राप्तस्तथान्येन केनापि मुनिदानफलातिशय: प्राप्तो न वा । ततो भगवानाह-पूर्वं विश्वभूतिद्विजेन यथा लब्धं तथा शृणु ।
दक्षिणदेशे वराडनगरे राजा सोमप्रभ: । राज्ञी सोमप्रभा । स राजा ब्राह्मणभक्त: । स नित्यं सभामध्योपविष्ट: कथयति-विप्रान् विहायान्य: कोऽपि लोकानां तारको न भवतीति । तथा चोक्तम्-
यह सुनकर मन्त्री ने पुन: पूछा-हे भगवन्! जिस प्रकार मुनि दान के फल का अतिशय मैंने प्राप्त किया है, उस प्रकार किसी अन्य ने भी प्राप्त किया है अथवा नहीं । तब भगवान्-मुनिराज बोले कि पहले विश्वभूति ब्राह्मण ने जैसा प्राप्त किया है उसे सुनो ।
दक्षिण देश के वराड नगर में राजा सोमप्रभ रहते थे । उनकी रानी का नाम सोमप्रभा था । वह राजा ब्राह्मण भक्त था । वह नित्य ही सभा के मध्य बैठकर कहा करता था कि-ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य कोई भी लोगों को तारने वाला नहीं है । जैसा कि कहा है-
गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभि: सत्यवादिभि: ।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ॥306॥
गायों से, ब्राह्मणों से, वेदों से, पतिव्रता स्त्रियों से, सत्य बोलने वालों से, लोभहीन मनुष्यों से तथा दानी पुरुषों से-इन सात के द्वारा पृथ्वी धारण की जाती है-ये सात पृथ्वी के रक्षक हैं ॥306॥
एकदा तेन राज्ञा स्वमनसि विचारितमहो, मया बहुद्रव्यमुपार्जितमस्ति । तस्य द्रव्यस्य दानाद्युपयोगो गृह्यतेऽन्यथा नाश एव भवति । तथा चोक्तम्-
एक समय उस राजा ने अपने मन में विचार किया कि अहो ? मैंने बहुत द्रव्य उपार्जित किया है । उस द्रव्य का दान आदि में उपयोग लिया

जाता है । अन्यथा उसका नाश ही होता है । जैसा कि कहा है -

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गव्यो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥307॥

दान, भोग और नाश, धन की ये तीन गतियाँ हैं जो न दान करता है और न भोगता है उसके धन की तीसरी गति-नाश होती है ॥307॥

किञ्च-

और भी कहा है -

त्यागो भोगो विनाशश्च विभवस्य त्रयी गति: ।

द्वे यस्याद्ये न विद्येते नाशस्तस्यावशिष्यते ॥308॥

त्याग, भोग और विनाश, वैभव की ये तीन अवस्थाएँ होती हैं । जिस पुरुष के आदि की दो अवस्थाएँ नहीं हैं, उसके एक नाश अवस्था ही शेष रहती है ॥308॥

इति विचार्य विप्रानुमत्या बहुसुवर्णनामा यज्ञ: कारित: । तस्मिन् यज्ञे आदिमध्यावसानेषु विप्राणां बहुसुवर्णं दीयते । यज्ञशालासमीपे विश्वभूतिनाम्नो द्विजस्य गृहं तिष्ठति । स विश्वभूतिर्भोगोंपभोगेषु यमनियमसंयमादियुक्तो नि:स्पृहचित्तश्च बभूव । तस्या भार्या सती ।

भोगोपभोंगस्वरूपमाह-

ऐसा विचार कर ब्राह्मणों की अनुमति से उसने बहु सुवर्ण नाम का यज्ञ करवाया उस यज्ञ के आदि, मध्य और अन्त में ब्राह्मणों के लिए बहुत सुवर्ण दिया जाता है ।

यज्ञशाला के समीप ही विश्वभूति नामक ब्राह्मण का घर था । वह विश्वभूति भोग और उपभोग के विषय में यम, नियम, रूप, संयम आदि से युक्त तथा निस्पृह चित्त था । उसकी स्त्री पतिव्रता थी ।

भोग और उपभोग का स्वरूप ऐसा कहा है -

य: सकृत् सेव्यते भाव: स भोगो भोजनादिक: ।

भूषादि: परिभोग: स्यात्पौन:पुन्येन सेवनात् ॥309॥

जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, वह भोग कहलाता है । जैसे भोजन आदि और जो बार-बार सेवन में आता है, वह परिभोग कहलाता है । जैसे आभूषण आदि ॥309॥

पुनश्च यमनियमौ-

यम और नियम का स्वरूप इस प्रकार है -

यमश्च नियमश्चेति द्वेत्याज्ये वस्तुनि स्मृते ।

यावज्जीवं यमो ज्ञेय: सावधिर्नियम: स्मृत: ॥310॥

त्यागने योग्य वस्तु के विषय में यम और नियम के भेद से दो प्रकार का त्याग माना गया है । जीवनपर्यन्त के लिए जो त्याग होता है, उसे यम जानना चाहिए और जो समय की अवधि से सहित होता है, वह नियम कहा जाता है ॥310॥

एकस्मिन् दिने तेन विश्वभूतिना खलं (धान्यस्थानं) गत्वा कपोतवृत्त्या यवा आनीता: । पेषयित्वा च तच्चूर्णस्य जलेन सह तेन पिण्डचतुष्टयं बद्धम् । एकेन पिण्डेनाग्निहोत्रं कृतवान् । द्वितीयपिण्डं स्वभोजनार्थं धृतम् । तृतीयं पिण्डं स्वभार्या-भोजननिमित्तं धृतम् । चतुर्थं पिण्डमतिथिभोजननिमित्तं धृतम् । एवं विश्वभूते: कालो गच्छति । तथा चोक्तम्-

एक दिन वह विश्वभूति अनाज के स्थान स्वरूप खलिहान में जाकर कपोतवृत्ति से **अर्थ**ात् दाने बीनकर जो लाया, उन्हें पिसवाकर उसके चूर्ण को जल के साथ उसने चार पिण्ड बाँधे । एक पिण्ड से अग्नि का होम किया, दूसरा पिण्ड अपने भोजन के लिए रख लिया, तीसरा पिण्ड अपनी स्त्री के भोजन के लिए रख लिया और चौथा पिण्ड अतिथि के भोजन के लिए रखा । इस प्रकार विश्वभूति का समय व्यतीत हो रहा था । जैसा कि कहा है-

देयं स्तोकादपि स्तोकं न व्यपेक्षा महोदये ।

इच्छानुकारिणी शक्ति: कदा कस्य भविष्यति ॥311॥

अपने समीप थोड़ी सम्पत्ति है तो उस थोड़ी सम्पत्ति में से भी थोड़ा भाग दान में देना चाहिए । महान् अभ्युदय-बहुत भारी सम्पत्ति की अपेक्षा नहीं करना चाहिए क्योंकि इच्छानुसार सम्पत्ति कब किसके होती है? ॥311॥

एकस्मिन् दिने विश्वभूतिगृहे पिहितास्रवनामा मुनिश्चर्यार्थमागत: । परमानन्देन यथोक्तागमविधिना विश्वभूतिना प्रतिष्ठापित: । अतिथि-निमित्तं धृतं पिण्डं शोधितम् । स्वनिमित्तं धृतमपि पिण्डं शोधितम् तदनन्तरं भार्यामुखमवलोकितं द्विजेन व्योक्तमिङ्गिताकारज्ञया-धन्याहं तव प्रसादेन । ममापि पुण्यं घटयतु । ममापि घटितं मदीयं पिण्डं दीयतामेव,

शोधय । तेन तदपि शोधितम् । तथा चोक्तम्-

उस दिन विश्वभूति ब्राह्मण के घर पिहितास्रव मुनि चर्या के लिए आये । परम आनन्द से युक्त उस विश्वभूति ने आगम में कही विधि से उन मुनिराज को पड़गाहना तथा अतिथि के निमित्त जो पिण्ड रख छोड़ा था वह शोधा, पश्चात् अपने लिए रखा हुआ भी शोधा, तदनन्तर ब्राह्मण ने अपनी स्त्री के मुख की ओर देखा । अभिप्राय को जानने वाली स्त्री ने कहा कि - आपके प्रसाद से मैं धन्य हूँ मुझे भी पुण्य मिले, मेरे लिए पिण्ड रख छोड़ा है वह भी दिया जाय । ब्राह्मण ने वह पिण्ड भी शोध लिया । जैसा कि कहा है-

वश्या: सुता वृत्तिकरी च विद्या नीरोगता सज्जनसंगतिश्च ।

इष्टा च भार्या वशवर्तिनी च दुखस्य मूलोद्धरणानि पञ्च ॥312॥

आज्ञाकारी पुत्र, आजीविका करने वाली विद्या, नीरोगता, सज्जनों की संगति और अनुकूल चलने वाली स्त्री; ये पाँच दु:ख को जड़ से नष्ट करने वाले हैं ॥312॥

पश्चात् मुनि दान का माहात्म्य जानकर मन्द कर्मोदय वाले सोमप्रभ राजा ने ब्राह्मणों के आगे ततो मुनेर्निरन्तराय आहारोऽजनि । तत: सुपात्रदानप्रभावात् तद्द्विजगृहे तन्नगरे च रत्नवृष्टि:, कुसुमवृष्टि:, सुगन्धिवायु:, देवदुन्दुभि:, साधुवादश्चेतिपञ्चाश्चर्यं देवै: कृतम् । भट्टारक: स्वस्थानं गत:, लोकैश्च स द्विज: प्रशंसित: । तानीमानि पञ्चाश्चर्याणि-

तदनन्तर मुनि का निरन्तराय आहार हो गया । उस सुपात्रदान के प्रभाव से उस ब्राह्मण के घर तथा नगर में रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, सुगन्धित वायु, देवदुन्दुभि और उत्तम शब्द ये पञ्चाश्चर्य देवों ने किये । मुनिराज अपने स्थान पर चले गये । लोगों ने उस ब्राह्मण की बहुत प्रशंसा की । वे पञ्चाश्चर्य ये हैं-

सुरजण साहुवकारो गंधोदयरयणपुप्फविठ्ठिओ ।

तह दुन्दुहिणिग्घोसो पंचच्छरिया मुणेयव्वा ॥313॥

गन्धवायुस्ततो वाति वृष्टि: कुसुमरत्नयो: ।

देवदुन्दुभिनिर्घोष: साधुवाद: सुनिर्मल: ॥314॥

देवों के द्वारा "बहुत अच्छा-बहुत अच्छा" इस प्रकार के उत्तम शब्द का कहा जाना, गन्धोदक, रत्न और पुष्पों की वर्षा होना तथा दुन्दुभि का शब्द होना, ये पञ्चाश्चर्य जानना चाहिए ॥313॥

पात्रदान से सुगन्धित वायु बहती है, पुष्प और रत्नों की वृष्टि होती है, देव दुन्दुभियों का शब्द होता है और अत्यन्त निर्मल साधु-साधु शब्द की ध्वनि होती है ॥314॥

तदनन्तरं मिथ्यादृष्टिब्राह्मणैर्भणितम् राज्ञोऽग्रे-हे राजन् बहुसुवर्णयज्ञफलमेतत् । श्रुत्वा राजा संतुष्टो जात: । ततो राज्ञा तुष्टेन ब्राह्मणा: समादिष्टा:-भो द्विजवरा: । यूयमेव रत्नादिकं गृह्णीध्वम् । ततो हृष्टा द्विजा यावदागत्य गृह्णन्ति तावद् रत्नादिकमङ्गाररूपं सर्परूपं च जातम् । पश्चाद् राज्ञा स्वयमेवागत्य विलोकितम् । यदा राजा रत्नादिकं गृह्णाति तदा सर्पाङ्गाररूपं भवति, अन्यथा यथावस्थितम् । तत: केनचिद् विशिष्टे पुरुषेण नृपाग्रे भणितम्-भो भूपते बहुसुवर्ण-यज्ञफलं नैतत् । किं तर्हि? विश्वभूतिब्राह्मणेन मुनिदत्ताहारदानफलमेतत् । ततो मुनिदानमाहात्म्यं ज्ञात्वा लघुकर्मणा सोमप्रभेण राज्ञा ब्राह्मणानां पुरत: कथितम्-भो असत्यवादिनो द्विजा नैतद् यज्ञफलं, किन्तु सुपात्र दान फलं निश्चयव्या ज्ञातव्यमेव । ततोंऽवसरं प्राप्य जिनधर्मानुरक्तमन्त्रिणा कथितम्-हे नरेन्द्र! ये शुद्धभावयुक्तास्त एव दानयोग्या भवन्ति, न पुनरार्त्तरौद्रध्यानपरायणा गृहिणस्तेषां शुभभावाभावात् । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणों ने राजा के आगे कहा - हे राजन्! यह सब-सुवर्ण यज्ञ का फल है । राजा सुनकर संतुष्ट हो गया । पश्चात् संतुष्ट हुए राजा ने ब्राह्मणों को आज्ञा दी ब्राह्मणों! तुम लोग ही रत्नादिक को ले लों । तदनन्तर हर्षित ब्राह्मण आकर ज्योंही ग्रहण करते हैं

त्योंही रत्नादिक अंगाररूप और सर्पादि रूप हो गये । पश्चात् राजा ने स्वयं आकर देखा । जब राजा रत्नादिक को ग्रहण करता तों वे सर्प और अंगाररूप हो जाते और जब ग्रहण नहीं करता तब जैसे थे वैसे हो जाते थे । तदनन्तर किसी विशिष्ट पुरुष ने राजा के आगे कहा - हे राजन्! यह बहुसुवर्ण यज्ञ का फल नहीं है, तो क्या है? यह विश्वभूति ब्राह्मण के द्वारा मुनि के लिए दिये हुए आहारदान का फल है । कहा है - असत्य बोलने वाले ब्राह्मणो! यह यज्ञ का फल नहीं है किन्तु सुपात्रदान का फल है यही निश्चय से जानना चाहिए । तदनन्तर अवसर पाकर जिनधर्म के अनुरागी मन्त्री ने कहा - हे राजन्! जो शुद्धभाव से युक्त हैं वे ही दान के योग्य होते हैं न कि आर्त और रौद्रध्यान में तत्पर रहने वाले गृहस्थ, क्योंकि उनके शुभ-भाव का अभाव रहता है । जैसा कि कहा है-

नो शीलं परिपालयन्ति गृहिणस्तप्तुं तपो न क्षमा,
आर्तध्याननिराकृतोज्ज्वलधियां तेषां न सद्भावना ।
इत्येवं निपुणेन हन्त मनसा सम्यङ् मया निश्चितम्
नोत्तारो भवकूपतोऽस्ति सुदृढों दानावलम्बात्पर: ॥315॥

गृहस्थ लोग शीलपालन नहीं करते हैं, वे तप तपने में समर्थ नहीं हैं तथा आर्तध्यान से उज्जवल बुद्धि को नष्ट करने वाले गृहस्थों के शुभ भावना भी नहीं रहती है, इस प्रकार सावधान चित्त से अच्छी तरह विचार कर मैंने हर्षपूर्वक यह निश्चय किया है कि दानरूप आलम्बन के सिवाय संसाररूपी कूप से निकालने वाला दूसरा सुदृढ़ साधन नहीं है ॥315॥

अतएव मुनिभ्य: दानं दातव्यं, मुक्ते: कारणं त एव भवन्ति न गृहिण: । तथा चोक्तम्-

इसलिए मुनियों को दान देना चाहिए, क्योंकि मुक्ति के कारण वे ही हैं, गृहस्थ नहीं । जैसा कि कहा है -

सन्त: सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्ते: परं कारणं,
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवन-प्रद्योति काये सति ।
वृत्तिस्तस्य यदन्नत: परमया भक्त्यार्पिताज्जायते,
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रिय:॥316॥

शरीर के रहते हुए सत्पुरुष, समस्त सुरेन्द्र और असुरेन्द्रों के द्वारा पूजित, मुक्ति के उत्कृष्ट कारण तथा तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले रत्नत्रय को धारण करते हैं । उस शरीर की वृत्ति उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक दिये हुए जिन गृहस्थों के अन्न से होती है, उन गुणवान गृहस्थों का धर्म किसके लिए प्रिय नहीं है ? **अर्थ**ात् सभी के लिए प्रिय है ॥316॥

तदनन्तर करौ कुड्मलीकृत्य विश्वभूतिद्विजं प्रति राजा भणति-भो पुण्यात्मन् विश्वभूते! त्वं मुनिदत्ता-हारदानफलं ममार्धं प्रयच्छ । मदीयं बहु सुवर्णयज्ञफलार्धं गृहाण । ततो विश्वभूतिनाभाणि-भो राजन्! स्वर्गादिकं येन दानेन साध्यते तद् दानं कथं दीयते ? राज्ञोक्तम्-त्वं दरिद्रोंवाञ्छितमर्थं गृहीत्वा मुनिदत्ताहारदानफलार्धं दीयते । तेन कथितम्-भो भूपते दारिद्र्यपीडितोऽपि सत्पुरुषो नीतिं परित्यक्त्वान्यथा करोति किम्? तथा चोक्तम्-

तदनन्तर दोनों हाथ जोड़कर राजा विश्वभूति ब्राह्मण से कहता है कि पुण्यात्मन् विश्वभूति! तुम मुनि को दिये हुए आहारदान का आधा फल मुझे दे दो और मेरे बहु सुवर्ण यज्ञ का आधा फल ले लो । तब विश्वभूति ने कहा - हे राजन्! जिस दान से स्वर्गादिक की सिद्धि होती है वह दान कैसे दिया जा सकता है । राजा ने कहा - तुम दरिद्र हो इसलिए मन चाहा धन लेकर मुनि को दिये हुए आहारदान का आधा फल दिया जा सकता है । उसने कहा - हे राजन्! दारिद्र्य से पीड़ित होने पर भी सत्पुरुष नीति को छोड़कर क्या अन्यथा काम करता है ? **अर्थ**ात् नहीं करता । जैसा कि कहा है-

क्षुत्क्षामोऽपि तृषार्दितोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भदलनग्रासैकबद्धस्पृह:
किं जीर्णं तृणमत्त मानमहतामग्रेसर: केसरी॥317॥

मत्त गजराज के विदीर्ण किये हुए गण्डस्थल के ग्रास में जिसकी इच्छा लग रही है, ऐसा अभिमानी जीवों में प्रधान सिंह भले ही भूख से दुर्बल हो रहा हो, प्यास से पीड़ित हो, प्राय: शिथिल हो गया हो, कष्टमय अवस्था को प्राप्त हो रहा हो, कान्ति हीन हो गया हो और प्राण

नष्ट हो रहे हों तो भी क्या जीर्ण तृण को खाता है ? ॥317॥

अतएव स्वर्गापवर्गसाधकमहाराभयभैषज्यशास्त्रमितिदान-चतुष्टयं द्रविणार्थं न विक्रीयते । ततो मुनिनाथसमीपे गत्वा राज्ञाभाणि-भो भगवन्! दान चतुष्टयं गृहिणा किमर्थं दीयते यतिनोक्तम्-हे देव! आहारदानं देहस्थित्यर्थं दीयतेऽतएवाहारदानं मुख्यम् । येनाहारदानम् दत्तं तेन सर्वाणि दानानि दत्तानि । तथा चोक्तम्-

इसलिए स्वर्ग और मोक्ष के साधक आहार, अभय, औषध और शास्त्र ये चार दान, धन के लिए नहीं बेचे जाते हैं ?

पश्चात् मुनिराज के पास जाकर राजा ने कहा - हे भगवन्! गृहस्थ द्वारा चार दान किसलिए दिये जाते हैं ? मुनिराज ने कहा - हे राजन्! आहारदान शरीर की स्थिति के लिए दिया जाता है अतएव आहारदान मुख्य है । जिसने आहारदान दिया; उसने सब दान दिये । जैसा कि कहा है-

तुरगशत-सहस्रं गोकुलं भूमिदानं,
कनकरजतपात्रं मेदिनी सागरान्ता ।
सुरयुवतिसमानं कोटिकन्या-प्रदानं,
न हि भवति समानं त्वन्नदानात्प्रधानात् ॥318॥

एक लाख घोड़े, गायों का समूह, पृथ्वीदान, सुवर्ण और चाँदी के पात्र, समुद्रान्त पृथ्वी और देवांगनाओं के समान करोड़ों कन्याएँ, इन सबका जो दान दिया जाता है परन्तु वह अन्नदान के समान नहीं हैं क्योंकि अन्नदान ही प्रधान है ॥318॥

किञ्च-

और भी कहा है -

अन्नदानसमं दानं समतासदृशं तप: ।
वीतरागसमो देवो नास्ति धर्मो दयासम: ॥319॥

अन्नदान के समान दान, समता के समान तप, वीतराग के समान देव और दया के समान धर्म नहीं है ॥319॥

अन्नदातुरधस्तीर्थंकरोऽपि कुरुते करम् ।
तदन्नदानं दानेभ्यो वद केनोपमीयते ॥320॥

अन्नदान देने वाले के हाथ के नीचे तीर्थंकर भी अपना हाथ करते हैं अत: अन्नदान की उपमा किस दान से की जाये, कहो ॥320॥

औषधदानमपि दातव्यं येन रोगविच्छितिर्भवत्ति । तदौषधदानेन रोग विनाशे सति मुक्ति तपो जपं संयमं च करोति, पुन: कर्मक्षयं कृत्वा मोक्षं च गच्छति । तथा चोक्तम्-

औषधदान भी देना चाहिए क्योंकि उससे रोग का अभाव होता है । उस औषधदान से रोग का नाश होने पर मुनि तप, जप और संयम करता है तथा पश्चात् कर्म क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होता है । जैसा कि कहा है-

रोगिणो भैषजं देयं रोगो देहविनाशक: ।
देहनाशे कुतो ज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृत्ति: ॥321॥

रोगी के लिए औषध देना चाहिए, क्योंकि रोग शरीर को नष्ट करने वाला है, शरीर का नाश होने पर ज्ञान कैसे हो सकता है और ज्ञान के अभाव में निर्वाण नहीं होता है ॥321॥

द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण ने एक मुनि के लिए औषधदान दिया था । उस औषधदान के फल से उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था ।

द्वारवत्यां वासुदेवेन औषधदानं भट्टारकस्य दत्तं तेनौषधदानफलेन तीर्थंकरनामकर्मोपार्जितमत एवौषधदानमपि दातव्यम् । अभयदानमपि दातव्यम् । य एकं जीव रक्षति स सर्वदा निर्भयो भवति किं पुन: सर्वान् । तथा चोक्तम्-

अभयदान देना चाहिए । जो एक जीव की रक्षा करता है वह सदा निर्भय रहता है फिर जो सब जीवों की रक्षा करता है उसका कहना ही क्या है ? जैसा कि कहा है-

विधेयं सर्वदा दानमभयं सर्वदेहिनाम् ।

यतोऽन्यस्मिन्भवे जीवो निर्भयोऽभयदानत: ॥322॥
सब जीवों के लिए सदा अभयदान देना चाहिए क्योंकि अभयदान से जीव अन्य भव में निर्भय होता है ॥322॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
यो दद्यात् कर्नानं मेरं कृत्स्नां चापि वसुन्धराम् ।
एकस्य जीवितं दद्यात् फलेन न समं भवेत् ॥323॥
जो मेरु पर्वत के बराबर सुवर्ण अथवा संपूर्ण पृथ्वी देता है और एक प्राणी को जीवनदान देता है उसको उन दानों में फल की समानता नहीं होती है ॥323॥
गोदानं हिरण्यदानं च भूमिदानं तथैव च ।
एकस्य जीवितं दद्यात्फलेन न समं भवेत् ॥324॥
जो गोदान, सुवर्णदान, भूमिदान और एक प्राणी को जीवनदान देता है फल की अपेक्षा उसके वे दान समान नहीं होते हैं ॥324॥
अत्रार्थे यमपालचाण्डालभवदेवकैवर्तयोश्च कथा । जीवदयां विहाय योऽपात्राय दानं ददाति तद्दानं निष्फलं भवेत् सर्पमुख-निक्षिप्त-क्षीरवत् ।
शास्त्रदानमपि दातव्यं । यतो य: शास्त्रदानं ददाति स सप्ततत्त्व-नव पदार्थषड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय- देवनिश्चयगुरु-निश्चयरत्नत्रयलोकालोकादिस्वरूपं च जानाति । क्रमेण च कर्मक्षयं करोति । तथा चोक्तम्-
इस विषय में यमपाल चाण्डाल और भवदेव धीवर की कथा प्रसिद्ध है । जो मनुष्य जीवदया को छोड़कर अपात्र के लिए दान देता है, उसका वह दान साँप के मुख में डाले हुए दूध के समान निष्फल होता है ।
शास्त्रदान भी देना चाहिए क्योंकि जो शास्त्रदान देता है वह सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छहद्रव्य, पाँच अस्तिकाय, देव, निश्चय गुरु, निश्चय रत्नत्रय और लोकालोकादि के स्वरूप को जानता है तथा क्रम से कर्मों का क्षय करता है । जैसा कि कहा है -
चतुर्थं शास्त्रदानं च सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ।
येन जानाति मूर्खोऽपि त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥325॥
लिखित्वा लेखयित्वा वा साधुभ्यो दीयते श्रुतम् ।
व्याख्यायतेऽथवा स्वेन शास्त्रदानं तदुच्यते ॥326॥
क्षेत्रं ज्ञानाङ्क्वराणां निविडतरतमस्काण्डचण्डांशुबिम्बम्
व्यापत्तापाम्बुवाह: कुमतमलभवासङ्गगङ्गाप्रवाह: ।
श्रेय:-श्रीवश्यमन्त्रं शिवपथपथिक-श्रेणि पीयूषसत्रम् ।
दु:खार्ताम्भोजमित्रो जयति जिनत्तारां सारणि: शास्त्रमेतत् ॥327॥
चौथा शास्त्रदान, सब शास्त्रों में कहा गया है, जिसके द्वारा अज्ञानी पुरुष भी चराचर सहित तीनों लोकों को जान लेता है ॥325॥
स्वयं लिखकर अथवा दूसरों से लिखवाकर साधुओं के लिए जो शास्त्र दिया जाता है अथवा स्वयं उसका व्याख्यान किया जाता है, वह शास्त्रदान कहलाता है ॥326॥
यह शास्त्र, ज्ञानरूपी अंकुरों की उत्पत्ति के लिए क्षेत्र है, अत्यन्त सघन अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्यबिम्ब है, आपत्तिरूपी सन्ताप को नष्ट करने के लिए मेघ है, मिथ्यामतरूपी मैल से उत्पन्न होने वाली आसक्ति को नष्ट करने के लिए गंगा का प्रवाह है, मोक्ष लक्ष्मी को वश में करने के लिए वशीकरण मंत्र है, मोक्षमार्ग के पथिक समूह के लिए अमृत का सदावर्त है, दु:ख से पीड़ित मनुष्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य है तथा जिनवाणी को प्रसारित करने वाली नहर है । यह शास्त्र सदा जयवंत रहे ॥327॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
अन्यस्मिन् भवे जीवो बिभर्ति सकलं श्रुतम् ।
मोक्ष-सौख्यमवाप्नोति शास्त्रदानफलान्नर:॥328॥

शास्त्रदान के फल से जीव, अन्य भव में समस्त श्रुत को धारण करता है **अर्थ**ात् श्रुतकेवली होता है और शास्त्रदान के फल से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है ॥328॥

अन्यदपि ज्ञानसंयमोपकरणदानादिमुनिभ्यो देयम् । एतत् सर्वफलं दृष्ट्वा श्रुत्वा च सोमप्रभेण राजा भणितम्-भो मुनिनाथ । मम जैनव्रतं प्रयच्छ । मुनिना जैनव्रतं दत्तम् । तेन स्वीकृतम् । तदा जैनो भूत्वा राजा वदति- भो भगवन्! कीदृग्विधं दानं दातव्यं, कस्मै कस्मैच दातव्यम्? मुनिनोक्तम्-आगमोक्त-विधिना दानं दातव्यम् । तथा चोक्तम्-

मुनियों के लिए उपर्युक्त चतुर्विधदान के सिवाय ज्ञान तथा संयम के उपकरण शास्त्र, पिच्छिका, कमण्डलु आदि भी देना चाहिए । इस समस्त फल को देख और सुनकर सोमप्रभ राजा ने कहा - हे मुनिराज! मुझे जैनव्रत दीजिए । मुनि ने जैनव्रत दिये और उन्होंने स्वीकृत किए । उस समय जैन होकर राजा कहता है कि हे भगवन्! कैसा दान देने योग्य है ? और किस-किसके लिए दिया जाना चाहिए । जैसा की कहा है -

न दद्याद्यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ।
न नृत्यगीतशीलेभ्यो हासकेभ्यश्च धार्मिक:॥329॥

धर्मात्मा पुरुषों को यश के लिए दान नहीं देना चाहिए, न भय से देना चाहिए, न प्रत्युपकार करने वाले के लिए, न नृत्य-गान आदि करने वालों के लिए और न हँसाने वाले विदूषक आदि के लिए देना चाहिए **अर्थ**ात् ये दान के अपात्र हैं ॥329॥

पुन:

और भी कहा है-

यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् ।
यथापात्रं यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमै: ॥330॥

गृहस्थों को विधि के अनुसार, देश के अनुसार, अपनी शक्ति के अनुसार, आगम के अनुसार, पात्र के अनुसार तथा समय-ऋतु के अनुसार दान देना चाहिए ॥330॥

कीदृग्विधं दानमुनिभ्यो दातव्यम्? श्रृणु तथा च-

कैसा दान मुनियों को देना चाहिए । सुनो-जैसा कि कहा है --

विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत् ।
मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥331॥

जो विवर्ण हो-जिसका वर्ण बदल गया हो, विरस हो-जिसका स्वाद बदल गया हो, घुना हो, अहितकर हो, इधर-उधर फैला हो और खाने पर रोग उत्पन्न करने वाला हो । ऐसा अन्न मुनियों के लिए नहीं देना चाहिए ॥331॥

उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् ।
न देयं दुर्जन-स्पृष्टं देवयक्षादि-कल्पितम् ॥332॥
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम् ।
न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाप्यथाऽर्तुकम् ॥333॥
बालानुग्रतप:क्षीणान् वृद्धान् व्याधि समन्वितान् ।
मुनीनुपचरेन्नित्यं यतस्ते स्युस्तप:क्षमा: ॥334॥

जो जूठा हो, नीच लोगों के योग्य हो, अन्य लोगों के उद्देश्य से बनाया गया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनों के द्वारा छुआ गया हो तथा यक्ष आदि देवों के लिए संकल्पित हो, दूसरे गाँवों से लाया गया हो, मन्त्र द्वारा बुलाया गया हो, कहीं से भेंट में आया हो, बाजार से खरीदा हो, प्रकृति के विरुद्ध हो और ऋतु के अनुकूल न हो, ऐसा आहार मुनियों के लिए नहीं देना चाहिए ॥332-333॥

जो बालक हैं, कठिन तप से जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो वृद्ध हैं और बीमारी से पीड़ित हैं, ऐसे मुनियों की निरन्तर वैयावृत्य करना चाहिए जिससे तप करने में समर्थ हो जावें ॥334॥

कृपादानं च सर्वेषामपि दातव्यम् । एतत्सर्वं श्रुत्वा सोमप्रभो राजातीव परिणत: श्रावको जात: । तथाहि-

इन दोनों के अतिरिक्त दयादान सभी के लिए देना चाहिए । यह सब सुनकर राजा अत्यन्त सुदृढ़ परिणामी श्रावक हो गया । जैसा कि कहा है-

श्रद्धालु र्भक्ति संपन्नो नित्यं षट्कर्मतत्पर: ।

श्रुतशीलतपोदानजिनपूजासमुद्यत: ॥335॥

श्रद्धालु, भक्ति सहित, निरन्तर छह कर्मों के पालन करने में तत्पर श्रुत-स्वाध्याय, शील, तप, दान तथा जिनपूजा करने में तत्पर हो गया ॥ 335॥

जैसा कि कहा है -

मिथ्यादृष्टिसहस्रेभ्यो परमेको जिनाश्रित: ।

जिनाश्रित-सहस्रेभ्यो वरमेको उपासक: ॥336॥

श्रावकाणां सहस्रेभ्यो वरमेको ह्यणुव्रती ।

अणुवती-सहस्रेभ्यो वरमेको महाव्रती ॥337॥

महाव्रति-सहस्रेभ्यो वरमेको जिनागमी ।

जिनागमिसहस्रेभ्यो वरमेक: स्वतत्त्ववित् ॥338॥

हजारों मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा एक जैन अच्छा है और हजारों जैनों की अपेक्षा एक श्रावक अच्छा है ॥336॥

हजारों श्रावकों की अपेक्षा एक अणुव्रती अच्छा है और हजारों अणुव्रतियों की अपेक्षा एक महाव्रती अच्छा है ॥337॥

हजारों महाव्रतियों की अपेक्षा एक जिनागम का ज्ञाता अच्छा है और हजारों जिनागम के ज्ञाताओं की अपेक्षा एक आत्मतत्त्व को जानने वाला अच्छा है ॥338॥

स्वतत्त्ववित्सहस्रेभ्यो वरमेको दयान्वित: ।

दयान्वितसमो यावन्न भूतो न भविष्यति ॥339॥

वशीकृतेन्द्रियग्राम: कृतज्ञो विनयान्वित: ।

निष्कषाय: प्रशान्तात्मा सम्यग्दृष्टिर्महाशुचि:॥340॥

हजारों आत्मतत्त्व को जानने वालों की अपेक्षा एक दया सहित मनुष्य अच्छा है क्योंकि दया सहित मनुष्य के समान अन्य मनुष्य न हुआ है और न होगा ॥339॥

जिसने इन्द्रियों के समूह को वश में कर लिया है, जो कृतज्ञ है, विनय से सहित है, जो कषाय रहित है, जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त है तथा जो सम्यग्दृष्टि है वह महापवित्र है ॥340॥

एवमादि गुणोपेत: सोमप्रभो राजा राज्यं त्यक्त्वा कालक्रमेणोग्रं तप: कृत्वा संयमं प्रपाल्यान्त: सुखी जात: । तथाहि-

इत्यादि गुणों से सहित सोमप्रभ राजा, राज्य छोड़कर, कालक्रम से उग्र तपश्चरण कर तथा संयम का पालन कर अन्तरंग में सुखी हो गया । जैसा कि कहा है-

प्राप्तश्चानशनं प्रान्ते कृत्वा स्वकर्मणां क्षयम् ।

कालक्रमेण सद्ध्यानात् मृत्वागात्परमं पदम् ॥341॥

वह अन्त समय अनशन को प्राप्त हो तथा कर्मों का क्षयकर कालक्रम से समीचीन ध्यान से मरकर परम पद को प्राप्त हुआ ॥341॥

विश्वभूति भी समस्त सुखों को प्राप्त हो गया ।

विश्वभूतिरपि सर्वसौख्यभाक् समजनि । एतत्सर्वं विश्वभूतिदृष्टान्तं श्रुत्वा सोमशर्मा मन्त्री भणति-भो भगवन्! सम्प्रति मम तव पादौ शरणम् । अतो जिनधर्मे दीक्षायितुं प्रसादं कुरु । एतद्वचनं श्रुत्वा मुनिना दर्शनपूर्वकं श्रावक व्रतं दत्तम् । गृहीत-श्रावकव्रतो मन्त्री साधु विज्ञापयति-हे मुनिवर ममेह जन्मनि लोहायुधाधरणे नियमो दीयताम् । ततो मुनिनां दत्तो नियम: । नियमस्थिरीकरणाय प्रशंसितश्च । ततो मन्त्री मुनिं नत्वा गृहमागत: । तत: प्रभृति शुद्धं श्राद्धधर्मं पालयतस्तस्य मन्त्रिण: कालो गच्छत्येव । एवं बहुकालो जात: ।

एकदा केनचिद् दुष्टेन राज्ञोऽग्रे निरूपितम्-हे देव! सोमशर्मा मन्त्री काठखड्गेन तव सेवां करोति, रिपुसंकटे लोहप्रहरणं विना संग्रामे कथं

सुभटान् मारयति । अतएव देव तव भक्तो न भवत्यसौ सोमशर्मा । तथा चोक्तम्-

यह सब विश्वभूति का दृष्टान्त सुनकर सोमशर्मा मन्त्री कहता है-हे भगवन्! इस समय मुझे आपके चरणों की ही शरण है इसलिए अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए प्रसन्न होइये । यह वचन सुनकर मुनि ने उसे सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावक का व्रत दिया । श्रावक के व्रत को ग्रहण करने वाला मन्त्री मुनिराज से कहता है कि-हे मुनिवर! मुझे इस जन्म में लोहे का शस्त्र न धारण करने का नियम दीजिये । तदनन्तर मुनि ने उसे नियम दे दिया और नियम में स्थिर रहने के लिए उसकी प्रशंसा भी की । तदनन्तर मन्त्री, मुनि को नमस्कार कर घर आ गया । उस समय से शुद्ध श्रावक धर्म का पालन करते हुए मन्त्री का काल व्यतीत होने लगा । इस तरह उसका बहुत काल बीत गया ।

एक दिन किसी दुष्ट ने राजा के आगे कहा - हे देव! सोमशर्मा मन्त्री काठ की तलवार से तुम्हारी सेवा करता है । शत्रु का संकट उपस्थित होने पर लोहे के शस्त्र बिना संग्राम में योद्धाओं को किस प्रकार मारेगा ? इसलिए हे देव! यह सोमशर्मा तुम्हारा भक्त नहीं है । कहा भी है-

त्यक्त्वापि निजप्राणान्परसुखविघ्नं खल: करोत्येव ।

पतिता कवले सद्यो वमयति खलु मक्षिका हि भोक्तारम् ॥342॥

दुष्ट मनुष्य अपने प्राण छोड़कर भी दूसरे के सुख में विघ्न करता है क्योंकि भोजन के ग्रास में पड़ी हुई मक्खी भोजन करने वाले को शीघ्र ही वमन करा देती है ॥342॥

एतद् दुष्टवचनं श्रुत्वा स्वमनसि धृत्वा गंभीरव्या राजा तूष्णीं स्थित: । एकदा सभा स्थिते राज्ञा कृपाणवात्र्ता चालिता । तत: कोशात् निष्कास्य रत्नजटित-निज-कृपाणो राज्ञा समस्त कुमाराणामग्रे दर्शित: । तै राजपुत्रै: प्रशंसित: । तत: सभ्यै: स्वस्वप्रहरणं दर्शितम् । एवं राज्ञा समस्त राजकुमाराणां कृपाणान् दृष्ट्वा सोमशर्माणं मन्त्रिणं प्रति भणितम्-भो मन्त्रिन्! निजकृपाणं ममाग्रे दर्शय ।

तद्राजप्रश्नमिङ्गिताकारेण सकारणं मत्वा मन्त्रिणा स्वमनसि चिन्तितम्-अहो दुष्ट व्यापारोऽयं जात: । अन्यथा कथं मम कृपाण परीक्षां राजा करोति । तथा चोक्तम्-

राजा, दुष्ट का यह वचन सुन गम्भीरता के कारण अपने मन में रखकर चुप रह गया । एक समय जब राजा सभा में बैठा हुआ था, तब उसने तलवार की बात चलाई । पश्चात् राजा ने म्यान से निकाल कर अपनी रत्नजटित तलवार समस्त कुमारों के आगे दिखलायी । राजकुमारों ने उस तलवार की प्रशंसा की । इसके बाद सब सभासदों ने अपना-अपना शस्त्र दिखाया । इस प्रकार समस्त राजकुमारों की तलवारें देखकर राजा ने सोमशर्मा मन्त्री से कहा - हे मन्त्रीजी! तुम भी अपनी तलवार मेरे आगे दिखलाओ ।

राजा के हृदय की चेष्टा तथा मुखाकृति से राजा के उस प्रश्न को कारण सहित मानकर अपने मन में विचार किया-अहो! यह किसी दुष्ट की चेष्टा है अन्यथा राजा मेरी तलवार की परीक्षा क्यों करता ? कहा भी है-

उदीरितोऽर्थ: पशुनापि गृह्यते

हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिता: ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जन:

परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धय: ॥343॥

प्रकट किया हुआ **अर्थ** पशु भी समझ लेता है प्रेरणा करने पर घोड़े और हाथी भी भार वहन करते हैं परन्तु पण्डित जन बिना कही बात को भी समझ लेते हैं । वास्तव में दूसरे के अभिप्राय को जान लेना ही बुद्धि का फल है ॥343॥

ततो मन्त्री देवं गुरं च स्वमानसे स्मृत्वा भणति स्वमनसि-यदि मम देवगुरुनिश्चयोऽस्ति तह्ययं कृपाणो लोहमयो भवतु । एवं संप्रधार्य सकोशोऽसिस्तेन राज्ञो हस्तेऽर्पित: । कोशात्कृपाणं राजा यदा निष्कासयति तदादित्यवद् देदीप्यमानो लोहमयो विलोकित: । ततो दुष्टमुखमवलोक्य राजा वदति-रे दुष्टात्मन् ! ममाग्रेऽप्यन्यथा निरूपितं त्वया । अहो! दुष्टस्वभावोऽयं परावगुणं कथयितुम् । राजा कुपित:, तदा मन्त्रिणोक्तम्-भो राजन्! राजा देवतास्वरूपस्तस्याग्रे यथा तथा कदाचिदपि न वक्तव्यम् । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर अपने मन में देव और गुरु का स्मरण कर मन्त्री ने अपने हृदय में कहा - यदि मुझे देव और गुरु का निश्चय है तो यह तलवार लोह निर्मित हो जाये । ऐसा विचार कर उसने म्यान सहित तलवार राजा के हाथ में सौंप दी । जब राजा म्यान से तलवार निकालता है तब वह सूर्य के समान चमकती हुई लोह निर्मित देखी गई । पश्चात् राजा ने दुष्ट के मुख की ओर देखकर कहा - अरे दुष्ट हृदय! मेरे आगे भी तूने झूठ कहा । दूसरे के अवगुण कहना-यह दुष्ट का स्वभाव है ।

राजा ने उसके प्रति क्रोध प्रकट किया । तब मन्त्री ने कहा - हे राजन्! राजा देवता स्वरूप है इसलिए उसके आगे जैसा तैसा कभी नहीं कहना चाहिए । जैसा कि कहा है-

सर्वदेवमयो राजा वदन्ति विवुधा जना: ।
तस्मात्तं देववत्पश्येत् न व्यलीकेन जातुचित् ॥344॥

राजा समस्त देवतामय है ऐसा विद्वान् जन कहते हैं इसलिए उसको देव के समान देखना चाहिए, उसके साथ असत्य व्यवहार कभी नहीं करना चाहिए ॥344॥

किन्तु कारणमस्ति । अतएवास्योपरि कोपं मा कुरु । एतेन यदुक्तं तत् सर्वं सत्यमेव । राज्ञोक्तम्-अहो! सत्पुरुषोऽयम् अपकारिण्यपि पुरुषे शुभं चिन्व्यति । धिक् तं गुणकारिण्यप्यशुभं चिन्व्यति य: । तथाचोक्तम्-

परन्तु इसके कहने में कारण है इसलिए इस पर क्रोध मत कीजिए । इसने जो कुछ कहा है वह सत्य ही है । राजा ने कहा - अहो, यह सत्पुरुष है क्योंकि अपकारी पुरुष का भी भला विचारता है । उसे धिक्कार हो जो उपकारी पुरुष का भी बुरा सोचता है । जैसा कि कहा है-

अपकर्तर्यपि सन्त: शुभानि कर्माणि कर्तुमीहन्ते ।
धिक् तं पुरुषं सदोपकर्तरि यो योजयत्यशुभम् ॥345॥

सज्जन मनुष्य, अपकार करने वाले का भी भला करने की चेष्टा करते हैं । उस पुरुष को धिक्कार है कि जो सदा उपकार करने वाले का भी बुरा करता है ॥345॥

विध्वस्तपरगुणानां भवति खलानामतीव निपुणत्वम् ।
अन्तरितशशिरुचामपि सलिलमुचां मलिनताभ्यधिका ॥346॥
दाता दत्ते गुणज्ञेऽर्थमदाता तं निषेधयेत् ।
राजकीयो वरो याति भाण्डागारी हि दुर्बल: ॥347॥
साधुर्धर्मधुरां धत्ते दोषं वदति दुर्जन: ।
धनी दोग्धि यतो धेनुं हस्तौ स्पृशति तस्कर: ॥348॥

दूसरे के गुणों को नष्ट करने वाले दुर्जनों की बड़ी चतुराई है क्योंकि अपने भीतर चन्द्रमा की किरणों को छिपाने वाले मेघों की भी अधिक मलिनता देखी जाती है ॥346॥

दानी मनुष्य, गुणी मनुष्य के लिए धन देता है और अदानी मनुष्य उसे मना करता है । ठीक ही है क्योंकि राजा का धन जाता है परन्तु भण्डारी दुर्बल होता है ॥347॥

साधु पुरुष धर्म का भार धारण करता है और दुर्जन उसके दोष कहता है क्योंकि धनी मनुष्य गाय को दुहता है और चोर उसके हाथ पकड़ता है ॥348॥

पुनरपि राजा ब्रुते-भो सचिव! काठमयोऽयं कृपाणो लोहतामापन्न: कथं जात: मन्त्रिणा विज्ञप्तम्- भो नरेन्द्र! मया सत्पात्रदानातिशयं श्रुत्वा दृष्ट्वा च लोहदोषान् लोहप्रहरणे नियमो गृहीत: । तत्प्रभृत्यहं काठकृपाणं वहामि । साम्प्रतं धर्मप्रभावात् लोहमयो जात: । विचित्रं हि धर्ममाहात्म्यम् । तथा चोक्तम्-

राजा ने फिर भी कहा - हे मन्त्री जी! यह लकड़ी की तलवार लोहमय कैसे हो गयी ? मन्त्री ने कहा - हे राजन्! मैंने सत्पात्र के लिए दिये हुए दान का अतिशय सुनकर तथा लोहे के दोष देखकर लोहे के शस्त्रों का नियम कर लिया था । उस समय से मैं काठ की तलवार धारण कर रहा हूँ । आज धर्म के प्रभाव से लोहे की हो गई है क्योंकि धर्म की महिमा विचित्र है । जैसा कि कहा है -

धर्मो दुर्गतिसंगतिव्यतिकरव्याघातघोराशनि-
र्धर्मो नि:समदु:खदावदहनज्वालावली-वारिद: ।
धर्म: शर्म-समर्पण-प्रतिभुवामग्रेसर: प्राणिनां ।
धर्म: सिद्धिपुरन्ध्रिसन्धिघटनव्यापारबद्धादर: ॥349॥

धर्म, दुर्गतियों की संगति कराने वाले व्यापार को नष्ट करने के लिए भयंकर वज्र है । धर्म, अनुपम दु:खरूपी दावानल को ज्वालाओं के समूह को बुझाने के लिए मेघ है । धर्म, प्राणियों को सुख देने वालों का दायित्व रखने वालों में प्रधान है और धर्म, मुक्तिरूपी स्त्री को मिलाने वाले कार्यों में बद्धादर है-तत्पर है ॥349॥

अतएव ममोपरि क्षमां कुरु । इति श्रुत्वा राज्ञा लोकैश्च मन्त्री प्रशंसित: पूजितश्च । देवैरपि पञ्चाश्चर्याणि कृत्वा मन्त्री पूजित: । तथा चोक्तम्-

अतएव मेरे ऊपर क्षमा करो, यह सुन राजा तथा अन्य लोगों ने मन्त्री की प्रशंसा कर उसका सम्मान किया । देवों ने भी पंचाश्चर्य कर मन्त्री की पूजा की । जैसा कि कहा है-

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे-गजे ।

साधवो नैव सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥350॥

प्रत्येक पर्वत में माणिक्य नहीं होते, प्रत्येक हाथी में मोती नहीं होते, सर्वत्र सज्जन नहीं होते और प्रत्येक वन में चन्दन नहीं होता है ॥350॥

उपकारिषु य: साधु: साधुत्वे तस्य को गुण: ।

योऽपकारिषु साधु: स्यात् स साधु: कथ्यते बुधै: ॥351॥

जो उपकारी जनों के विषय में साधु है उसके साधुपन में क्या गुण है ? जो अपकारी जनों के विषय में साधु है परमार्थ से विद्वानों द्वारा वही साधु कहा जाता है ॥351॥

दुर्जनवचनाङ्गारैर्दग्धोऽपि न विप्रियं वदत्यार्य: ।

अगुरुर्न दह्यमान: स्वभावगन्धं परित्यजति ॥352॥

सज्जन पुरुष, दुर्जनों के वचनरूपी अंगारों से दग्ध होता हुआ भी विरुद्ध नहीं बोलता है क्योंकि अगुरु चन्दन जलता हुआ भी अपनी स्वाभाविक गन्ध नहीं छोड़ता है ॥352॥

एतत्सर्वं धर्ममाहात्म्यं दृष्ट्वा श्रुत्वा चाजितञ्जयो राजा लोकाग्रे निरूपयति-अहो लोका! जिनधर्मं विहायान्यो धर्मोदुर्गतिं न विदारयति । अस्मिन् भवेऽपि सुखं नास्ति । इत्येव धर्मप्रभावं भणित्वा वैराग्यपरायणेन राज्ञा स्वपुत्रं शत्रुञ्जयं राज्ये संस्थाप्य, सोमशर्मा मन्त्रिणा स्वपुत्रं देवशर्माणं, मन्त्रिपदे संस्थाप्य च बहुभिरन्यैर्जनै: सार्धं समाधिगुप्तभट्टारकसमीपे तपो गृहीतम् । केचन श्रावका जाता:, केचन भद्रपरिणामिनश्च बभूवु: । राह्या सुप्रभया, मन्त्रिभार्यया सोमया, अन्याभिश्च बह्वीभि: स्त्रीभिरभयमत्यार्यिकासमीपे तपो गृहीतम् । काश्चन श्राविका जाता: । विष्णुश्रिया भणितम्-भो स्वामिन्! एतन्मया सर्वमपि प्रत्यक्षेण दृष्टम् । तदनन्तरं मम दृढतरं सम्यक्त्वं जातम् । एतत्कथानकं श्रुत्वार्हद्दासेनोक्तम्- भो भार्ये! यत्त्वया दृष्ट: तत्सर्वमहं श्रद्दधामि, इच्छामि, रोचे अन्याभिश्च तथैव भणितम् । कुन्दलव्योक्तम्-एतत्सर्वमसत्यमतएव नाहं श्रद्धामि, नेच्छामि, न रोचे । एतद्- वृत्तान्तं राज्ञा मन्त्रिणा चौरेण च श्रुत्वा स्वमनसि भणितम्- विष्णुश्रिया प्रत्यक्षेण दृष्टं, तत्कथमियं पापिठा धर्मफलं व्यलीकमिति निरूपयति । प्रभातसमये गर्दभे चाटयित्वास्या निग्रहं करिष्यामो वयम् । पुनरपि चौरेण स्वमनसि चिन्तितम् । अहो, खलो जात्युत्तमोऽपि सन् स्वभावं न त्यजति । तथा चोक्तम्-

यह सब धर्म का माहात्म्य देख व सुनकर अजितंजय राजा ने कहा - अरे मनुष्यों! जैनधर्म को छोड़कर अन्य धर्म दुर्गति को नष्ट नहीं करता है तथा अधर्म से इस भव में भी सुख नहीं होता है । इस प्रकार धर्म का प्रभाव कहकर वैराग्य में तत्पर रहने वाले राजा ने अपने पुत्र शत्रुञ्जय को राज्य पर और सोमशर्मा मन्त्री ने अपने पुत्र देवशर्मा को मन्त्रिपद पर आरूढ़ कर अन्य अनेक जनों के साथ, समाधिगुप्त भट्टारक के समीप तप ग्रहण कर लिया । कोई श्रावक हुए और कोई भद्रपरिणामी हुए । रानी सुप्रभा और मन्त्री की स्त्री सोमा ने अन्य बहुत स्त्रियों के साथ अभयमती आर्यिका के समीप तप ले लिया और कितनी ही स्त्रियाँ श्राविकायें हो गयीं ।

विष्णुश्री ने अर्हद्दास सेठ से कहा - हे स्वामिन्! यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है । उसके बाद ही मेरा सम्यक्त्व दृढ़ हुआ है ।

यह कथा सुनकर अर्हद्दास ने कहा - हे प्रिये! तुमने जो देखा है उसकी मैं श्रद्धा करता हूँ, उसे चाहता हूँ और उसकी रुचि करता हूँ । अन्य स्त्रियों ने भी ऐसा ही कहा । परन्तु कुन्दलता ने कहा - यह सब असत्य है इसलिए मैं न श्रद्धा करती हूँ, न इसे चाहती हूँ और न इसकी रुचि करती हूँ । यह वृत्तान्त राजा, मन्त्री और चोर ने सुनकर अपने मन में कहा - विष्णुश्री ने जिसे प्रत्यक्ष देखा है उस धर्म के फल को यह पापिनी झूठ क्यों कहती है ? प्रात:काल गधे पर चढ़ा कर हम इसका निग्रह करेंगे । चोर ने फिर भी अपने मन में विचार किया-अहो!

दुष्टपुरुष, जाति का उत्तम होने पर भी स्वभाव को नहीं छोड़ता है । जैसा कि कहा है -
चन्दनादपि संभूतो दहत्येव हुताशन: ।
विशिष्ट-कुलजातोऽपि य: खल: खल एव स: ॥353॥
चूँकि चन्दन से भी उत्पन्न हुई अग्नि जलाती ही है इसलिए जो दुर्जन है वह विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने पर भी दुर्जन ही रहता है ॥353॥
यस्त्वेतस्माद्विपरीत: साधु: स मलिनकुलोद्भूतोऽपि लोकोत्तर महिमानमादधाति । तथा चोक्तम्-
और इससे विपरीत जो सज्जन है वह नीच कुल में उत्पन्न होकर भी श्रेठ महिमा को धारण करता है । जैसा कि कहा है -
जन्मस्थानं न खलु विमलं वर्णनीयो न वर्णो
दूरे शोभा वपुषि निहिता पङ्कशङ्कां तनोति ।
यद्यप्येवं सकल-सुरभि - द्रव्यगर्वापहारी
को जानीते परिमलगुणो वस्तु कस्तूरिकाया: ॥354॥
कस्तूरी का जन्म स्थान निर्मल नहीं है, वर्ण भी प्रशंसनीय नहीं है और शरीर में लगाने पर शोभा तो दूर रही कीचड़ की शंका उत्पन्न करती है । यद्यपि यह ऐसी है तथापि समस्त सुगन्धित पदार्थों के गर्व को हरने वाली है । कौन जानता है कि कस्तूरी की सार वस्तु उसका सुगन्धि गुण है ॥354॥
॥इति चतुर्थी कथा॥
॥ इस प्रकार चौथी कथा समाप्त हुई॥

## सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली नागश्री की कथा

सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली नागश्री की कथा
कथा :
सम्यक्त्व प्राप्त नागश्रिय: कथा
ततो नागश्रियं प्रति श्रेष्ठिना भणितम्-भो भार्ये! स्वसम्यक्त्वग्रहणकारणं कथय । सा कथयति-
काशीविषये वाराणस्या पुरि सोमवशोद्भूतो राजा जितारि:, राज्ञी कनकचित्रा, पुत्री मुण्डिका । सा मुण्डिका प्रतिदिनं मृत्तिकां भक्षयति । शनै: शनैरतिरोग-ग्रस्ता बभूव । राजमन्त्री सुदर्शनो भार्या सुदर्शना । एकदा वृषभश्रियार्यिकया सा मुण्डिका प्रतिबोध्य जैनी कृता । सत्पुरुषाणां स्वभावोऽयं यत् परोपकारं करोति । तदनन्तरं निरतिचारं श्रावकव्रतं पालयन्ती मुण्डिका व्रतमाहात्म्येन नीरोगा रूपवती च जाता । तदार्यिकयोक्तम्-हे पुत्रि । यो निरवद्यं व्रतं पालयति स स्वर्गापवर्गभाजनं भवति रूपस्य नीरोगस्य च का वार्ता? ततो व्रतमाहात्म्यं श्रुत्वा विशेषतो धर्मे सादरा जाता ।
एकदा जितारिणा राज्ञा नीरुजां पुत्रीं दृष्ट्वा विवाहनिमित्तं राजकुमारा आहूता: । पुत्र्या अग्रे विवाहार्थं सर्वेऽपि राजकुमारा दर्शिता: स्वयंवरे । परं तस्या मनसि कोऽपि न प्रतिभासते स्म । ततो राजपुत्रा: स्वस्थानं जग्मु: ।
एकदा तुण्डविषये चक्रकोटनाम्नि नगरे राजा भगदत्तो दानशूरो रूपलावण्यादिगुणोपेत: समस्तवस्तुपरिपूर्ण:, परन्तु जातिहीन: । तस्य राज्ञी लक्ष्मीमति:, मन्त्री सुबुद्धि: तस्य भार्या गुणवती । तेन भगदत्तेन सा मुण्डिका याचिता । जितारिणाऽभाणि-रे कुजन्मन्! या जात्यसुतोत्तमराजपुत्रेभ्यो न दत्ता, भगदत्त! दासी-पुत्रस्य तव पापिठस्य कथं तां पुत्रीं दास्यामि? तेनोक्तम्-भो राजन्! गुणेन भवितव्यम्, किं जन्मना? तथा चोक्तम्-
तदनन्तर सेठ ने नागश्री से कहा कि-हे प्रिये! तुम अपने सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण कहो । वह कहने लगी -
काशीदेश की वाराणसी नगरी में सोमवंशीय राजा जितारि रहता था, उसकी रानी का नाम कनकचित्रा था और पुत्री का नाम मुण्डिका था । वह मुण्डिका प्रतिदिन मिट्टी खाती थी जिससे धीरे-धीरे अत्यधिक रोग से ग्रस्त हो गयी । राजा के मन्त्री का नाम सुदर्शन था और उसकी स्त्री का नाम सुदर्शना था । एक समय वृषभश्री आर्यिका ने सम्बोधित कर मुण्डिका को जैनी बना लिया । सत्पुरुषों का यह स्वभाव है कि वे परोपकार करते हैं । तदनन्तर निरतिचार श्रावक के व्रतों का पालन करती हुई मुण्डिका व्रत के माहात्म्य से निरोग तथा रूपवती हो गयी । उस समय आर्यिका ने कहा कि - हे पुत्रि! जो निर्दोष व्रत का पालन करता है वह स्वर्ग और मोक्ष का पात्र होता है, रूप और नीरोगता

की क्या बात है ? तत्पश्चात् व्रत का माहात्म्य सुनकर वह विशेष रूप से धर्म में आदर सहित हो गयी ।

एक समय जितारि राजा ने पुत्री को नीरोग देख विवाह के निमित्त राजकुमार बुलाये और पुत्री के आगे विवाह के लिए सभी राजकुमार स्वयंवर में दिखलाये । परन्तु उसके मन में कोई भी रुचिकर नहीं लगा । पश्चात् राजपुत्र अपने स्थान पर चले गये ।

एक समय तुण्डदेश के चक्रकोट नामक नगर में राजा भगदत्त रहता था । वह दानशूर, रूप सौन्दर्य आदि गुणों से सहित तथा समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण था परन्तु जाति से हीन था । उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमति, मन्त्री का नाम सुबुद्धि और स्त्री का नाम गुणवती था । उस भगदत्त ने मुण्डिका की याचना की । राजा जितारि ने कहा कि-हे कुजात! जो कन्या मैंने उच्च कुलीन उत्तम राजपुत्रों को नहीं दी है, अरे भगदत्त! वह कन्या तुझ पापी दासीपुत्र के लिए कैसे दूँगा ? उसने कहा - हे राजन्! गुण होना चाहिए जन्म में क्या रखा है ? जैसा कि कहा है -

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वा च गोरोमत:

पङ्कात्तामरसं शशाङ्कमुदधेरिन्दीवरं गोमयात् ।

काठादग्निरहे: फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचन:

प्राकाश्यं सुदिनोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ॥355॥

रेशमी वस्त्र कीड़ों से उत्पन्न होता है, सुवर्ण पाषाण से निकलता है, दूर्वा गाय के बालों से उत्पन्न होती है, कमल कीचड़ से जन्म लेता है, चन्द्रमा समुद्र से प्रकट होता है, नील कमल गोबर से उद्भूत होता है, अग्नि काठ से उत्पन्न होती है, मणि साँप के फण से उपलब्ध होती है और रोचन गाय के पित्त से प्रकट होता है । ठीक है गुणी मनुष्य, पुण्य के उदय से प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं अत: जन्म से क्या होता है ॥ 355॥

किञ्च-

और भी कहा है -

गुणा: सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थक: ।

वासुदेवं नमस्यन्ति वसुदेवं न ते जना: ॥356॥

गुण सर्वत्र पूजे जाते हैं, पिता का वंश निरर्थक है । देखो, लोग वासुदेव-कृष्ण को नमस्कार करते हैं परन्तु उनके पिता वसुदेव को नहीं ॥ 356॥

जितारिणोक्तम्-तव गुणवतोऽपि सर्वथा न दास्ये । तथा चोक्तम्-

जितारि ने कहा - तुम गुणवान् हो तो भी तुम्हें बिलकुल नहीं दूँगा । जैसा कि कहा है -

सारमेय! यदि रत्नमालयालङ्कृतोऽसि खलु मन्दबुद्धिना ।

तत्करीन्द्र-दलनैककेलिना रे कथं च हरिणा विरुध्यसे ॥357॥

अथवा दैवयोगेन त्वं राजा धनवानभू: ।

तत्किं क्षत्रियपुत्राणां सार्धं स्पर्धां बिभर्षि रे ॥358॥

अरे कुक्कुर! यदि तू किसी मूर्ख द्वारा रत्नों की माला से अलंकृत कर दिया गया है तो मात्र गजराज को विदारण करने की क्रीड़ा करने वाले सिंह के साथ क्यों विरोध करता है? ॥357॥

अथवा रे भगदत्त! यदि तू दैवयोग से धनवान राजा हो गया है तो क्षत्रिय पुत्रों के साथ ईर्ष्या क्यों करता है ॥358॥

ततो भगदत्तेन जल्पितम्-भो राजन! यदि राज्येन प्रयोजनं विद्यते तर्हि कन्यां प्रयच्छ । अन्यथा द्वयमपि बलाल्लप्स्ये । जितारिणोक्तम्-रणमध्ये तव वाञ्छितं सर्वमपि दास्यामि नान्यथा । एतद्वचनं श्रुत्वा महाकोपं कृत्वा भगदत्तो जितार्युपरि चलित: । अथ सुबुद्धिना मन्त्रिणा भणितम्-हे भगदत्त! समस्त युद्ध- सामग्रीमेकत्रितां कृत्वा गम्यते, अन्यथा नाश एव भवति । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर भगदत्त ने कहा कि-हे राजन्! यदि तुम्हें राज्य से प्रयोजन है तो कन्या देओ अन्यथा राज्य और कन्या दोनों को बलपूर्वक प्राप्त कर लूँगा । जितारि ने कहा - युद्ध में तुम्हारी अभिलषित सभी वस्तु दूँगा अन्यथा नहीं । यह वचन सुन तीव्र क्रोध कर भगदत्त जितारि के ऊपर चल पड़ा ।

तदनन्तर सुबुद्धि मन्त्री ने कहा - हे भगदत्त! युद्ध की समस्त सामग्री इकट्ठी करके चले जाना है अन्यथा नाश ही होता है। जैसा कि कहा गया है -
स्वकीयबलमज्ञात्वा संग्रामार्थं तु यो नर: ।
गच्छत्यभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥359॥
जो मनुष्य अपना बल जाने बिना युद्ध के लिए सम्मुख चल देता है वह अग्नि में शलभ के समान नाश को प्राप्त होता है ॥359॥
यथा राजा भृत्यैर्विना न शोभते, यथा च रविरंशु-रहितो न शोभते तद्वदेकेन बलवान् न । समुदायेन तु बलवान् भवेत् । यथा तृणै: रज्जुं कृत्वा नागो बध्यते । उक्तञ्च-
जिस प्रकार राजा सेवकों के बिना शोभा नहीं देता और सूर्य किरणों से रहित होने पर सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार बलवान् मनुष्य अकेला सुशोभित नहीं होता । किन्तु समुदाय से बलवान होता है । जैसा कि तृणों से रस्सी बनाने पर हाथी बाँधा जाता है । कहा भी है -
एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्या: कार्या विचक्षणा: ।
कुलीना: शौर्यसंयुक्ता: शक्ता भक्ता: क्रमागता: ॥360॥
ऐसा जानकर राजा को बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, समर्थ भक्त और कुल परम्परा से आये हुए लोगों को सेवक बनाना चाहिए ॥360॥
भगदत्तेन राज्ञोक्तम्-भो सुबुद्धे । हितरूपेण तदुक्तं त्वया तत् सर्वमपि सत्यम् । अतएव हितचिन्तकस्य वचनं स्वीकरणीयमन्या विरूपकमेव भवति । तत: सर्व सामग्रीं मेलयित्वा शुभमुहूर्ते निर्गमनोद्योग: कृत: । एतस्मिन् प्रस्तावे लक्ष्मीमत्या राह्या भणितम्-भो स्वामिन्! किमर्थं निरर्थको दुराग्रह: क्रियते यत्रोभयो: साम्यं तत्र विवाहमैत्र्यादिकं भवति, नान्यथा, अतएवायुक्तं न कर्तव्यम् । उक्तञ्च-
भगदत्त राजा ने कहा - हे सुबुद्धि मन्त्री! तुमने जो कहा है वह सब कुछ सत्य है । इसलिए हितेच्छु के वचन स्वीकृत करना चाहिए अन्यथा अनर्थ होता है । पश्चात् सब सामग्री एकत्रित कर शुभ मुहूर्त में उसने प्रस्थान करने का उद्योग किया ।
इसी अवसर पर लक्ष्मीमति रानी ने कहा कि - हे नाथ! व्यर्थ ही दुराग्रह क्यों किया जाता है? जहाँ दोनों की समानता हो वहीं विवाह और मित्रता आदि होती है, अन्यथा नहीं । अतएव अयुक्त कार्य नहीं करना चाहिए । कहा भी है -
अव्यापारेषु व्यापारं यो नर: कर्तुमिच्छति ।
स एव मरणं याति कीलोंत्पाटीव वानर: ॥361॥
जो मनुष्य न करने योग्य कार्यों में उद्योग करता है वह कील को उखाड़ने वाले वानर के समान मरण को प्राप्त होता है ॥361॥
भगदत्तेनोक्तम्-भो मूर्खे! पुरुष-पुरुषान्तरे कारणमस्ति । जितारिणा ममाग्रे निरूपितम्-युद्धमध्ये सर्वमपि दीयते । अद्याहं तथा न करोमि चेत् ततोऽन्येषामपि भूपतीनामहं न भवामि मान्य: । उक्तञ्च-
भगदत्त ने कहा - हे मूर्ख! पुरुष-पुरुष के अन्तर में कारण है । जितारि ने मेरे सामने कहा था कि युद्ध के बीच सब कुछ दिया जाता है । यदि आज मैं वैसा नहीं करता हूँ-उस पर चढ़ाई नहीं करता हूँ तो अन्य राजाओं के लिए भी मैं मान्य नहीं रहूँगा ।
यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितैर्मनुष्यै:-
विज्ञान-शौर्य-विभवार्यगुणै: समेतै: ।
तस्यैव जीवितफलं प्रवदन्ति सन्त:
काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुङ् क्ते ॥362॥
मनुष्य विज्ञान, शूरवीरता, वैभव तथा अन्य गुणों से युक्त होकर यदि क्षणभर के लिए भी जीवित रहते हैं तो सत्पुरुष उसे ही जीवित रहने का फल कहते हैं । वैसे तो कौआ भी चिरकाल तक जीवित रहता है और बलि-चढ़ोत्तरी को खाता है ॥362॥
ततो महासंभ्रमेण निर्गत्याविच्छिन्न-प्रयाणकैर्जितारिदेशसीमां गतो भगदत्त: । लक्ष्मीमत्या राज्ञ्या चिन्तितं-यद्भाव्यं तद् भविष्यति । निर्गमनसमये शुभशकुनानि जातानि । तद्यथा-दधि दूर्वाक्षतपात्रं, जल-कुम्भेषु दण्डपद्मिनी, प्रसूतवती स्त्री, वीणाप्रभृतिकमग्रे सुदर्शनं जातम् । केनचिच्चरपुरुषेणागत्य जितारिराजाग्रे निरूपितमेकान्त-हे देव! भगदत्तस्य राज्ञो बलमागतम् । ततो गर्वान्वितेन राज्ञा भणितम्-रे वराक! स कोऽपि वीरो महीतलेऽस्ति यो ममोपरि चलति । अहं जितारिर्नामेति । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर बड़ी भारी तैयारी से निकल कर लगातार कई पड़ावों द्वारा भगदत्त, जितारि के देश की सीमा पर पहुँच गया । लक्ष्मीमति रानी ने

विचार किया कि जो होनहार है वह होगा परन्तु प्रस्थान के समय शुभ शकुन हुए थे जैसे दही, दूर्वा और अक्षतों का पात्र, जल से भरे हुए कलशों पर रखी हुई डंठल सहित कमलिनी, प्रसूता स्त्री और वीणा आदि दर्शनीय पदार्थ आगे आये हैं ।

किसी गुप्तचर ने आकर जितारि राजा के आगे कहा - हे देव! भगदत्त राजा की सेना आ गयी है । तब गर्व से युक्त राजा ने कहा - अरे रंक! पृथ्वी पर वह कोई वीर है जो मेरे ऊपर चढ़ाई कर सके । मेरा जितारि नाम है-मैं शत्रुओं को जीतने वाला सचमुच का जितारि हूँ । जैसा कि कहा है-

दृष्टं श्रुतं न क्षितिलोकमध्ये मृगा मृगेन्द्रोपरि संचलन्ति ।

विधुन्तुदस्योपरि चन्द्रमोऽर्को किं वा विडालोपरिमूषका: स्यु: ॥363॥

पृथ्वी लोक के मध्य ऐसा न देखा गया है और न सुना गया है कि मृग सिंह पर चढ़ाई करते हैं, चन्द्रमा और सूर्य राहु पर आक्रमण करते हैं अथवा चूहे बिलाओं पर चढ़ते हैं ॥363॥

किं वेनतेयोपरि काद्रवेय: किं सारमेयोपरि लम्बकर्ण: ।

किं वा कृतान्तोपरि भूतवर्ग: किं कुत्र श्येनोपरि वायसा: स्यु: ॥364॥

क्या साँप गरुड़ पर, गधे कुत्ते पर, प्राणिसमूह यमराज पर और कौए बाज पक्षी पर आक्रमण करते हैं ॥364॥

"यावद् भास्करो नोदेति तावत्तम: ।" इत्येवं यावद् भणति तावद् गुप्तवृत्त्यागत्य वाराणसीपुरं वेष्टितं भगदत्तेन राज्ञा । भगदत्तस्याभ्यागतस्य कोलाहलं श्रुत्वा महता संभ्रमेण चतुरङ्गबलेन सह निर्गतो जितारि: । निर्गमनसमयेऽपशकुनानि जातानि । तथा चोक्तम्-

ठीक कहा है कि जब-तक सूर्य उदित नहीं होता है तभी तक अन्धकार रहता है । इस प्रकार जब-तक कहता है तब-तक गुप्त रूप से आकर भगदत्त राजा ने वाराणसी नगर घेर लिया । आये हुए भगदत्त का कोलाहल सुनकर जितारि बड़ी तैयारी से चतुरंग सेना के साथ बाहर निकला । निकलते समय उसे अपशकुन हुए । जैसा कि कहा है -

अकालवृष्टिस्त्वथ भूमिकम्पो निर्घात उल्कापतनं प्रचण्डम् ।

इत्याद्यनिष्टानि ततो बभूवुर्निवारणार्थं सुहृदो यथैव ॥365॥

अकाल-वृष्टि, पृथ्वी-कम्पन, वज्रपात और भयंकर उल्कापात, ये सब अनिष्ट अपशकुन प्रकट हुए मानों मित्र के समान उसे युद्ध से रोकने के लिए ही प्रकट हुए थे ॥365॥

अस्मिन् प्रस्तावे सुदर्शनमन्त्रिणा भणितम्-हे देव! कन्या दत्त्वा सुखेन स्थीयते । तथा चोक्तम्-

इस अवसर पर सुदर्शन मन्त्री ने कहा - हे देव! कन्या देकर सुख से रहा जाये । जैसा कि कहा है -

रक्षन्ति देशं ग्रामेण ग्राममेकं कुलेन च ।

कुलमेकेन चात्मानं पृथ्वीत्यागेन पण्डिता: ॥366॥

बुद्धिमान् जन एक ग्राम का त्याग कर देश की, कुल का त्याग कर एक ग्राम की, एक व्यक्ति का त्याग कर कुल की और पृथ्वी का त्याग कर अपने आपकी रक्षा करते हैं ॥366॥

जितारिणोक्तम्-भो मन्त्रिवर्या: किमर्थं भयं कुरुथ ? मम खड्गघातं सोढुं क: समर्थ: तथा चोक्तम्-

जितारि ने कहा - हे श्रेठ मन्त्रियो! भय किसलिये करते हो ? मेरी तलवार का प्रहार सहन करने के लिए कौन समर्थ है? जैसा कि कहा है -

कोऽस्मिन् लोके शिरसि सहते य: पुमान् वज्रपातं

कोऽस्तीदृग्यस्तरति जलधिं बाहु दण्डेरपारम् ।

कोऽस्त्वस्मिन्यो दहनशयने सेवते सौख्यनिद्रां

ग्रासैर्ग्रासै-र्गिलति सततं कालकूटं च कोऽपि ॥367॥

इहलोक में ऐसा कौन पुरुष है जो शिर पर वज्रपात को सह सके, ऐसा कौन मनुष्य है जो भुजदण्डों के द्वारा अपार समुद्र को तैर सके ? ऐसा कौन है? जो अग्निशय्या पर सुख की नींद का सेवन करता हो ? और क्या ऐसा भी कोई है जो एक-एक ग्राम के द्वारा निरन्तर कालकूट विष का सेवन करता हो ॥367॥

पुनर्मन्त्रिणाऽसम-सन्नाह-संयुक्तं परदलं दृष्ट्वा निरूपितम्-देव! बहुवलं समागतं, किं क्रियते? जितारिणोक्तम्-मन्त्रिन् सत्त्वेन सिद्धिर्जयश्च,

न बहुसामग्रया । यदुक्तम्-

पश्चात् अनुपम तैयारी से युक्त शत्रु सेना को देखकर मंत्री ने फिर कहा - हे देव! बहुत बड़ी सेना आयी है क्या किया जाये ? जितारि ने कहा - हे मन्त्री! पराक्रम से सिद्धि और विजय होती है बहुत सामग्री से नहीं । जैसा कि कहा है-

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिता: सप्ततुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरण-विकल: सारथिरपि ।
रविर्याति प्रान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभस:
क्रियासिद्धि: सत्त्वे वसतिमहतां नोपकरणे ॥368॥

सूर्य के रथ को एक ही चक्र है, घोड़े नागपाश से बद्ध हैं तथा गिनती के सात ही हैं, मार्ग आलम्बनरहित-निराधार आकाश है और सारथि भी चरणों से रहित-अनुरूप है फिर भी वह प्रतिदिन अपार आकाश के अन्त को प्राप्त होता है । इससे जान पड़ता है कि महापुरुषों की क्रियासिद्धि उनके पराक्रम में रहती है उपकरण सहायक सामग्री में नहीं ॥368॥

घटो जन्म-स्थानं ग्रह-परिजनो भूर्जवसनो
वने वास: कन्दस्त्वशनमपि दु:स्थं वपुरपि ।
अतीव्रोऽगस्त्योऽयं यदपिबदपारं जलनिधिं
क्रियासिद्धि: सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥369॥

अगस्त्य ऋषि का जन्म स्थान घट था, ग्रह समूह ही उनका परिवार था, भोजपत्र उनका वस्त्र था, वन में उनका निवास था, कन्दमूल भोजन था, शरीर अस्वस्थ था और स्वभाव के शान्त थे फिर भी उन्होंने अपार समुद्र को पी लिया । इससे सिद्ध होता है कि महापुरुषों की क्रियासिद्धि-कार्य की सफलता उनके पराक्रम में रहती है उपकरणों में नहीं ॥369॥

विपक्ष: श्रीकण्ठो जडतनुरमात्य: शशधरों
वसन्त: सामन्त: कुसुममिषव: सैन्यमबला: ।
तथापि त्रैलोक्यं जयति-मदनो देह-रहित:
क्रिया-सिद्धि सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥370॥

महादेवजी काम के शत्रु हैं, शीतल शरीर को धारण करने वाला चन्द्रमा उसका मन्त्री है, बसन्त ऋतु सामन्त है, पुष्प बाण हैं, स्त्रियाँ सेना हैं और स्वयं अनंग-शरीर रहित है फिर भी वह तीन लोक को जीत लेता है । इससे जान पड़ता है कि महापुरुषों की क्रियासिद्धि उनके पराक्रम में रहती है उपकरणों में नहीं ॥370॥

स्वयं तिर्यग्योनि: करचरणरहित: पृथुशिरा:
स्वभावादालास्यं त्वशननिरतो वायुकवले ।
तथाप्येतद्विश्वं वहति फणिराज: फणमणौ
क्रियासिद्धि: सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥371॥

शेषनाग स्वयं तिर्यर् योनि का है, हाथ पैरों से रहित है, विशाल शिर से सहित है, स्वभाव से ही उसमें आलस्य भरा हुआ है और वायुरूप ग्रास के भक्षण में निरत रहता है **अर्थ**ात् वायु ही उसका भोजन है फिर वह इस विश्व को फण की मणि पर धारण कर रहा है । इससे ज्ञात होता है कि महापुरुषों की क्रियासिद्धि उनके पराक्रम में रहती है उपकरण में नहीं ॥371॥

ततो भगदत्तेन दूतलक्षणयुक्तो दूत: प्रेषित: । दूतलक्षणं यथा-

पश्चात् भगदत्त ने दूत के लक्षणों से युक्त दूत भेजा । दूत का लक्षण यह है -

मेधावी वाक्पटुश्चैवं परचित्तोपलक्षक: ।
धीरो यथोंक्तवादी च ह्येतद् दूतस्य लक्षणम्॥372॥

जो बुद्धिमान् हो, वचन बोलने में चतुर हो, दूसरों के हृदय को देखने वाला हो, गम्भीर हो और सत्यवादी हो, वही दूत का लक्षण है ॥372॥

एतादृशो दूत: प्रस्थापित: । यत:-

भगदत्त ने ऐसा दूत भेजा, क्योंकि -
पुरा दूत: प्रकर्तव्य: पश्चाद् युद्ध: प्रकाश्यते ।
दूतेन सबलं सैन्यं निर्बलं ज्ञायते ध्रुवम् ॥373॥
पहले दूत भेजना चाहिए पश्चात् युद्ध की घोषणा करनी चाहिए । उसका कारण यह है कि दूत के द्वारा सबल और निर्बल सेना का बोध हो जाता है ॥373॥
ततो दूतेन तेन जितारिराजस्याग्रे गत्वोक्तम्-हे राजन्! मुण्डिकां प्रदाय महामण्डलेश्वरस्य भगदत्तनरेन्द्रस्य सेवां च कृत्वा सुखेन राज्यं कुरु । अन्यथा नाश एव । यदुक्तं-
तदनन्तर उस दूत ने जितारि राजा के आगे जाकर कहा कि-हे राजन्! मुण्डिका को देकर और महा मण्डलेश्वर भगदत्त नरेन्द्र की सेवा कर सुख से राज करो अन्यथा विनाश ही होगा । जैसा कि कहा है-
अनुचित कर्मारम्भ: स्वजनविरोधो बलीयसां स्पर्धा ।
प्रमदाजन-विश्वासो मृत्योद्र्वाराणि चत्वारि ॥374॥
अनुचित कार्य का प्रारम्भ करना, आत्मीय जनों के साथ विरोध करना, बलिठ पुरुषों के साथ ईर्ष्या करना और स्त्रियों का विश्वास करना; ये मृत्यु के चार द्वार हैं ॥374॥
जितारिणा राज्ञोक्तम्-रे वराक! किं जल्पसि रणे ममाग्रे न स्थास्यन्त्येते । अथवा यद् भावि तद् भवतु । किन्तु न ददामि सुतामिति स्वकीयां प्रतिज्ञां सर्वनाशेऽपि न त्यजामि । यन्महापुरुषेणाङ्गीकृतं तन्न त्यजति । तथा चोक्तम्-
जितारि राजा ने कहा - अरे दीन! क्या कहता है ? युद्ध में मेरे आगे ये खड़े नहीं होंगे अथवा जो होना हो वह हो किन्तु "मैं पुत्री नहीं दूँगा" अपनी इस प्रतिज्ञा को सर्वनाश होने पर भी नहीं छोड़ूँगा । महापुरुष जिसे स्वीकृत कर लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं हैं । जैसा कि कहा है -
मार्तण्डान्वयजन्मना क्षितिभृता चाण्डाल-सेवा कृता
रामेणाद्भुत-विक्रमेण गहना संसेविता कन्दरा ।
भीमाद्यै: शशिवंशजैर्नृपवरैर्दैन्यं कृतं रङ्कवत्
स्वाभाषापरिपालनाय पुरुषै: किं किं च नाङ्गीकृतम् ॥375॥
सूर्यवंश में उत्पन्न हुए राजा हरिश्चन्द्र ने चाण्डाल की सेवा की, अद्भुत पराक्रम के धारक रामचन्द्रजी ने सघन कन्दरा का सेवन किया और चन्द्रवंशीय भी आदि उत्तम राजाओं ने रंक के समान दीनता की । इससे सिद्ध है कि पुरुषों ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए क्या-क्या नहीं अंगीकृत किया है ? **अर्थ**ात् सभी कुछ किया है ॥375॥
अद्यापि नोज्झति हर: किल कालकूटं
कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृठभागे ।
अम्भोनिधिर्वहति दुस्सहवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिन: परिपालयन्ति ॥376॥
शंकरजी अब भी कालकूट विष को नहीं छोड़ रहे हैं, कछुआ अब भी अपनी पीठ पर पृथ्वी को धारण कर रहा है और समुद्र अब भी दुस्सह बड़वानल को धारण कर रहा है सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा जन स्वीकृत बात का अच्छी तरह पालन करते हैं ॥376॥
तदैवं प्रजल्प्य कुरद्धेन जितारिणा राज्ञा दूतमारणाय भटा: समादिष्टा: । ततो मन्त्रिणा मन्त्रितम्-दूतमारणमनुचितम् । उक्तञ्च-भो राजन्! दूतहननात् समन्त्री राजा नरकं व्रजति । राजानं विज्ञाप्य दूतो निर्घाटितो मन्त्रिणा । ततो दूतेनागत्य भगदत्ताग्रे कथितम्-देव जितारि: स्वभुजबलेन किमपि न गणयति । ततो भगदत्तो दलं संनाह्य युद्धार्थं चलित: । जितारिरपि सम्मुखो भूत्वा स्थित: । तस्मिन् समये किं किं जातम्? तद्यथा-
उस समय ऐसा कहकर क्रोध से परिपूर्ण राजा जितारि ने दूत को मार डालने के लिए योद्धाओं को आज्ञा दी । पश्चात् मन्त्री ने विचार किया कि दूत का मारना अनुचित है । विचार कर उसने कहा भों-हे राजन्! दूत के मारने से मन्त्री सहित राजा नरक को जाता है । राजा से ऐसा कहकर मन्त्री ने दूत को बाहर निकाल दिया । तदनन्तर दूत ने आकर राजा भगदत्त के आगे कहा - हे देव! जितारि अपनी भुजाओं के बल

से कुछ भी नहीं गिनता है । पश्चात् भगदत्त सेना को सजाकर युद्ध के लिए चल पड़ा । इधर जितारि भी सम्मुख होकर खड़ा हो गया । उस समय क्या-क्या हुआ? सो सुनो -

दिक्चक्रं चलितं भयाज्जलनिधिर्जातो महाव्याकुल:

पाताले चकितो भुजङ्गमपति: क्षोणीधरा: कम्पिता: ।

भ्रान्ता सुपृथिवी महाविषधरा: क्ष्वेडं वमन्त्युत्कटं

वृत्तंसर्वमनेकधा दलपतेरेवं चमू-निर्गमे ॥377॥

दिग्मण्डल भय से चलायमान हो गया, समुद्र अत्यन्त व्याकुल हो उठा, पाताल में शेषनाग चकित रह गया, पर्वत काँप उठे, पृथ्वी घूम गयी और बड़े-बड़े साँप भयंकर विष को उगलने लगे । सेनापति की सेना निकलते ही यह सब अनेक प्रकार के कार्य हुए ॥377॥

भगदत्तसैन्यं विजयीं दृष्ट्वा मन्त्री जगाद-हे जितारे राजन्! पश्य, स्वसैन्ये त्रासोऽभूत् । अतो न स्थीयते । राज्ञा जल्पितम्-हे मन्त्रिन्! किमर्थं कातरो भवसि । उभयतोऽपि वरं जयिनि सति इहलोके सौख्यं मृते सति परलोके सौख्यं भविष्यति । उक्तञ्च-

भगदत्त की सेना को विजयी देख मन्त्री ने कहा कि-हे जितारि राजन्! देखो, अपनी सेना में भय छा गया है इसलिए वह खड़ी नहीं रह सकेगी । राजा ने कहा कि-हे मन्त्री! कायर क्यों हो रहे हो?

दोनों प्रकार से लाभ है विजयी होने पर इहलोक में सुख और मरने पर परलोक में सुख होगा । कहा भी है -

जयिना लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि सुराङ्गना ।

क्षणविध्वसिन: काया का चिन्ता मरणे रणे ॥378॥

सुभट यदि विजयी होता है तो उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है और मरता है तो देवांगना मिलती है । शरीर क्षणभंगुर है अत: रण में मरण होने की क्या चिन्ता है ॥378॥

पुनर्मन्त्रिणा निगदितम्-हे राजन् जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत् । मरणे किं साध्यम्? ततो जितारि: कथमपि व्याघुट्य गत: । चलतानेन राज्ञा भणितम्-दैवमेव प्रमाणम् । यत:-

मन्त्री ने फिर कहा - हे राजन्! मनुष्य यदि जीवित रहता है तो सैकड़ों कल्याणों को देख सकता है मरने पर क्या साध्य है **अर्थ**ात् कुछ भी नहीं । पश्चात् जितारि किसी तरह लौटकर चला गया । जाते समय राजा जितारि ने कहा कि-भाग्य ही प्रमाण है- वही बलवान है, क्योंकि -

नेता यत्र बृहस्पति: प्रहरणं वज्रं सुरा: सैनिका:

स्वर्गो दुर्गमनुग्रह: खलु हरेरैरावणो वारण: ।

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्न: परै: संगरे

तद्युक्तं ननु दैवमेव शरणं धिक् धिक् वृथा पौरुषम्॥379॥

जहाँ बृहस्पति नायक था, वज्र शस्त्र था, देव सैनिक थे और स्वर्ग किला था, नारायण की कृपा थी और ऐरावत हाथी था, वहाँ इस प्रकार के आश्चर्यकारक बल से सहित होने पर भी इन्द्र युद्ध में दूसरों से पराजित हो गया, इससे जान पड़ता है कि निश्चय से दैव ही शरण है व्यर्थ के पौरुष को धिक्कार हो ॥379॥

भगदत्तो जितारिपृठे लग्न: । सुबुद्धिना मन्त्रिणा निषिद्ध: । भो भगदत्त! नोचितमिदम्-तथा चोक्तम्-

भगदत्त, जितारि के पीछे लग गया तब सुबुद्धि मंत्री ने उसे यह कहते हुए मना कर दिया कि हे भगदत्त! यह उचित नहीं है । जैसा कि कहा है -

भीरु: पलायमानोऽपि नान्वेष्टव्यो बलीयसा ।

कदाचिच्छूरतां याति मरणे कृतनिश्चय:॥380॥

भागते हुए भयभीत शत्रु का बलवान मनुष्य को पीछा नहीं करना चाहिए क्योंकि मरण का निश्चय कर वह कभी शूरता को प्राप्त हो सकता है ॥380॥

एतत्सर्वमपि वृत्तान्तं श्रुत्वा दृष्ट्वा च मुण्डिका जिनदेवं हृदि स्मृत्वा सावधिप्रत्याख्यानं कृत्वा पर- मेठिमन्त्रमुच्चार्य गम्भीरे कूपे पतिता ।

तस्या: सम्यक्त्वप्रभावाज्जलं स्थलं जातम् । तस्योपरि रत्नगृहं, तन्मध्ये सिंहासनम् । तस्योपरि निविष्टा सीतावत् स्थिता सुखेन सा मुण्डिका । देवै: पञ्चाश्चर्यं कृतम् । इतो भगदत्तेन राज्ञा प्रतोलीं विदार्य सर्वमपि पुरं लुण्टयितुमारभे । यावज्जितारिमन्दिरे भगदत्त: प्रविशति तावद् देवव्या स्तम्भित: । अस्मिन् प्रस्तावे केनचित् पुरुषेण भगदत्त-मण्डलेश्वरस्याग्रे मुण्डिकाया: सर्वोऽपि वृत्तान्तो निरूपित: । तच्छ्रुत्वा प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा मदवर्जितो भूत्वा विनयपूर्वं मुण्डिकाया: पादयो: पतितो भगदत्त उक्तवांश्च-भो भगिनि! यन्मया कृतं तदज्ञानव्या । तत्सर्वं सहनीयमित्यादिं निरूप्य धर्महस्तं दत्वा जितारिप्याकारित: । आगतस्य तस्याग्रे तथैवोक्तवान् । ततो वैराग्यभरभावितान्त: करणो भगदत्त: पठति स्म-जिनोक्त: सद्धर्म: प्राणिनां हितं किं किं न करोति? । यत उक्तम्-" "सेतु: संसारसिन्धौ निविडतरमहाकर्मकान्तारवह्नि:ङ्क्ङ्क-एवं धर्म एव सहाय: । उक्तञ्च यथा-

इस सभी वृत्तान्त को देख सुनकर मुण्डिका ने हृदय में श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण किया और समय की मर्यादा के साथ आहार-पानी का त्याग करके णमोकारमन्त्र का उच्चारण करती हुई गहरे कूप में गिर पड़ी । उसके सम्यक्त्व के प्रभाव से जल स्थल हो गया, उसके ऊपर रत्नों का घर और उसके बीच में सिंहासन प्रकट हो गया । उस सिंहासन पर वह मुण्डिका सीता के समान स्थित हो गयी । देवों ने पञ्चाश्चर्य किये ।

इधर राजा भगदत्त ने गोपुर को तोड़कर सभी नगर को लूटना प्रारम्भ कर दिया । जब भगदत्त राजा जितारि के भवन में प्रवेश करने लगा तब देवता ने उसे कील दिया ।

इसी अवसर पर किसी पुरुष ने राजा भगदत्त के आगे मुण्डिका का सभी समाचार कह सुनाया । उसे सुनकर और प्रत्यक्ष देखकर वह मद रहित हो विनयपूर्वक मुण्डिका के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा-हे बहिन! मैंने जो किया है वह अज्ञानता से किया है उस सबको क्षमा करो । इत्यादि कहकर उसने धर्मसूचक हाथ देकर जितारि को भी बुलवा लिया । आये हुए जितारि के सामने भी उसने उसी प्रकार कहा । तदनन्तर जो अपने हृदय में वैराग्य की भावना भा रहा था, ऐसे भगदत्त ने कहा कि-जिनेन्द्र प्रणीत समीचीन धर्म प्राणियों का क्या-क्या हित नहीं करता है ? क्योंकि कहा है-

यह धर्म संसाररूपी समुद्र से पार करने वाला पुल है और कर्मरूपी सघन वन को जलाने के लिए अग्नि है । इस प्रकार धर्म ही सहायक है । जैसा कि कहा है -

धर्मप्रभावात्सकला समृद्धि-
र्धर्म प्रभावाद् भुवने प्रसिद्धि: ।
धर्मप्रभावादणिमादि-सिद्धि-
र्धर्मप्रभावान्निज-वंशवृद्धि:॥381॥

धर्म के प्रभाव से समस्त समृद्धि प्राप्त होती है, धर्म के प्रभाव से संसार में प्रसिद्धि होती है, धर्म के प्रभाव से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और धर्म के प्रभाव से अपने वंश की वृद्धि होती है ॥381॥

तत: स्वपुत्राय राज्यं वितीर्य भगदत्तजितारिमुण्डिकादिभि: प्रव्रज्या गृहीता । अन्येषां बहूनां जीवानां धर्मलाभो जात: । नागश्रिया भणितम्-हे स्वामिन् सर्वमेतत्प्रत्यक्षेण दृष्टम्, अतो मम दृढतरं सम्यक्त्वं जातम् । ततोऽर्हद्दासेनोक्तम्-यत्त्वया दृष्टम्, एतत्सत्यमतो भो भार्ये! रोचे, श्रद्दधामि, इच्छामि । अन्याभिश्च तथैवोक्तम् । तत: कुन्दलव्योक्तम्-सर्वमसत्यमतो न श्रद्दधामीति । राज्ञा मन्त्रिणा चौरेण च स्वस्वमनसि चिन्तितम् दुष्टेयम् । प्रभातसमये गर्दभं चाटयित्वास्या निग्रहं करिष्यामो वयम् । पुनरपि चौरेण स्वमनसि विमृष्टं दुर्जनस्वभावोऽयम् । यदुक्तम्-

तदनन्तर अपने पुत्र के लिए राज्य देकर भगदत्त, जितारि तथा मुण्डिका आदि ने जिनदीक्षा ले ली और भी बहुत जीवों को धर्मलाभ हुआ । नागश्री ने कहा - हे स्वामिन्! यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है इसलिए मुझे अत्यन्त दृढ़ सम्यक्त्व हुआ है ।

पश्चात् अर्हद्दास ने कहा कि-जो तुमने देखा है वह सत्य है इसलिए हे प्रिये मुझे वह रुचता है, मैं उसकी श्रद्धा करता हूँ और इच्छा करता हूँ । अन्य स्त्रियों ने भी वैसा ही कहा । तदनन्तर कुन्दलता ने कहा - यह सब असत्य है, इसलिए मैं इसकी श्रद्धा नहीं करती हूँ । राजा, मन्त्री और चोर ने अपने-अपने मन में कहा कि-यह दुष्टा है । प्रभात समय गधे पर चढ़ाकर इसे हम लोग दण्डित करेंगे । चोर ने फिर भी अपने मन में विचार किया कि-यह दुर्जन का स्वभाव ही है । जैसा कि कहा है-

न विना परिवादेन रमते दुर्जनो जन: ।
काक: सर्वरसान् भुक्त्वा विना मेध्यं न तृप्यति ॥382॥
दुष्ट मनुष्य को निन्दा किये बिना चैन नहीं पड़ती क्योंकि कौआ समस्त रसों को छोड़कर अशुचि पदार्थ के बिना संतुष्ट नहीं होता ॥382॥
खल: सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥383॥
दुष्ट पुरुष, दूसरों के सरसों बराबर दोषों को देखता है और अपने बेल के बराबर दोषों को देखता हुआ भी नहीं देखता है ॥383॥
सर्प: क्रूर: खल: क्रूर: सर्पात्क्रूरतर: खल: ।
मन्त्रेण शाम्यते सर्प: खल: केनोपशाम्यते ॥384॥
सर्प क्रूर है और दुर्जन भी क्रूर है परन्तु दुर्जन, सर्प की अपेक्षा अधिक क्रूर है क्योंकि सर्प तो मन्त्र से शान्त हो जाता है परन्तु दुर्जन किससे शान्त होता है ? **अर्थ**ात् किसी से नहीं ॥384॥
॥ इति पञ्चमो कथा॥
॥ इस प्रकार पाँचवीं कथा पूर्ण हुई ॥

## सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली पद्मलता की कथा

सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली पद्मलता की कथा
कथा :
सम्यक्त्व प्राप्तपद्मलता कथा ।
ततोऽर्हद्दास: पद्मलतां पृच्छति-भो भार्ये त्वमपि स्वसम्यक्त्वग्रहणकारणं कथय । सा करौ संयोज्य कथयति- अङ्गविषये चम्पापुरे राजा धाडिवाहन:, राज्ञी पद्मावती । तस्मिन्नेव नगरे श्रेठी वृषभदासों महासम्यग्दृष्टि: समस्त-गुण-सम्पन्नो निवसति । तस्य भार्या पद्मावती । व्यो: पुत्री पद्मश्री महारूपवती । सापि जिनधर्मवासितचित्ता गुणवती च बभूव । तस्मिन्नेव नगरेऽपर: श्रेठी बुद्धदासो बौद्धधर्ममध्ये प्रसिद्ध: दाता । भार्या सुबुद्धदासी । व्यो: पुत्रो बुद्धसंघ: । स बुद्धसंघो निजमित्रकामदेवेन सहैकदा कौतुकेन जिनचैत्यालये गत: । तत्र देवपूजां कुर्वती महारूपवती पद्मश्रीस्तेन बुद्धसंघेन दृष्टा । श्यामा सा रूपलावण्यसम्पन्ना, मधुरवाक् , कुम्भस्तनी, बिम्बोठी, चन्द्रवदना च । एवंविधं तस्या: पद्मश्रिया रूपमवलोक्य नीच: कामान्धो जात: । महता कष्टेन निजगृहं गत: शय्योपरि पतित: । चिन्ताप्रपन्नं तं पुत्रं दृष्ट्वा मात्रा भणितम्-रे पुत्र केन कारणेन तव भोजनादिकं न प्रतिभाति, महती चिन्ता च दृश्यते तव । कारणं कथय ।
ततो लज्जां मुक्त्वा बुद्धसंघेनोक्तम्-हे मार्व्यदा वृषभदास श्रेठपुत्रीं पद्मश्रियमहं विवाहयिष्यामि तदा मम जीवितं नान्यथा । एवं श्रुत्वा बुद्धदास्या निजस्वामिनोऽग्रे पुत्रवृत्तान्तं सर्वमपि निरूपितम् तत्र पित्राप्यागत्य भणितम् । रे पुत्र! मद्यमांसाहारिणोऽस्मान् स वृषभदासश्चाण्डालवत् पश्यति, तव कथं कन्यामेनां प्रयच्छति । अतएव साध्यवस्तुविषये विबुधैराग्रह: क्रियते नान्यत्र । अन्यच्च-
तदनन्तर अर्हद्दास सेठ पद्मलता से पूछता है कि हे प्रिये! तुम भी अपने सम्यक्त्व ग्रहण का कारण कहो । वह हाथ जोड़कर कहती है - अंग देश के चम्पापुर नगर में राजा धाडिवाहन रहता था । उसकी रानी का नाम पद्मावती था । उसी नगर में एक वृषभदास नाम का सेठ रहता था, जो महान् सम्यग्दृष्टि तथा समस्त गुणों से सम्पन्न था । उसकी स्त्री का नाम पद्मावती था । उन दोनों के पद्मश्री नाम की अत्यधिक रूपवती पुत्री थी । पद्मश्री का चित्त जिनधर्म से युक्त था तथा वह अनेक गुणों को धारण करने वाली थी । उसी नगर में एक बुद्धदास नाम का दूसरा सेठ रहता था, जो बौद्धधर्म के बीच प्रसिद्ध दानी था । उसकी स्त्री का नाम बुद्धदासी था । उन दोनों के बुद्धसंघ नाम का पुत्र था ।
वह बुद्धसंघ एक दिन अपने मित्र कामदेव के साथ कौतूहलवश जैनमन्दिर गया । वहाँ उसने देवपूजा करती हुई परमरूपवती पद्मश्री को देखा । पद्मश्री यौवनवती थी, रूप और लावण्य से सम्पन्न थी, मधुर वचन बोलने वाली थी, कुम्भ के समान स्थूल स्तनों से युक्त थी, बिम्बाफल के समान लाल-लाल ओठों से सहित थी और चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख से सुशोभित थी । पद्मश्री के ऐसे रूप को देखकर नीच बुद्धसंघ काम से अन्धा हो गया । वह बड़े कष्ट से अपने घर पहुँचा और पहुँच कर शय्या पर पड़ रहा । पुत्र को चिन्तित देख माता ने कहा कि-हे पुत्र! किस कारण तुझे भोजनादिक नहीं रुच रहा है तथा बड़ी चिन्ता दिखायी दे रही है, कारण कहो ।

तदनन्तर लज्जा छोड़कर बुद्धसंघ ने कहा कि-हे माँ! जब मैं वृषभदास सेठ की पुत्री पद्मश्री को विवाह लूँगा तभी मेरा जीवन रहेगा, अन्यथा नहीं । ऐसा सुनकर बुद्धदासी ने अपने पति के आगे पुत्र का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । पश्चात् पिता ने भी कहा - हे पुत्र! मद्य-मांस का आहार करने वाले हम लोगों को वह वृषभदास चाण्डाल के समान देखता है । वह तुम्हें यह कन्या कैसे दे देगा? इसीलिए प्राप्त होने योग्य वस्तु के विषय में ही विद्वानों द्वारा आग्रह किया जाता है अन्य वस्तु में नहीं । दूसरी बात यह भी है -

ययोरेव समं शीलं ययोरेव समं कुलम् ।
ययोरेव गुणै: साम्यं व्योर्मैत्री भवेद् धु्रवम् ॥385॥

जिनका समान शील होता है, जिनका समान कुल होता है और जिनमें गुणों की समानता होती है उन्हीं की निश्चित मित्रता होती है ॥385॥

पुत्रेणोक्तम्-किं बहुजल्पनेन, व्या बिना न जीवामि । पित्रोक्तम्-अहो विषमं कामस्य माहात्म्यम् । कामवह्निप्रदीपितोऽमृतसेचनेनापि न शाम्यति । उक्तञ्च-

पुत्र ने कहा - अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता । पिता ने कहा - अहो! काम का माहात्म्य विषम है । कामाग्नि से प्रदीप्त मनुष्य अमृत के सेवन से भी शान्त नहीं होता है । जैसा कि कहा है -

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातै: प्लावितोऽप्यम्बुराशिभि: ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपित: ॥386॥

कामाग्नि से संतापित मनुष्य, मेघसमूह के द्वारा सींचे जाने पर भी तथा जलराशि के द्वारा डुबाये जाने पर भी संताप को नहीं छोड़ता है ॥386॥

तावद् धत्ते प्रतिष्ठां परिहरति मनश्चापलं चैव ताव-
त्तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम् ।
क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै:-
यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायितानि ॥387॥

मनुष्य तभी तक प्रतिष्ठा को धारण करता है, मन तभी तक चंचलता को छोड़ता है और समस्त तत्त्वों से देदीप्यमान सिद्धान्त सूत्र हृदय में तभी तक अत्यधिक रूप से स्फुरित रहता है जब तक क्षीरसागर की लहरों के समान सुशोभित स्त्रियों के कटाक्षों से ताड़ित होकर अत्यधिक र्चलता को धारण नहीं करता है ॥387॥

मात्रोक्तम्-मूर्खोऽयम् । सर्वमपि सुसाध्यं न तु मूर्खचित्तम् । "क्षितौ सर्वं सुसाध्यं स्यान्मूर्खस्य हृदयं न तु" । तथा चोक्तम्-

माता ने कहा - यह मूर्ख है । सभी कार्य सुसाध्य है परन्तु मूर्ख का चित्त सुसाध्य नहीं है जैसी कि कहावत है - पृथ्वी पर सभी काम अच्छी तरह साध्य हैं परन्तु मूर्ख का हृदय साध्य नहीं है । जैसा कि कहा है -

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्टाङ्कुरात्
समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारये-
न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥388॥

मगर के मुख के भीतर दाँढ़ रूप अंकुरों से मणि को बलपूर्वक निकाला जा सकता है, तरंगावली से व्याप्त समुद्र को तैरा जा सकता है और कुरद्ध सर्प को भी फूल की तरह शिर पर धारण किया जा सकता है परन्तु हठी मूर्ख मनुष्य के चित्त की आराधना नहीं की जा सकती ॥388॥

यो यस्य स्वभावस्तं स शतेनापि शिक्षावचनैर्न त्यजति । पुन: पित्रोक्तम्-भो पुत्र! स्थिरो भव । तव कार्यं क्रमेण करिष्यामि । तथा चोक्तम्-

जिसका जो स्वभाव होता है वह उसे सैकड़ों शिक्षा के वचनों से भी नहीं छोड़ता है । पिता ने फिर कहा कि-हे पुत्र! स्थिर रहो-धीरज धरो, तुम्हारा काम क्रम से करँगा । जैसा कि कहा है-

क्रमेण वल्मीकशिखाभिवर्धते
क्रमेण विद्या विनयेन गृह्यते ।

क्रमेण शत्रु: कपटेन हन्यते
क्रमेण मोक्षस्तपसाधिगम्यते॥389॥

वामी की शिखर क्रम से बढ़ती है, विनय के द्वारा विद्या क्रम से ग्रहण की जाती है, छल के द्वारा शत्रु क्रम से नष्ट किया जाता है और तप के द्वारा मोक्ष क्रम से प्राप्त किया जाता है ॥389॥

इत्येवं निरूप्य महता प्रपञ्चेन पितापुत्रौ जैनौ जातौ । व्योर्जैनत्वं दृष्ट्वा वृषभदास श्रेठी महासंतुष्टो भूत्वा भणति-अहो एतौ, धन्यौ, मिथ्यात्वं परित्यज्य सन्मार्गे लग्नौ । इत्येकधर्मत्वाद् वृषभदास श्रेष्ठिनो बुद्धसंघेन सह परस्परं भोजनादिकं वितन्वतो बुद्धदासेन सह महती मैत्री जाता । तथा चोक्तम्-

इस प्रकार कहकर पिता पुत्र-दोनों बड़े छल से जैनी हो गये । उनका जैनपन देखकर वृषभदास सेठ अत्यन्त सन्तुष्ट होकर कहता है कि अहो! ये धन्य हैं जो मिथ्यात्व को छोड़कर सन्मार्ग में लग गये । एक धर्म के धारक होने से वृषभदास सेठ बुद्धसंघ के साथ परस्पर भोजनादिक करने लगा, जिससे बुद्धदास के साथ उसकी बड़ी मित्रता हो गयी । जैसा कि कहा है-

ददाति प्रतिगृह्नाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥390॥

देता है, लेता है, गुप्त बात कहता है, पूछता है, भोजन करता है और भोजन कराता है; ये छह प्रीति के लक्षण हैं ॥390॥

एकदा तेन वृषभदास: श्रेष्ठिना बुद्धदास: स्वगृहे भोजनार्थं निमन्त्रित: । भोजन समये स बुद्धदासो भोजनं न करोति । वृषभदासेनोक्तम्-भो बुद्धदास किमर्थं भोजनं न करोषि? तेनोक्तम्-यदि मम पुत्राय स्वकीयां पुत्रीं ददाति चेत् तदा भुज्यते, नान्यथा । वृषभदासेनोक्तम्-अहो, सुहृदो येषां गृह आगच्छन्ति ते धन्या:, विशेषेण त्वत्सदृश: अतएव वयं धन्या: । अवश्यं दास्यामि तव पुत्राय पुत्रीम् । तत: शुभदिने विवाहो जात: । तत: पद्मश्रियं गृहीत्वा बुद्धसंघ: स्वगृहं गत: । पुनरपि तौ बुद्धभक्तौ जातौ । तत्सर्वं दृष्ट्वा श्रुत्वा च वृषभदासश्रेठी विखिन्नो भूत्वा वदत्यहों, गूढप्रपञ्चं कोऽपि न जानाति । उक्तञ्च-

एक दिन उस वृषभदास सेठ ने बुद्धदास को अपने घर पर भोजन के लिए निमन्त्रित किया । भोजन के समय बुद्धदास ने भोजन नहीं किया । वृषभदास ने कहा - हे बुद्धदास! भोजन क्यों नहीं कर रहे हो? उसने कहा - यदि मेरे पुत्र के लिए अपनी पुत्री देओ तो भोजन किया जायेगा अन्यथा नहीं ।

वृषभदास ने कहा - अहो! मित्र जिनके घर आते हैं, वे धन्य हैं और विशेष तुम्हारे जैसे । अतएव हम धन्य हैं । अवश्य ही तुम्हारे पुत्र के लिए पुत्री दूँगा । तदनन्तर शुभ दिन में विवाह हो गया और पद्मश्री को लेकर बुद्धसंघ अपने घर चला गया । विवाह के बाद पिता-पुत्र दोनों फिर से बुद्ध के भक्त हो गये । यह सब देख सुनकर वृषभदास सेठ ने अत्यन्त खिन्न होकर कहा - अहो । गूढ़ छल को कोई नहीं जानता है । कहा भी है-

सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥391॥

अच्छी तरह किये हुए कपट के अन्त को ब्रह्मा भी नहीं प्राप्त कर सकता है । देखो, विष्णु के रूप में तन्तुवाय राजकन्या का सेवन करता रहा ॥391॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

मायामविश्वासविलासमन्दिरं दुराशयो य: कुरुते धनाशया ।
सोऽनर्थसारं न पतन्तमीक्षते यथा विडालो लगुडं पय: पिबन् ॥392॥

जो दुष्ट अभिप्राय वाला मनुष्य धन की आशा से अविश्वास के क्रीड़ागृह स्वरूप मायाचार को करता है वह पड़ते हुए बहुत भारी अनर्थ को उस तरह नहीं देखता है जिस तरह की दूध पीता हुआ बिलाव पड़ते हुए डंडे को नहीं देखता है ॥392॥

ततो बुद्धदासबुद्धसंघावाकार्य वृषभदासेन कथितं गृहीत व्रतभङ्गदूषणं च प्रदर्शितम् । तथाहि-

पश्चात् वृषभदास सेठ ने बुद्धदास और बुद्धसंघ को बुलाकर कहा तथा व्रतभंग का दोष दिखाया । जैसा कि कहा है -

प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं युक्ताक्षिधृतं व्रतम् ।
व्रतभङ्गो हि दु:खाय प्राणा जन्मनि जन्मनि॥393॥
गुरु की साक्षीपूर्वक लिया हुआ व्रत, प्राणान्त का अवसर आने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि व्रत भंग दु:ख के लिए होता है परन्तु प्राण जन्म-जन्म में प्राप्त होते रहते हैं ॥393॥
परं किमपि न लग्नं व्योश्चेतसि । वृषभदास: कर्मपरिणतिं विचार्य तूष्णीं स्थित: । एकदा बुद्धदासस्य यो गुरु: पद्मसंघस्तेन पद्मश्रियं प्रति भणितम्-भो पुत्रि सर्वधर्माणां मध्ये बौद्धधर्म एव साधीयान् धर्मो नान्य: । पद्मश्रियोक्तम्-हे पद्मसंघ! सन्मार्गं परित्यज्य नीचमार्गं प्रति कथं मम मन: प्रवर्तते तथा चोक्तम्-
परन्तु उन दोनों के चित्त में कुछ नहीं लगा । वृषभदास सेठ कर्मोदय का विचार कर चुप बैठा रहा ।
एक समय बुद्धदास का गुरु जो पद्मसंघ था उसने पद्मश्री से कहा - हे पुत्रि! सब धर्मों के मध्य में बौद्धधर्म ही सबसे श्रेठ धर्म है अन्य नहीं । पद्मश्री ने कहा - हे पद्मसंघ! सन्मार्ग को छोड़कर नीचमार्ग की ओर मेरा मन कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?
वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्षका बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता न नीचकर्माणि समाचरन्ति ॥394॥
जिस प्रकार मृग का मांस खाने वाले सिंह वन में भूखे होने पर भी तृण नहीं खाते । इसी प्रकार कुलीन मनुष्य कष्ट से युक्त होने पर नीच कार्यों का आचरण नहीं करते हैं ॥394॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
"देव गुरुसमीपे गृहीतानि व्रतानि यस्त्यजति स इह परलोके दु:खी भवति" ।
नि:सौभाग्यों भवेन्नित्यं धनधान्यादि-विवर्जित: ।
भीतमूर्ति: सदा दु:खी व्रतहीनश्च मानव:॥395॥
देव तथा गुरु के समीप लिए हुए व्रतों को जो छोड़ता है वह इहलोक तथा परलोक में दु:खी होता है । व्रतहीन मनुष्य निरन्तर सौभाग्यहीन, धन-धान्यादि से रहित, भयभीत और दुखी होता है ॥395॥
यद्हितं तदा चरणीयं किं लोकजल्पितेन । तथाच-
जो काम हितकारी हो उसका आचरण अवश्य करना चाहिए । लोगों के कहने से क्या होता है? जैसा कि कहा है -
आत्मना स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्प: ।
विद्यते न हि कश्चिदुपाय: सर्वलोक-परितोषकरो य: ॥396॥
अपना हित स्वयं करना चाहिए बहुत बोलने वाले मनुष्य क्या कर लेंगे? क्योंकि ऐसा कोई उपाय नहीं है जो सब लोगों को संतुष्ट करने वाला हो ॥396॥
एतत्पद्मश्रीवचनं श्रुत्वा पद्मसंघो मौनं कृत्वा स्वगृहं गत: । एवं काले गच्छति कियता कालेन पद्मश्रीपिता वृषभदास: श्रेठी कालधर्मं मत्वा स्वस्य, चतुर्विधसंघसाक्षिकं समस्तजीवेभ्य: क्षमां कृत्वा "मिथ्या मे दुष्कृतं भवत्वित्युच्चार्य चतु:शरणं प्रपद्य पापस्थानानि त्रिधा विसृज्यानशनपूर्वकं नमस्कारान् स्मृत्वा प्राणान् परित्यज्य च स्वर्गं गत: । तेन दु:खेन पद्मश्रीरतीव दु:खिता जाता । श्वसुरपक्षीया विधर्मत्वात् निर्जनीकृतत्वाच्च पराभवन्ति पद्मश्रियं तथापि सा निश्चलचित्ता जिनधर्मं न त्यजति । एकदावसरं प्राप्य बुद्धदासेनोक्तम्-हे वधु! मम गुरुणा तव पितुर्जन्म कथितम्-वृषभदासो मृत्वा, वनमध्ये मृगोऽभूत् । एतद्वचनं श्रुत्वा मनसि महाक्रोधं कृत्वा प्रतारणपरं वचनमभाणि पद्मश्रिया यदि भवतां गुरव एवंविधा ज्ञातारो भवेयुस्तर्हि मया बौद्धव्रतं गृह्यते ।
पद्मश्रिय एवं विधं वच: श्रुत्वा बुद्धदासो हर्षित: सन् पुनरप्याह-हे वधु ! कल्यं प्रथमं भोजनमस्मद् गुरुभ्य: प्रयच्छ पश्चाद् बुद्धधर्मोच्चारणं कुरु । व्या तथेति प्रतिपन्नम् ।
द्वितीयेऽह्नि व्या-तेषां बौद्धयतीनां भोजनार्थमामन्त्रणं दत्तम् । ते सर्वेऽपि हर्षिता: समागता: । ततो महतादरेण निजगृहमध्ये उपवेशिता आसनेषु पूजिताश्च । बाह्यप्रदेशस्थं तेषां वामपादस्यैकैकं पादत्राणं चेटिकया प्रच्छन्नं गृहीत्वा सूक्ष्मं यथा भवति तथोत्कृत्य तदीयं तमेनं

हिंगवादि-सुसंस्कृतं विधाय भोजनमध्ये निक्षिप्तम् सर्वेऽपि भोजनं कृत्वा प्रशंसितवन्त: । गन्धलेपनं ताम्बूलादिकं सर्वमपि वितीर्य भणितं व्या-अद्याहं कृतार्था जाता, ममजन्म सफलमभूत् । प्रातर्मया बौद्धव्रतं गृह्यते । तैरुक्तम्-तथास्तु-सर्वेऽपि निर्गमनसमये गुरव: स्वस्ववामपादत्राणं न पश्यन्ति स्म । सर्वत्र विलोकितमपि यदा न पश्यन्ति तदा ते सर्वेऽपि भृत्यादीन् पृच्छन्ति स्म । तैरप्युक्तम्-शपथपूर्वकं न जानीम: । तत: कोलाहलो जात: । सर्वे बुद्धदासादयो मिलिता: । तं कोलाहलं श्रुत्वा पद्मश्रिया भणितम् भवन्तो ज्ञानिन:, त्रिकालविषयं ज्ञानं भवतां स्फुरति । अतो भवद्भि: समस्तं वस्तु प्रदीपवत् प्रकटीक्रियते, पादत्राणस्य का वार्ता? अतो ज्ञानेन पश्यन्तु । तैरुक्तम्-एवं-विधं ज्ञानं नास्ति । पुन: पद्मश्रियाभाणि-भो पूज्या: भवद्भि: कोटिकं घटयितुं न ज्ञायते नन्द्या: सत्यंकार: कथं गृह्यते? इत्याभाणक: सत्यम् विधीयते । तैरुक्तम्-कथमिति । व्या कथितम्-स्वोदरस्थ-चरणत्राणं ज्ञातुं न समर्था: कथमुत्तमसमाधिमरण- प्राप्तस्वर्गस्य मम पितुस्त्र्यिग्गतिं जानन्ति भवन्त:? तदुल्लण्ठ वच: श्रुत्वा तै: सरोषमुक्तम्-रे वाचालि एवंविधमुल्लण्ठ-वचनं केन प्रमाणेन वदसि व्योक्तम् स्वबुद्ध्या । परं यूयं यतिवरा:, भवतां कोप: सर्वथा न युज्यते । क्रोधात्तपोभ्रंश: सुगति नाशश्च जायते । यदुक्तम्-

पद्मश्री के यह वचन सुन पद्मसंघ चुपचाप अपने घर चला गया । इस प्रकार समय व्यतीत होने पर कुछ समय बाद पद्मश्री के पिता वृषभदास सेठ ने अपनी मृत्यु का समय निकट जान चतुर्विध संघ की साक्षीपूर्वक समस्त जीवों से क्षमा माँगी, "मेरे पाप मिथ्या हों" यह कहकर अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म-इन चार की शरण को प्राप्त किया, पाप स्थानों का मन, वचन, काय से त्याग किया, आहार का त्याग किया और पञ्च-नमस्कार-मन्त्र का स्मरण करते हुए, प्राण त्याग कर स्वर्ग प्राप्त किया । इस दु:ख से पद्मश्री अत्यन्त दुखी हो गयी । श्वसुर पक्ष के लोग विधर्मी होने से तथा इसके अकेली रह जाने से उसका तिरस्कार करने लगे परन्तु वह दृढ़चित्त रही और उसने

जिनधर्म नहीं छोड़ा ।

एक समय अवसर पाकर बुद्धदास ने कहा कि-हे वधु! मेरे गुरु ने तुम्हारे पिता का जन्म कहा है-उन्होंने कहा है कि वृषभदास मरकर वन के मध्य हरिण हुआ है । यह वचन सुन मन में बहुत भारी क्रोध कर पद्मश्री ने मायापूर्ण वचन कहा कि-यदि आपके गुरु ऐसे ज्ञाता हैं तो मैं अवश्य ही बौद्धव्रत ग्रहण करती हूँ । पद्मश्री का इस प्रकार का वचन सुन बुद्धदास ने हर्षित होते हुए कहा कि-हे वधु! प्रात:काल पहले हमारे गुरुओं के लिए भोजन देओ पश्चात् बौद्धधर्म धारण करो ।

पद्मश्री ने बुद्धदास की बात स्वीकार कर ली । दूसरे दिन उसने बौद्ध साधुओं को भोजन के लिए निमन्त्रण दिया । वे सभी साधु हर्षित होकर आ गये । तदनन्तर उन सब साधुओं को अपने घर के भीतर बड़े आदर से आसनों पर बैठाया और सबकी पूजा की । इधर घर के बाहर रखे हुए उन साधुओं के बायें पैर का एक-एक जूता उसने चेटी के द्वारा गुप्तरूप से उठवा लिया और उनके सूक्ष्म टुकड़े कर उनका शाक बनाया तथा हींग आदि से बघार कर और भोजन के मध्य रखकर सब साधुओं को उनका भोजन करा दिया । भोजन के बाद पद्मश्री ने सबकी प्रशंसा की और कहा कि-मैं आज कृतार्थ हो गयी, मेरा जन्म सफल हो गया । गन्ध लेपन तथा पान आदि सब कुछ देकर उसने कहा कि-मैं प्रात:काल बौद्धधर्म ग्रहण करँगी । बौद्ध साधुओं ने "तथास्तु" कहकर स्वीकृति दी ।

उन सभी गुरुओं ने जब जाने लगे तब अपना बायें पैर का जूता नहीं देखा । सब जगह देखने पर भी जब उन्हें नहीं दिखा तब उन्होंने सेवकों आदि से पूछा । सेवकों ने भी कहा कि-हम लोग शपथपूर्वक कहते हैं कि हम आपके जूतों को नहीं जानते हैं । इससे कोलाहल हो गया और बुद्धदास आदि सभी लोग आ गये । उस कोलाहल को सुनकर पद्मश्री ने कहा कि-आप लोग तो ज्ञानी हैं, तीनों काल की बात को जानने वाला आपका ज्ञान देदीप्यमान है इसीलिए आप समस्त वस्तुओं को दीपक के समान प्रकट कर देते हैं फिर जूतों की बात ही क्या? अत: अपने ज्ञान से देखिये-जूते कहाँ हैं ? साधुओं ने कहा कि-ऐसा ज्ञान नहीं है । पद्मश्री ने पुन: कहा - हे पूज्य जनो! आप लोग, "कोड़ी

तो जुटा नहीं सकते हैं, नांदिया का बयाना कैसे लिया जाता है ।" इस कहावत को सिद्ध कर रहे हैं ।

साधुओं ने कहा - यह कैसे ? पद्मश्री ने कहा कि-आप लोग अपने पेट में स्थित जूतों को जानने के लिए तो समर्थ नहीं हैं फिर उत्तम समाधिमरण के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करने वाले हमारे पिता की तिर्यंच गति को कैसे जानते हैं ? पद्मश्री के व्यंग्यपूर्ण वचन सुनकर साधुओं ने रोष सहित कहा कि-रे बकनेवाली! इस प्रकार का उद्दण्डतापूर्ण वचन किस प्रमाण से कहती है । पद्मश्री ने कहा कि-अपनी बुद्धि से । परन्तु आप लोग उत्तम साधु हैं अत: आपको क्रोध करना उचित नहीं है, क्योंकि क्रोध के कारण मनुष्य तप से भ्रष्ट हो जाता है और

उसकी सुगति का नाश हो जाता है। जैसा कि कहा है-

क्रोध: परतापकर: सर्वस्योद्वेगकारक: क्रोध:।
वैरानुषङ्गजनक क्रोध: क्रोध: सुगति-हन्ता ॥397॥

क्रोध, दूसरों को संताप करने वाला है, क्रोध, सबको उद्वेग करने वाला है, क्रोध, वैर को उत्पन्न करने वाला है और क्रोध सुगति को नष्ट करने वाला है ॥397॥

तैरुक्तम्-रे पापिठे दुरात्मन्! पादत्राणं किमस्माकमुदरेऽस्ति? व्याभाणि एवमेव, अत्र संदेहो नास्ति। तैरभाणि-चेन्न भविष्यति तदा तव किं कार्यम्? व्योक्तम्-यद्भवतां चित्ते रोचते। बौद्धैर्निरूपितम्-मस्तकं मुण्डयित्वा गृहान्निष्कासनं करिष्याम:। व्या जल्पितम्-एवमस्तु। परं चेद्भविष्यति तदा भवद्भिर्जैनोधर्म: सर्वधर्मनायक: सुगति-दायकोऽङ्गीकरणीय:। तै: कथितम्-एवमेव। पश्चान्मदनफलप्रयोगेण सर्वे वामितास्व्या। तत: सूक्ष्मचर्मखण्डान् स्वस्ववान्तिमध्ये दृष्टा लज्जिता: सन् सरोषं च स्वस्थानं गतवन्त:। तदनन्तरं स्वकीय- समुदायं मेलयित्वा बुद्धदासमाकार्यं कथितं तै: गुरुभि:-रे पापिठ! तवोपदेशेनास्माभि र्भोजनं मानितम्। त्वया स्ववधू-पार्श्वाद् तदवाच्यं कर्मास्माकं कारयितम्। बुद्धदासेन विज्ञप्तम्-हे पूज्य! न मयैतत् कारयितं सर्वथैव। तैरुक्तम्-यद्येवं तर्हि स्वगृहान्निष्कासयेमां पद्मश्रियम्! अन्यथा तव सकलकुटुम्बस्य क्षयो भविष्यति तच्छ्रुत्वा सभ्रान्तेन बुद्धदासेन सर्वं गृहीत्वा पद्मश्रीर्निष्कासिता। तत्स्नेहेन बुद्धसंघोऽपि निर्गतस्व्या सार्धम्। तत: पद्मश्रिया बुद्धसंघं प्रत्युक्तम्-हे स्वामिन्! मम मातृगृहमावां गच्छाव:। तेनोक्तम्-भिक्षाटनंकरोमि परं श्वसुरगृहे न गच्छामि। अस्मिन्नगरे स्थितस्य मम मानभङ्गो भविष्यति। उक्तञ्च-

बौद्ध साधुओं ने कहा कि-अरी पापिन! दुरात्मन्! जूते क्या हम लोगों के पेट में हैं? उसने कहा कि-ऐसा ही है, इसमें संदेह नहीं है। साधुओं ने कहा कि-यदि नहीं होंगे तो क्या किया जायेगा? पद्मश्री ने कहा कि-जो आप लोगों के जी में रुचे। बौद्धों ने कहा कि-मस्तक मुड़ा कर घर से निकाल देंगे। उसने कहा - ऐसा हो, परन्तु यदि जूते पेट में होंगे तो आप लोगों को सब धर्मों में प्रमुख तथा सुगति को देने वाला जैनधर्म स्वीकृत करना होगा। उन्होंने कहा - ऐसा हो। पश्चात् मैनार का फल देकर उसने सबको वमन कराया। जिससे अपनी अपनी वान्ति के बीच चमड़े के सूक्ष्म खण्ड देखकर लज्जित होते हुए क्रोध सहित अपने स्थान पर चले गये।

तदनन्तर उन बौद्ध गुरुओं ने अपने समुदाय को इकठ्ठा कर तथा बुद्धदास को बुलाकर कहा कि-हे घोर पापी! तेरे उपदेश से हम लोगों ने भोजन का निमन्त्रण माना था परन्तु तूने अपनी वधू की ओर से हम लोगों का वह अवाच्य कार्य कराया। बुद्धदास ने कहा कि-हे पूज्य! यह कार्य मैंने बिलकुल ही नहीं कराया है। बौद्धगुरुओं ने कहा कि-यदि ऐसा है तो इस पद्मश्री को अपने घर से निकाल दो, अन्यथा तुम्हारे सब कुटुम्ब का नाश हो जायेगा। यह सुन घबड़ाये हुए बुद्धदास ने सब कुछ छीनकर पद्मश्री को घर से निकाल दिया। उसके स्नेह से बुद्धसंघ भी उसके साथ निकल गया।

तदनन्तर पद्मश्री ने बुद्धसंघ से कहा कि-हे स्वामिन्! हम दोनों हमारी माता के घर चलें। बुद्धसंघ ने कहा कि-भिक्षाटन कर लूँगा परन्तु श्वसुर के घर नहीं जाऊँगा। इस नगर में रहते हुए मेरा मानभंग होगा। क्योंकि कहा है

वरं प्राणपरित्यागो न तु मान-विखण्डनम्।
मृत्योश्च क्षणिकं दु:खं मानभङ्गाद्दिने दिने॥398॥
वसेन्मानाधिकं स्थानं मानहीनं विवर्जयेत्।
भग्नमानं सुरै: साकं विमानमपि वर्जयेत् ॥399॥

प्राण त्याग देना अच्छा है परन्तु मानभंग करना अच्छा नहीं है क्योंकि मृत्यु से तो क्षणभर के लिए दु:ख होता है परन्तु मानभंग से प्रतिदिन दु:ख होता है ॥398॥

जहाँ सम्मान हो उसी स्थान पर रहना चाहिए, मान रहित स्थान को छोड़ देना चाहिए। देवों के साथ मानरहित होकर विमान में भी बैठने को मिले तो उसे भी छोड़ देना चाहिए ॥399॥

बन्धुमध्ये धनहीनं जीवितं च न सतां रुचिकरम्। तथा चोक्तम्-

बन्धुओं के बीच धनहीन जीवन व्यतीत करना सत्पुरुषों के लिए अच्छा नहीं लगता। जैसा कि कहा है -

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयं पत्रफलादिभोजनम्।

तृणेषु शय्या तरुजीर्णवल्कलं न बन्धु मध्ये धनहीनजीवनम् ॥400॥
जो वन व्याघ्र और गजेन्द्रों से भरा हुआ है, जिसमें वृक्ष ही घर है, पत्र तथा फल आदि का भोजन प्राप्त होता है, घास फू स ही शय्या है और वृक्षों के जीर्णशीर्ण वल्कल ही वस्त्र होते हैं ऐसा वन अच्छा है परन्तु बन्धुओं के मध्य धनहीन जीवन बिताना अच्छा नहीं है ॥400॥
और भी कहा है -
किञ्च-
उत्तम मनुष्य वे हैं जो अपने गुणों से प्रसिद्ध होते हैं, मध्यम वे हैं जो पिता के गुणों से प्रसिद्धि पाते हैं, अधम वे हैं जो मामा के गुणों से प्रख्यात होते हैं और अधमाधम वे हैं जो श्वसुर के गुणों से प्रसिद्ध होते हैं ॥401॥
इति विमृश्य व्या साकं देशान्तरं चलितो बुद्धसंघ: । ग्रामाद् बहि: सार्थवाहोऽस्य मिलित: । सार्थवाहोऽपि पद्मश्रीरूपं दृष्ट्वा रागान्धो जात: । तत: सार्थवाहेन स्वकार्याय बुद्धसंघस्य मानं दत्तं भोजनार्थं निमन्त्रितश्च । ततो बुद्धसंघ: सार्थवाह-प्रार्थितस्तदुत्तारके स्थित: । सार्थवाहेन वक्षारद्वयसहितायां पिठरिकायामन्नं कारयितम्-एकस्मिन् विषमिश्रितं द्वितीये शुद्धं च । ततो बुद्धसंघस्याकारणं प्रह्वितम् । अथ सार्थवाहबुद्धसंघावेकस्मिन् भाजने भोजनार्थमुपविष्टौ । संकेतितपुरुषेण पृथक्-पृथक् अन्नं परिवेषितम् । तदन्नं पृथग्भूतं दृष्ट्वा शङ्का प्रपन्नेन बुद्धसंघेनैकीकृतम् परस्परेण विषान्नं भुक्त्वा मूर्च्छां गतौ । यदुक्तम्-
ऐसा विचार कर बुद्धसंघ पद्मश्री के साथ दूसरे देश को चल पड़ा । गाँव के बाहर उसे एक बंजारा सेठ मिल गया । वह बंजारा भी पद्मश्री का रूप देखकर राग से अन्धा हो गया । तदनन्तर बंजारे सेठ ने अपना कार्य बनाने के लिए बुद्धसंघ को बहुत सम्मान दिया और भोजन के लिए निमन्त्रित किया ।
पश्चात् बुद्धसंघ सेठ की प्रार्थना से उसके उतरने के स्थान पर जा बैठा । सेठ ने दो खण्ड वाली हण्डी में भोजन बनवाया । एक खण्ड में विषमिश्रित और दूसरे में विषरहित । जब भोजन तैयार हो गया तब सेठ ने बुद्धसंघ को बुलावा भेजा । तदनन्तर सेठ और बुद्धसंघ एक ही बर्तन में भोजन करने के लिए बैठे । जिसे पहले से ही संकेत कर दिया था ऐसे पुरुष ने बर्तन में पृथक्-पृथक् अन्न परोसा ।
उस अन्न को पृथक् -पृथक् देख बुद्धसंघ को शंका हो गयी इसलिए उसने दोनों अन्नों को इकठ्ठा कर मिला दिया । जिससे परस्पर का विष मिश्रित अन्न खाकर वे दोनों मूर्छा को प्राप्त हो गये । जैसा कि कहा है-
अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खल: परव्यसनहृष्ट: ।
प्राय: सहस्रनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्ध:॥402॥
दूसरे के कष्ट से हर्षित होने वाला दुष्ट मनुष्य, अपने मरण को भी नहीं गिनता है । सिररहित धड़, युद्ध स्थल में हजारों योद्धाओं का नाश होने पर भी प्राय: नाचता रहता है ॥402॥
निजस्वामिशोकं कुर्वन्त्या पद्मश्रिया कथमपि विभावरी निर्गमिता । प्रभाते बुद्धदासेन स्वपुत्रमूर्च्छनं लोकमुखाच्छ्रुत्वा महाशोकपरेण तत्रागत्य भणितम्-हे शाकिनि त्वया मम पुत्रो भक्षित: । एष सार्थवाहश्च । किं बहुनोक्तेन? मम पुत्रमुत्थापय, एवं सार्थवाहञ्च, अन्यथा तव निग्रहं करिष्यामीत्येवं निरूप्य तस्या: पादमूले पुत्रं संस्थाप्य रोदनं कुर्वन् स्थित: ।
पद्मश्रिया चिन्तितम्-अहो, मम य: कर्मोदय: समायात: स केन वार्यते? । एवं निश्चित्य कृताञ्जलि र्भूत्वा सा भणति स्म-यदि मम मनसि जिनधर्म-निश्चयोऽस्ति, यद्यहं पतिव्रता भवामि, यदा मया रात्रिभोजनादिकंत्यक्तं भवति तर्हि भो शासनदेवते मम भत्र्ता जीवतु! एष सार्थवाहोऽपि जीवतु । तत: शासनदेवव्या तस्या व्रतमाहात्म्येन सर्वेऽपि जीवन्त: कृता: । ततस्तद् दृष्ट्वा समस्त नगर-
जनैराबालगोपालादिभि: प्रशंसिता । अहो धन्येयं, ईदृग्विधे रूपे वयसि च सत्यपि साधुत्वं धर्मज्ञता च, तदाश्चर्यम् । उक्तञ्च-
अपने स्वामी का शोक करती हुई पद्मश्री ने किसी तरह रात्रि व्यतीत की । प्रात:काल बुद्धदास ने लोगों के मुख से अपने पुत्र के मूर्छित होने का समाचार सुना तो वह बहुत भारी शोक करता हुआ वहाँ आकर बोला कि अरी डायन! तूने मेरा पुत्र खा लिया और इस सेठ को भी । बहुत कहने से क्या प्रयोजन है ? तू मेरे पुत्र को खड़ा कर और इस सेठ को अन्यथा तेरा निग्रह करँगा-ऐसा कहकर वह उसके पादमूल में पुत्र को रखकर रोता हुआ बैठ गया । पद्मश्री ने विचार किया कि अहो! मेरा जो कर्मोदय आया है वह किसके द्वारा रोका जा सकता है ? ऐसा निश्चय कर उसने हाथ जोड़कर कहा कि-यदि मेरे मन में जिनधर्म का निश्चय है, यदि मैं पतिव्रता हूँ और यदि मैंने रात्रिभोजनादिक का त्याग किया है तो हे शासनदेवता! मेरा पति जीवित हो जाये और यह सेठ भी । तदनन्तर शासनदेवी ने उसके व्रत के माहात्म्य से सभी को

जीवित कर दिया । पश्चात् यह देख नगर के समस्त आबाल गोपाल लोगों ने पद्मश्री की प्रशंसा की । अहो, यह धन्य है कि जो ऐसा रूप और ऐसी अवस्था के रहते हुए भी इसमें साधुता और धर्मज्ञता विद्यमान है । यह बड़ा आश्चर्य है । क्योंकि कहा है -

किं चित्रं यदि राजनीतिनिपुणो राजा भवेद्धार्मिक:

किं चित्रं यदि वेदशास्त्रनिपुणो विप्रो भवेत् पण्डित: ।

तच्चित्रं यदि रूप-यौवनवती साध्वी भवेत्कामिनी

तच्चित्रं यदि निर्धनोऽपि पुरुष: पापं न कुर्यात् क्वचित् ॥403॥

यदि राजा, राजनीति में निपुण और धर्मात्मा है तो क्या आश्चर्य की बात है और यदि ब्राह्मण, वेदशास्त्र में निपुण तथा पण्डित है तो इसमें भी क्या आश्चर्य है किन्तु रूप और तारुण्य से युक्त स्त्री यदि साध्वी है तो आश्चर्य है । इसी प्रकार निर्धन मनुष्य यदि पाप नहीं करता है तो आश्चर्य है ॥403॥

एतदाश्चर्यं दृष्ट्वा पूजिता लोकैरपि । देवैश्च पञ्चाश्चर्यं दृष्ट्वा पूजिता पद्मश्री: । तत्प्रभावविलोकनाय राजापि सपौरजन: समायात: । महामहसा बुद्धदासेन पद्मश्री: स्वपुत्रेण सममानीता नगरमध्ये । तत्प्रत्यक्षधर्मफलं दृष्ट्वा बुद्धदासकुटुम्बं जिनधर्मानुरक्तं जातम् । एतत्सर्वं प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा च वैराग्यपर:सन् धाड़िवाहनो राजा वदति-अहो, जिनधर्म विहायान्यत्र सर्वेष्टं लभ्यते । अतएवासौ स्वीकर्त्तव्य: । तत: स्वपुत्रं नयविक्रमं राज्ये संस्थाप्य धाड़िवाहनेन राज्ञान्यैश्च बहुभिर्जनैर्यशोधर-मुनिपार्श्वे तपो गृहीतम् । बुद्धदासबुद्धसंघादयश्च श्रावका जाता: । केचन भद्रपरिणामिनो जाता: । बौद्धयव्यो जैना बभूवु: । राज्ञी पद्मावती, बुद्धदासी, वृषभदासभार्यापद्मावतीपद्मश्रीप्रभृत्यश्च सरस्वत्यार्यिकासमीपे तपो जगृहु ।

पद्मलव्योक्तम्-हे स्वामिन्! एतत् सर्वं मया प्रत्यक्षेण दृष्टमतो मम दृढतरं सम्यक्त्वं जातम् । एतच्छ्रुत्वार्हद्दासेन श्रेष्ठिनोक्तम्-भो भार्ये! यत्त्वया दृष्टं तदहं श्रद्दधामि, इच्छामि, रोचे, अन्याभिश्च तथैव भणितम्! कुन्दलतां प्रत्यपि श्रेष्ठिना भणितम्-हे कुन्दलते । त्वमपि निश्चल चित्ता सती नृत्यादिकं कुरु । तत: कुन्दलव्योक्तम्-सर्वमेतदसत्यम् । अतो नाहं श्रद्दधामि, नेच्छामि, न रोचे । एतत्सर्वमपि निशम्य राज्ञा मन्त्रिणा चौरेण च स्वस्वमनसि भणितम्-अहो, पद्मलव्या यत् प्रत्यक्षेण दृष्टं तदसत्यमिति कथमियं पापिठा कुन्दलता निरूपयति । प्रभातसमये गर्दभे चाटयित्वास्या निग्रहं करियामो वयम् । पुनरपि चौरेण स्वमनसि भणितम्-अहो, दुष्टस्वभावोऽयम् । तथा चोक्तम्-

यह आश्चर्य देख लोगों ने पद्मश्री की पूजा की । देवों ने भी पञ्चाश्चर्य कर उसका सम्मान किया । उसका प्रभाव देखने के लिए राजा भी नगरवासियों के साथ आ गया । बुद्धदास, बड़े उत्साहपूर्वक बुद्धसंघ के साथ पद्मश्री को नगर के मध्य ले आया । धर्म के उस प्रत्यक्ष फल को देखकर बुद्धदास का कुटुम्ब जैनधर्म में अनुरक्त हो गया । यह सब प्रत्यक्ष रूप से देख सुनकर राजा धाड़िवाहन वैराग्य में तत्पर होता हुआ कहने लगा कि अहो! जिनधर्म को छोड़ कर अन्य धर्मों से समस्त इष्ट की प्राप्ति नहीं होती है । इसलिए इसे स्वीकृत करना चाहिए । तदनन्तर अपने पुत्र नयविक्रम को राज्य पर स्थापित कर धाड़िवाहन राजा ने अन्य अनेक जनों के साथ यशोधर मुनि के पास तप ग्रहण कर लिया । बुद्धदास और बुद्धसंघ आदि भी श्रावक हो गये । कितने लोग भद्र परिणामी हो गये । बौद्धसाधु जैन बन गये । रानी पद्मावती, बुद्धदासी, वृषभदास सेठ की स्त्री पद्मावती तथा पद्मश्री आदि ने सरस्वती आर्यिका के समीप तप ग्रहण कर लिया ।

पद्मलता ने कहा कि-हे स्वामिन्! यह सब मैंने प्रत्यक्ष रूप से देखा है इसलिए सुदृढ़ सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है ।

यह सुनकर अर्हद्दास सेठ ने कहा कि-हे प्रिये! तुमने जो देखा है उसकी मैं श्रद्धा करता हूँ, उसे चाहता हूँ और उसकी रुचि करता हूँ । अन्य स्त्रियों ने भी ऐसा ही कहा ।

कुन्दलता के प्रति भी सेठ ने कहा कि-हे कुन्दलते! तुम भी निश्चल चित होकर नृत्यादि करो ।

पश्चात् कुन्दलता ने कहा कि-वह सब असत्य है इसलिए न मैं श्रद्धा करती हूँ और न इसकी रुचि करती हूँ ।

यह सब कुछ सुनकर राजा, मन्त्री और चोर ने अपने मन में कहा कि-अहो! पद्मलता ने जो प्रत्यक्ष देखा है उसे यह पापिनी कुन्दलता असत्य कहती है । प्रात:काल गधे पर चढ़ाकर हम लोग इसका निग्रह करेंगे ।

चोर ने अपने मन में फिर भी कहा कि-अहो! दुष्ट का यह स्वभाव ही है । जैसा कि कहा है -

युक्तसङ्गमवेक्ष्य दुर्जन: कुप्यति स्वयमकारणं परम् ।

चन्द्रिकां नभसि वीक्ष्य निर्मलां क: परो भषति मण्डलाद् विना ॥404॥

दुर्जन मनुष्य, योग्य संगम को देखकर स्वयं बिना कारण दूसरे के प्रति क्रोध करता है सो ठीक ही है क्योंकि आकाश में निर्मल चाँदनी को देखकर कुत्ते को छोड़ दूसरा कौन भौंकता है ? ॥404॥

॥ इति षठ कथा॥

॥इस प्रकार छठवीं कथा पूर्ण हुई॥

## सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली कनकलता की कथा

सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली कनकलता की कथा

कथा :

सम्यक्त्व प्राप्त कनकलता कथा

पुनरप्यर्हद्दासश्रेठी कनकलतां प्रति भणति-भो प्रिये! ममाग्रे त्वमपि निजसम्यक्त्वं प्रापणकारणं कथय । कथयति-

अवन्तिविषये उज्जयिनीनगरे राजा नरपाल: । राज्ञी मनोवेगा । मन्त्री बुद्धिसागर: । भार्या सोमा । राजश्रेठी समुद्रदत्त: । भार्या सागरदत्ता । पुत्र उमय: । पुत्री जिनदत्ता । कौशाम्बीनगरे वास्तव्याय जिनदत्तपरमश्रावकाय सा जिनदत्ता विवाहयितुं दत्ता । स उमयो मोहकर्मणा सप्तव्यसनाभिभूतो जात: । पिता-मातृभ्यां निवारितोऽपि दुर्व्यसनं न र्मुति । ताभ्यामभाणि-उपार्जितं को लङ्घयति? प्रतिदिनं नगरमध्ये चौरव्यापारं करोति, द्यूतादिकं व्यसनजातं सेवते च स उमय: । परद्रव्यापहारं कुर्वाणमुमयं रात्रौ यमदण्डतलवरेण दृष्ट्वा श्रेष्ठिप्रतिपन्नेन बहुवारान्मोचितो न मारत: । यमदण्डेन भणितम्-अहो एकादरोत्पन्ना अपि न सर्वे सदृशा भवन्ति । जिनदत्ता साध्वी जाता । असौ महापापोयान् जात: । तथाच-

पश्चात् अर्हद्दास सेठ कनकलता से कहता है कि हे प्रिये! तुम भी मेरे आगे अपने सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण कहो-वह कहती है-

अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी में राजा नरपाल रहता था, उसकी स्त्री का नाम मनोवेगा था । मन्त्री का नाम बुद्धिसागर, उसकी स्त्री का नाम सोमा था । राजश्रेठी का नाम समुद्रदत्त था, उसकी स्त्री का नाम सागरदत्ता था, पुत्र का नाम उमय और पुत्री का नाम जिनदत्ता था । जिनदत्ता, कौशाम्बी नगर में रहने वाले जिनदत्त नामक परम श्रावक को विवाहने के लिए दी गयी थी । वह उमय मोहकर्म के उदय से सप्त व्यसनों से आक्रान्त हो गया था । माता-पिता के द्वारा रोके जाने पर भी वह दुर्व्यसन को नहीं छोड़ता था । माता पिता ने कहा कि- उपार्जित किये को कौन लाँघ सकता है ? वह उमय प्रतिदिन नगर के बीच चोरी करता और जुआ आदि व्यसनों का सेवन करता था । परद्रव्य का अपहरण करते हुए उमय को रात में यमदण्ड कोतवाल ने देख लिया परन्तु सेठ के आदर से उसे बहुत बार छोड़ दिया, मारा नहीं । यमदण्ड ने कहा - अहो! एक उदर से उत्पन्न हुए सभी समान नहीं होते । जिनदत्ता साध्वी हुई परन्तु यह उमय महापापी हुआ । जैसा कि कहा है -

वल्लीजाता: सदृशकटुकास्तुम्बिकास्तुम्बिनीनां
शब्दायन्ते सरसमधुरं शुद्धवंशे विनीता: ।
अन्यैमूढैर्वपुषि निहिता दुस्तरं तारयन्ति
तेषां मध्ये ज्वलित-हृदयं शोणितं संपिबन्ति ॥405॥

तूमड़ी की लता में एक सदृश बहुत से कड़ुवे तूमे उत्पन्न होते हैं, शुद्ध बाँस पर लटके हुए वे तूमे सरस और मधुर शब्द करते हैं । उनमें कुछ तूमे तो ऐसे होते हैं जो अन्य अज्ञानी जनों के द्वारा अपने शरीर पर बाँध लेने से उन्हें दुस्तर नदी आदि से पार कर देते हैं और उन्हीं तूमों में कुछ ऐसे होते हैं जो अज्ञानवश खाने में आने पर हृदय को जलाते हुए रुधिर को पी जाते हैं **अर्थ**ात् खाने वाले को मार डालते हैं ।
(भावार्थ – कड़ुवे तूमे लता में लगे लगे जब सूख जाते हैं तब बाँस पर लटकते हुए मश्रशुर शब्द करते हैं । उन तूमों में कुछ तूमे ऐसे होते हैं कि वे शरीर पर बाँध लिए जावें तो उनके प्रभाव से लोग गहरी नदियों को भी पार कर लेते हैं और कोई ऐसे होते हैं कि अज्ञानवश यदि खाने में आ जावें तो वे विष की तरह खाने वाले को मार डालते हैं । इसी प्रकार एक ही माता से उत्पन्न हुए बालकों में कोई परोपकारी होते हैं और कोई दुर्व्यसनों में आसक्त होकर दूसरों को दुखदायक होते हैं) ॥405॥

एकदा यमदण्डेन तलवरेण राज्ञो हस्ते उमयं दत्त्वा भणितम्-देव राजश्रेष्ठिसमुद्रदत्तस्य पुत्रोऽयमुमय नामेति । सहस्रधा निवार्यमाणोऽपि तस्करव्यापारं न त्यजति । अधुना देवस्य मनसि यद्विद्यते तत् करोतु । राज्ञोक्तम्-समुद्रदत्तस्यैकदेशगुणोऽप्यस्मिन् न दृश्यते तत्कथं तस्य

पुत्रो भवतीति ज्ञायते । ततः समुद्रदत्तमाकार्य भणितं राज्ञा-भो समुद्रदत्त एनं दुष्टं स्वगृहान्निष्कासय । नोचेदनेन सह तवाप्यभिमानहानिर्भविष्यति । तथा चोक्तम्-

एक समय यमदण्ड कोतवाल ने उमय को राजा के हाथ में देकर कहा कि-हे राजन्! यह राजसेठ समुद्रदत्त का उमय नामक पुत्र है । हजारों बार रोके जाने पर भी चोरी नहीं छोड़ता है । अब आपके मन में जो हो वह कीजिये । राजा ने कहा कि-इसमें समुद्रदत्त का एक भी गुण दिखायी नहीं देता अत: उसका पुत्र है यह कैसे जाना जाये । तदनन्तर समुद्रदत्त को बुलाकर राजा ने कहा कि-हे समुद्रदत्त! इस दुष्ट को अपने घर से निकाल दो अन्यथा इसके साथ तुम्हारी भी प्रतिष्ठा की हानि होगी । क्योंकि कहा है-

दुर्जनजनसंसर्गे साधु-जनस्यापि दोषमायाति ।
दशमुखकृतापराधे जलनिधिरपिबन्धनं प्राप्तः ॥406॥

दुर्जन मनुष्य की संगति से सज्जन मनुष्य को भी दोष लगता है-आपत्ति भोगनी पड़ती है क्योंकि रावण ने तो अपराध किया था, परन्तु समुद्र बन्धन को प्राप्त हुआ था ॥406॥

सर्वथानिष्टनैकट्यं विपदे व्रतशालिनाम् ।
वारिहारघटीपार्श्वे ताड्यते पश्य झल्लरी ॥407॥

इस प्रकार से अनिष्ट मनुष्य की निकटता व्रती मनुष्यों को विपत्ति के लिए होती है क्योंकि देखो जलघड़ी के पास रहने से झालर ताड़ित होती है ॥407॥

तच्छ्रुत्वा गृहं गतः सन् समुद्रदत्तः स्वभार्यां प्रति भणति-भो भार्ये! असौ झटिति निर्घाटनीयोऽन्यथा विरूपकं भवितुमर्हति । तथा चोक्तम्-

राजा के वचन सुन, घर जाकर समुद्रदत्त अपनी स्त्री से कहता है कि हे प्रिये! इसे शीघ्र ही निकाल देना चाहिए अन्यथा बहुत बुरा हो सकता है । जैसा कि कहा है -

उत्कोचं प्रीतिदानं च द्यूतद्रव्यं सुभाषितम् ।
चौरस्यार्थं विभागं च सद्यो जानाति पण्डितः॥408॥

रिश्वत देना, प्रेम करना, जुआ का धन, सुभाषित और चोर के धन का बएटवारा इन्हें पण्डितजन शीघ्र ही जान लेते हैं ॥408॥

उक्तञ्च-

और भी कहा है -

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे ह्यात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥409॥

कुल की भलाई के लिए एक को छोड़ देना चाहिए, ग्राम की भलाई के लिए कुल को छोड़ देना चाहिए, देश की भलाई के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए और अपनी भलाई के लिए पृथ्वी को छोड़ देना चाहिए ॥409॥

बहुभिर्न विरोद्धव्यं दुर्जयो हि महाजनः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥410॥

बहुत लोगों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि बहुत जनों का जीतना कठिन होता है क्योंकि छटपटाते हुए भी हाथी को चींटियाँ खा जाती हैं ॥410॥

ततो निजगृहान्निर्घाटित उमयःसमुद्रदत्तेन । ततो माता दुःखिनी भूत्वा भणति-बलवती भवितव्यता । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर समुद्रदत्त ने उमय को घर से निकाल दिया । माँ ने दुखी होकर कहा कि-भवितव्यता बलवान होती है । जैसा कि कहा है-

जलनिधि परतटशतमपि करतलमायाति यस्य भवितव्यम् ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य च भवितव्यता नास्ति ॥411॥

जिसकी भवितव्यता अच्छी है उसके हाथ में समुद्र के तट पर स्थित वस्तु भी आ जाती है और जिसकी भवितव्यता अच्छी नहीं है उसके हाथ में आयी हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है ॥411॥

ततो निर्गत्य सार्थवाहेन सहोमयः स्वभगिनीसमीपे कौशाम्बी-नगरीं गतः । जिनदत्तया स्वबन्धुमवलोक्य विरूपकां वार्तां च श्रुत्वा मन्दादरः

कृत: । तथा चोक्तम्-

पश्चात् घर से निकल कर उमय, एक बनिजारे के साथ अपनी बहिन के पास कौशाम्बी नगरी गया परन्तु जिनदत्ता ने अपने भाई को देखकर तथा उसकी विरुद्ध वार्ता को सुनकर उसका पूर्ण आदर नहीं किया । जैसा कि कहा है -

वार्ता च कौतुकवती विशदा च विद्या, लोकोत्तर: परिमलश्च कुरङ्गनाभे: ।

तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-मेतत्त्रयं प्रसरतीति किमत्र चित्रम् ॥412॥

कौतुक से युक्त समाचार, निर्मल विद्या और कस्तूरी की सर्वश्रेठ सुगन्ध-ये तीनों पानी में पड़ी हुई तैल की बूँद के समान दुर्निवार रूप से फैल जाती है । इसमें क्या आश्चर्य है ॥412॥

उमयेन चिन्तितम्-मन्दभाग्योऽहम् । ममात्राप्यापन्न त्यजति । तथा चोक्तम्-

उमय ने विचार किया कि मैं मन्दभाग्य हूँ । यहाँ भी आपत्ति मुझे नहीं छोड़ रही है । जैसा कि कहा है -

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणै: संतापितो मस्तके

छायार्थं समुपैति सत्वरमसौ बिल्वस्य मूलं गत: ।

तत्रौच्चैर्महता फलेन पतता भग्नं सशब्दं शिर:

प्रायो गच्छति यत्र भाग्य-रहितस्तत्रापदामास्पदम् ॥413॥

एक गंजे सिर वाला मनुष्य सूर्य की किरणों से मस्तक पर संतप्त होता हुआ छाया के लिए शीघ्र ही बिल्ववृक्ष के नीचे गया परन्तु वहाँ ऊँचे से पड़ते हुए बहुत बड़े फल से उसका सिर शब्द के साथ फूट गया । ठीक ही है क्योंकि भाग्य रहित मनुष्य जहाँ जाता है प्राय: वही विपत्तियों का स्थान होता है ॥413॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

कैवर्त-कर्कश-करग्रहणच्युतोऽपि

जाले पुनर्निपतित: शफरो वराक: ।

जालात्ततो विगलितो गिलितो वकेन

वामे विधौ वत कुतो व्यसनान्निवृत्ति: ॥414॥

एक बेचारी मछली धीवर के कठोर हाथों की पकड़ से छूटी भी तो जाल में जा पड़ी और जाल से निकली तो बगुले के द्वारा निगल ली गयी । ठीक ही है क्योंकि भाग्य के विपरीत होने पर दु:ख से छुटकारा कैसे हो सकता है? ॥414॥

पुनरपि विषादापन्नेनोमयेन चिन्तितम्-अहो । कष्टं खलु पराश्रय: । तथा चोक्तम्-

फिर भी खेद करते हुए उमय ने विचार किया कि अहो! दूसरों का आश्रय लेना निश्चित ही कष्ट करने वाला है- जैसा कि कहा है -

उडुगण-परिवारो नायकोऽप्योषधीना-

ममृतमयशरीर: कान्ति-युक्तोऽपि चन्द्र: ।

भवति विगतरश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानो:-

परसदन-निविष्ट: को न धत्ते लघुत्वम् ॥415॥

नक्षत्र समूह जिसका परिवार है, जो औषधियों का राजा है, जिसका शरीर अमृतमय है और जो कान्ति से युक्त है ऐसा चन्द्रमा भी सूर्यबिम्ब को प्राप्त कर किरण रहित हो जाता है । ठीक ही है क्योंकि दूसरे के घर रहने वाला कौन-सा मनुष्य लघुता-अनादर को प्राप्त नहीं होता है ॥415॥

इत्येवं विचिन्त्य व्याघुट्य नगरान्त: परिभ्रमणं कुर्वन् जिनालयं गत: । तत्र श्रुतसागर-मुनिं प्रणम्योपविष्ट: । स च मुनीश्वर: करुणाकूपारायमाणचेता उमयाग्रे धर्मदेशनां चक्रे- अष्टादशदोषवर्जितो जिनो देव:, निग्रन्थो गुरु:, अहिंसालक्षणो धर्म:, एतेषां श्रद्धानं सम्यक्त्वम् । यदुक्तम्-

ऐसा विचार कर उमय लौटकर नगर के भीतर भ्रमण करता हुआ जिनमन्दिर गया । वहाँ श्रुतसागर मुनि को प्रणाम कर बैठ गया । जिनका

चित्त दया के समुद्र के समान आचरण कर रहा था, ऐसे मुनिराज उमय के आगे धर्म का उपदेश करने लगे । अठारह दोषों से रहित जिनेन्द्रदेव निर्ग्रंथ गुरु और अहिंसा लक्षण धर्म, इनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । जैसा कि कहा है -

हिंसारहिए धम्मे अठ्ठारहदोस-विवज्जिए देवे ।

णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥416॥

हिंसा से रहित धर्म, अठारह दोषों से रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र में श्रद्धान होना सम्यक्त्व है ॥416॥

तच्च सम्यक्त्वम्, औपशमिकं क्षायिकं क्षायोपशमिर्कं भवति षड्द्रव्याणि, पञ्चास्तिकाया:, पञ्च ज्ञानानि, सप्त तत्त्वानि, एतेषां य: श्रद्धानं करोति, अनुचरति च तस्य सम्यक्त्वं विद्यते । यत:-

वह सम्यक्त्व औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का होता है । छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, पञ्च ज्ञान और सात तत्त्व-इनका जो श्रद्धान करता है और अनुचरण करता है उसके सम्यक्त्व होता है । क्योंकि कहा है-

नास्त्यर्हत: परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना ।

तप: परं न नैग्रन्थ्यादेतत् सम्यक्त्वलक्षणम् ॥417॥

अरहन्त से बढ़कर देव नहीं है, दया के बिना धर्म नहीं है और निग्रन्थता से बढ़कर तप नहीं है । यही सम्यक्त्व का लक्षण है ॥417॥

संवेगादिगुणयुक्तं च भवति सम्यक्त्वम् । तथा चोक्तम्-

वह सम्यक्त्व संवेगादि गुणों से युक्त होता है । जैसा कि कहा है-

संवेऊ णिव्वेऊ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।

वच्छल्लं अणुकंपा अठ्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥418॥

संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा, सम्यक्त्व के ये आठ गुण हैं ॥418॥

स्थैर्यं प्रभावना शक्ति: कौशलं जिनशासने ।

तीर्थसेवा च पञ्चास्य भूषणानि प्रचक्षते ॥419॥

स्थिरता, प्रभावना, शक्ति, जिनशासन में कुशलता और तीर्थ सेवा; इन पाँच को सम्यक्त्व के आभूषण कहते हैं ॥419॥

इति दर्शनयुक्तस्याष्टमूलगुणपरिपालनं युक्तम् । ते हि श्रावकधर्मस्य प्रथमा: प्रथानभूता व्रतसारा: । तथाहि-

जो इस सम्यग्दर्शन से युक्त है उसे आठ मूलगुणों का पालन करना उचित है, क्योंकि वे श्रावक धर्म के मूलभूत प्रधान श्रेठ व्रत हैं । जैसा कि कहा गया है -

मद्य-मांस-मधुत्यागा: पञ्चोदुम्बर-वर्जनम् ।

अष्टौ मूलगुणा: प्रोक्ता गृहिणां श्रमणोत्तमै: ॥420॥

मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग और पाँच उदुंबर फलों का त्याग करना मुनियों ने इन्हें श्रावकों के आठ मूलगुण कहा है ॥420॥

तथा दर्शनप्रतिमायुक्तेन पुरुषेण सप्त व्यसनानि नित्यं घोराणि वर्जनीयानि घोरं नरकं नयन्ति । तथा चोक्तम्-

इनके सिवाय दर्शनप्रतिमा से सहित पुरुष को निरन्तर भयंकर नरक में ले जाने वाले निन्दनीय सप्त व्यसनों का त्याग करना चाहिए । जैसा कि कहा है -

द्यूतं मांसं सुरा वेश्याखेटचौर्यं पराङ्गना ।

महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुध: ॥421॥

जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन ये ही सात महापाप व्यसन कहलाते हैं । ज्ञानी जीवों को इनका त्याग करना चाहिए ॥421॥

सप्तैव हि नरकाणि तैरेकैकं निरूपितम् ।

आकर्षयन् नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये ॥422॥

व्यसन सात हैं और नरक भी सात हैं इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि ये व्यसन अपनी समृद्धि के लिए मनुष्यों को एक-एक नरक की ओर खींचने वाले हैं ॥422॥

धर्मशत्रोर्विनाशार्थं पापाख्य-कुपतेरिह ।
सप्ताङ्गं बलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥423॥

धर्मरूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए पाप नामक राजा ने सप्त व्यसनों के द्वारा अपने सप्तांग राज्य को बलवान किया ॥423॥

तथा दर्शनयुक्तेन पुरुषेण वस्त्रपूतं पय: पेयम् । प्रतिघटिका-द्वयान्तरे वस्त्रपूतत्वं जलस्य करणीयम् । यत: सर्वसम्मूर्च्छनाया: सकाशात् जले शीघ्रं सम्मूर्च्छनं भवति । तेन चाल्पकाले जलसंपर्कात् सर्ववस्तूनां त्रसस्य सम्मूर्च्छनं प्रत्यक्षं दृश्यन्ते । अत: सर्वदैव घटिकाद्वयान्तरे गते सति जलं वस्त्रपूतं कृत्वा पिबेदिति । अन्यथा करणे तस्य पुरुषस्य दयालक्षणो धर्म:, अष्टमूलगुणाश्च, एषां परित्याग एव । एतत्सर्वं तस्य निरर्थकम् । तस्यागालने व्रतनियम संयम करणं दानं च सप्तव्यसन परित्यागश्च, एतत्सर्वं तस्य निरर्थकम् । तस्माद् वस्त्रपूत जलं पेयमिति स्थितम् । तथा दर्शनयुक्तेन पुरुषेण भोजने पाने च क्रियमाणे रुधिरामिषमद्यकूररशब्दादिश्रवणान्तरायं मन:- संकल्प-जननं परिपालनीयम् । अन्तराये संजाते सति भोजनं पानं च तदैव परिहरणीयम् । यदुक्तम्-

तथा सम्यग्दर्शन से युक्त-दर्शन प्रतिमा के धारक पुरुष को छना हुआ जल पीना चाहिए । प्रत्येक दो घड़ी के भीतर जल छानना चाहिए क्योंकि समस्त जीवों की उत्पत्ति का कारण होने से जल में सम्मूर्च्छन जीव जल्दी उत्पन्न होते हैं । यही कारण है कि जल के साथ सम्पर्क होने से अल्पकाल में ही सभी वस्तुओं में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है इसलिए सदा ही दो घड़ी निकल जाने पर जल को छानकर पीना चाहिए । अन्यथा प्रवृत्ति करने से उस पुरुष के दया लक्षण वाला धर्म और आठ मूलगुण इनका परित्याग ही समझना चाहिए । जल के छाने बिना उसके इन सबका करना निरर्थक है । तात्पर्य यह है कि जो जल छानकर नहीं पीता है उसके व्रत- नियम तथा संयम का करना और सप्त व्यसनों का त्याग करना यह सब निरर्थक होता है इसलिए वस्त्र से पवित्र **अर्थ**ात् वस्त्र से छना हुआ जल पीना चाहिए, यह सिद्ध्व होता है । दर्शन प्रतिमा के धारक पुरुष को भोजन पान ग्रहण करते समय रक्त, मांस, मदिरा तथा क्रूर शब्द आदि सुनने का अन्तराय पालना चाहिए क्योंकि ये शब्द मन में उनका संकल्प उत्पन्न करने वाले हैं । अन्तराय होने पर भोजन और पानी उसी समय छोड़ देना चाहिए । जैसा कि कहा है -

मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत् ।
मृताङ्गिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यानान्नसेवनात् ॥424॥

मांस, रक्त, गीला चमड़ा, हड्डी और पीप के देखने से, मृत प्राणी के देखने से तथा छोड़ा हुआ अन्न ग्रहण में आ जाने से भोजन का त्याग करना चाहिए ॥424॥

तथा व्यसनासक्तपुरुषै: सहैकासनशयनभोजनसंभाषणानि य: करोति तस्य दर्शनप्रतिमा निर्मला न भवति । यदुक्तम्-

तथा व्यसनों में आसक्त पुरुषों के साथ एक आसन पर बैठना, सोना, भोजन तथा संभाषण को जो करता है उसकी दर्शन प्रतिमा निर्मल- निर्दोष नहीं होती है । जैसा कि कहा है -

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथश्च्युतानां
मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च ।
सङ्गं विर्मुत बुधा: कुरुतोत्तमानां
गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्गं एव ॥425॥

हे विद्वज्जनो! यदि उत्कृष्ट मार्ग पर ही चलने की इच्छा है तो मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दर्शन से रहित, मार्ग से च्युत, मायावी, व्यसनी और दुष्टजनों का संग छोड़ो तथा उत्तम जनों का संग करो ॥425॥

इति ज्ञात्वा जिनमतं मनसि धृत्वा क्रोध-मानमाया-लोभाख्यान् चतुर: कषायान् हत्वा ये दृढं सम्यक्त्वं धारयन्ति ते दर्शनप्रतिमा धारका: श्रावका: कथ्यन्ते ।

अथ व्रतप्रतिमा कथ्यते तथाहि-

पञ्चाणुव्रतानि, त्रीणि गुणव्रतानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि इति द्वादशव्रतानि कथ्यन्ते । वादर-सूक्ष्म भेदभिन्ना: स्थावरा:, जङ्गमजीवाश्च बहुविधभिन्ना रक्षितव्या मनसा वाचा कायेनेति । किं बहुना? सर्वे जीवा: सर्वथात्मसमाना यत्र दृश्यन्ते प्रथमं तदणुव्रतम् । अनृतवर्जनं द्वितीयमणुव्रतम्, अदत्तवस्तुपरित्यागस्तृतीयमणुव्रतम् । स्वदारसन्तोष: परदार-निवृत्तिश्च चतुर्थमणुव्रतम्, मनसि सन्तोषं धृत्वा

धनधान्यचतुष्पदादीनां परिमाणं पञ्चममणुव्रतम् । दशानां दिशां योजनसंख्यया गमनागमन-नियमकरणमात्मशक्त्या योगनिरोधनकरणं, च प्रथमं गुणव्रतम् । अनर्थदण्डपरिहार: कथ्यते । तद्यथा-निष्फलं कार्यकरणमनर्थदण्ड: । स च पञ्चविध: । तत्र पृथ्वीजल तेजोवायु-वनस्पतिकायिनां पञ्च-स्थावराणां त्रसस्य च हिंसनं पापहेतुरनर्थदण्ड: । तथा पशुपालन-कृषिकरण-वाणिज्य-परस्त्रीसंयोगादिषूपदेशदानमनर्थदण्ड: । तथा कुक्कुट-मयूर-मार्जार-चित्रक-नकुल सप्प्रादीनां पालनं क्रीडनं च अनर्थदण्ड: । स एष प्रथमोऽनर्थदण्ड तथा निज प्रहरणस्यान्ययाचितस्याढौकनं, विक्रयार्थं वा ग्रहणं क्रियते तदनर्थदण्डो द्वितीय: । परदोषकथने परकलत्रे मनोऽभिलाषश्च तृतीयोऽनर्थदण्ड: । रागद्वेषवर्धिनीनां कथानां श्रवणं चतुर्थोऽनर्थदण्ड: । व्या विषार्पणाग्निरज्ज्ुमदनलोहलाक्षानील्यादीनां दानं निष्प्रयोजन फलपत्रपुष्पादीनां त्रोटनं जलादि-विक्षेपणं सरणसारर्ण पञ्चमोऽनर्थदण्ड: । एषां परिहारोऽनर्थदण्डव्रतनामधेयं द्वितीयं गुणव्रतं कथ्यते ।

पुष्पविलेपनभूषणवस्त्रशय्यादीनां भोगोपभोगवस्तुनामात्मशक्त्या परिमाणकरणं तृतीयं गुणव्रतम् । कायवाङ् मनोनिरोधनं सर्वसावद्यवर्जनं सुखदु:खसंयोगवियोगेषु समभावनत्वं, त्रिकालदेववन्दनाकरणं च सामायिकनाम प्रथमं शिक्षाव्रतम् । मांसमध्येऽष्टमीद्वयं चतुर्दशीद्वर्येति चतुर्षु पर्वदिनेषु यथा-शक्त्योपवास-एकस्थानमेकभक्तं रसपरित्यागो वा यत्क्रियते तत्प्रोषधं नाम द्वितीयं शिक्षाव्रतम् । आत्मशक्त्या श्रद्धयागमोक्तं पात्रे यद्दानं चतुर्विधाहारस्य तदतिथिसंविभागनाम तृतीयं शिक्षाव्रतम् । मरणकाले नि:स्पृहो भूत्वा न किंचिदपि वस्तु मदीयमस्ति, न कस्याप्यहमिति निर्ममत्वभाव: सल्लेखना, तदेतच्चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । तथानस्तमिते रवौ भोजनं कर्तव्यम् । नवनीतवर्जनं च यदि न करोति तदा जीवदया, ब्रह्मचर्यं पञ्चोदुम्बरवर्जनम्, अभक्ष्यपरित्याग:, सप्तव्यसनपरित्यागश्च सर्वमेतन्निष्फलं स्यात् । एतानि द्वादशव्रतानि अनस्तमिव्युक्तानि दर्शनप्रतिमा युक्तानि प्रतिपालयति स व्रतप्रतिमायुक्तो भवति । इति व्रतप्रतिमानिरूपणम् । अथ सामायिकादिप्रतिमा कथ्यते - शत्रुषु मित्रेषु च समभावं कृत्वा क्रोध-मानमायालोभाख्यानचतुर: कषायान् जित्वा चैत्यालये गृहे वा पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा भूत्वा कायवाङ्मन:शुद्ध्या पञ्चपरमेठिनां त्रिकाले वन्दनां य: करोति तस्य सामायिकनाम तृतीया प्रतिमा भवति ।

सप्तमीत्रयोदशी दिने एकभक्तं कृत्वोपवासं संगृह्याष्टमीचतुर्दशीदिने जिनभवने स्थातव्यम् । नवमी- पञ्चदशी दिने प्रभाते जिनवन्दनादिकं कृत्वा निजगृहं गत्वाऽऽत्मशक्त्या पात्रदानं दत्वाऽऽत्मना भुञ्जीत । तस्मिन्नेव पारणकदिने ह्येक भुक्तं कुर्वीत । एषा सा प्रोषधप्रतिमा ।

सचित्तानां फलपत्रपुष्पशाकशाखादीनां परिहारो यत्र क्रियते सा सचित्तत्यागप्रतिमा ।

रजन्यामौषध-ताम्बूल-पानीय-प्रभृतीनां चतुर्विधाहाराणां यत्र त्यागो भवति दिवसे मैथुननिवृत्तिश्च क्रियते सा रात्रिभुक्तिव्रताभिधाना प्रतिमा ।

सर्वथा स्त्रीपरित्यागो ब्रह्मचर्यप्रतिमा । यद्यथा देवीं मानुषीं तिर्यञ्चीं लेपमयीं काठमयीं शिलामयीं चित्रलिखितामपि दृष्ट्वा स्त्रियं कायवाङ्मनोभिर्नाभिलाषं करोति यस्तस्य ब्रह्मचर्य प्रतिमा भवति ।

गृहव्यापारान् सर्वान् वर्जयित्वा कषायरहितेन मनसि संतोष: कार्य: । एवं विध: पुरुष आरम्भत्यागी भवति । इत्यारम्भत्यागप्रतिमा ।

द्रव्यपरिग्रहो मोहं जनयति, मोहाद् रागद्वेषोत्पत्ति:, रागद्वेषाभ्यामार्तिमरणम्, आर्तौ सत्यां नरकगति:, तस्माद् वस्त्रमेकं त्यक्त्वान्यत् सर्वं द्रव्यजातं कायवाङ्मनोभि: परिहर्तव्यम् इति परिग्रहपरिहारप्रतिमा ।

आत्मशरीर-विषयेऽपि ममत्वभावं त्यक्त्वा गृहमपि त्यक्त्वा यो जिनगृहे तिष्ठति सदैव । तथा गृहकर्मविषये पृच्छतामप्यनुमतिं न ददाति । जिनगृहे स्थितो धर्मपाठं धर्मश्रुतिं च करोति धर्म्यध्यानेनाहोरात्रं गमयति, विकथां न करोति, न श्रृणोति च । तस्य सानुमतिविरतिर्दशमीप्रतिमा ।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा द्विविधा । प्रथमायां कोपीनातिरिक्तमेकं वस्त्रं धार्यते, शिरसि केशानां मुण्डनं विधीयते, भिक्षाचर्यते । यदुक्तम्-

ऐसा जानकर, जिनमत को मन में धारण कर तथा क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायों को नष्ट कर जो दृढ़ सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं, वे दर्शनप्रतिमा के धारक श्रावक कहे जाते हैं ।

अब व्रत प्रतिमा कही जाती है-पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत; ये बारह व्रत कहलाते हैं । बादर और सूक्ष्म भेद को लिए हुए स्थावर तथा अनेकों भेदों से युक्त त्रस जीव मन, वचन, काय से रक्षा करने योग्य हैं । अधिक क्या, जिसमें सभी जीव सब प्रकार से अपने समान देखे जाते हैं वह प्रथम अहिंसाणुव्रत है । असत्यवचन का त्याग करना दूसरा सत्याणुव्रत है । चोरी का त्याग करना तीसरा

अचौर्याणुव्रत है । स्वस्त्री में सन्तोष रखना तथा परस्त्री का त्याग करना चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है और मन में सन्तोष धारण कर धन-धान्य तथा चौपाये आदि परिग्रहों का परिमाण करना पाँचवाँ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है ।

योजनों की संख्या निश्चित कर दशों दिशाओं में आने जाने का नियम करना तथा अपनी शक्ति के अनुसार योग निरोध करना पहला गुणव्रत है । अब दूसरे गुणव्रतअनर्थदण्ड त्याग का वर्णन किया जाता है । निष्प्रयोजन कार्य करना अनर्थदण्ड कहलाता है । यह पाँच प्रकार का होता है । उनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक इन पाँच स्थावरों तथा त्रसजीवों की स्वयं हिंसा करना और दूसरों को उपदेश देना यह पाप हेतु-पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है तथा पशुपालन, खेती करना, व्यापार करना तथा परस्त्रियों का संयोग कराना आदि कार्यों का उपदेश देना यह भी पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है । मुर्गा, मयूर, बिलाव, चीता, नेवला तथा साँप आदि का पालन करना और उनकी क्रीड़ा करना यह भी अनर्थदण्ड है । ये ऊपर कहे हुए सब कार्य करना प्रथम अनर्थदण्ड है । अपने पास के शस्त्र दूसरे के द्वारा माँगे जाने पर देना तथा बिक्री के लिए उनका ग्रहण करना हिंसादान नाम का द्वितीय अनर्थदण्ड है । दूसरे के दोष कहने तथा परस्त्री में अपने मन की इच्छा करना अपध्यान नाम का तृतीय अनर्थदण्ड है । रागद्वेष को बढ़ाने वाली कथाओं का सुनना दु:श्रुति नाम का चतुर्थ अनर्थदण्ड है तथा विष, अग्नि, रस्सी, मैन, लौहा, लाख और नील आदि का देना तथा प्रयोजन के बिना ही फल, पत्र, पुष्प आदि का बिखेरना और घूमना-घुमाना यह प्रमादचर्या नाम का पञ्चम अनर्थदण्ड है । इसका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत नाम का द्वितीय गुणव्रत कहलाता है ।

पुष्प, विलेपन, भूषण, वस्त्र और शय्या आदि भोगोपभोग की वस्तुओं का अपनी शक्ति के अनुसार परिमाण करना तृतीय गुणव्रत है ।

काय, वचन और मन का निरोध करना, समस्त पाप कार्यों का त्याग करना, सुख-दु:ख और संयोग-वियोग में समभाव रखना तथा त्रिकाल-तीनों संध्याओं में देववन्दना करना सामायिक नाम का पहला शिक्षाव्रत है । एक माह के बीच दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चार पर्व आते हैं । इन चारों पर्वों में शक्ति के अनुसार जो उपवास, एक स्थान, एक भक्त अथवा रसपरित्याग किया जाता है वह प्रोषध नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है । अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक पात्र के लिए जो आगमोक्त चार प्रकार का आहारदान दिया जाता है वह अतिथिसंविभाग नाम का तीसरा शिक्षाव्रत है । मरण के समय निस्पृह होकर "कोई भी वस्तु मेरी नहीं है और न में किसी का हूँ" - इस प्रकार का निर्ममत्व भाव रखना सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत है तथा सूर्य के अस्त न होने पर **अर्थ**ात् सूर्य के रहते हुए भोजन करना चाहिए । इतना सब होने पर भी यदि नवनीत का त्याग नहीं करता है तो जीवदया, ब्रह्मचर्य, पञ्चोदुम्बर फलों का त्याग, अभक्ष्य त्याग और सात व्यसनों का त्याग, यह सब निष्फल होता है । अनस्तमितव्रत सहित तथा दर्शनप्रतिमा के साथ इन बारह व्रतों का जो पालन करता है, वह व्रत प्रतिमा से युक्त होता है । इस प्रकार व्रत प्रतिमा का निरूपण हुआ ।

सामायिक आदि प्रतिमा का कथन करते हैं-

शत्रुओं और मित्रों में समभाव करके तथा क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायों को जीतकर चैत्यालय अथवा घर में पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर कायवचन और मन की शुद्धिपूर्वक जो तीन कालों में पञ्च परमेठियों की वन्दना करता है, उसके सामायिक नाम की तीसरी प्रतिमा होती है ।

सप्तमी और त्रयोदशी के दिन एकाशन कर तथा उपवास का नियम लेकर अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जिनमन्दिर में रहना चाहिए । पश्चात् नवमी और पञ्चदशी के दिन प्रात:काल जिनवन्दनादि कर अपने घर जाकर तथा अपनी शक्ति के अनुसार पात्रदान देकर स्वयं भोजन करना चाहिए । साथ ही उस पारणा के दिन भी एकाशन करना चाहिए । यही प्रोषधप्रतिमा कहलाती है ।

सचित्त फल, पत्र, पुष्प, शाक तथा शाखा आदि का जिसमें त्याग किया जाता है, वह सचित्त-त्यागप्रतिमा है ।

रात्रि में औषध, पान तथा पानी आदि चारों प्रकार के आहारों का जिसमें त्याग किया जाता है और दिन में मैथुन का त्याग किया जाता है, वह रात्रिभुक्तिव्रत नामक प्रतिमा है ।

सर्वथा स्त्री का त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है । देवी, मानुषी, तिर्यञ्ची, लेपमयी, काठमयी, शिलामयी तथा चित्रलिखित भी स्त्री को देखकर जो काय, वचन और मन से उसकी इच्छा नहीं करता है, उसके ब्रह्मचर्य प्रतिमा होती है ।

घर सम्बन्धी समस्त आरम्भों को छोड़कर कषाय रहित हो मन में सन्तोष करना चाहिए । ऐसा पुरुष आरम्भत्यागी होता है ।

द्रव्य का परिग्रह-पास में रुपया-पैसा आदि रखना मोह को उत्पन्न करता है, मोह से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, राग-द्वेष के कारण

आर्तध्यान से मरण होता है और आर्तध्यान के होने से नरकगति प्राप्त होती है इसलिए मात्र वस्त्र को छोड़कर अन्य सभी द्रव्य समूह का काय, वचन और मन से त्याग करना चाहिए । यह परिग्रहत्याग प्रतिमा है ।

अपने शरीर के विषय में भी ममत्व भाव को छोड़ जो घर का त्याग कर सदा जिनमन्दिर में रहता है और घर सम्बन्धी कार्यों के विषय में पूछने वाले पुत्रादि को जो अनुमति भी नहीं देता है । जो जिनमन्दिर में रहता हुआ धर्मपाठ अथवा धर्मश्रवण करता है, धर्मध्यान से दिन-रात व्यतीत करता है, विकथाएँ न स्वयं करता है और न सुनता है उसके वह अनुमतिविरति नाम की दशवीं प्रतिमा होती है ।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा दो प्रकार की होती है । प्रथम प्रकार में लंगोट के अतिरिक्त एक वस्त्र रखता है, शिर पर केशों का मुण्डन करता है और भिक्षा से चर्या करता है । जैसा कि कहा है -

परिकलिऊण य पत्तं पविसदि चरियाइ यंगणे ठिच्चा॥

भणिऊण धम्मलाहं जायदि भिक्खां सयं चेव ॥426॥

जो पात्र लेकर दातार के घर में प्रवेश करता है आँगन में खड़ा होकर तथा "धर्मलाभ" कहकर साथ ही भिक्षा की याचना करता है **अर्थ**ात् "धर्मलाभ" इस शब्द के द्वारा ही भिक्षा प्राप्त करने का अभिप्राय प्रकट करता है ॥426॥

यस्यैतत्पात्रं भवति चर्यानन्तरं पुनस्तस्यैव समप्र्यते । यस्य पुन: पुरुषस्य कोपीनमात्रपरिग्रह स पिच्छिकां गृह्णाति, शिरसि लोचं कारयति, पात्रं गृहीत्वा पूर्वश्रावकवद् भिक्षां न चरति । किन्तु ऋषिसहितश्चर्यां नि:सृत: सन् ऋषिभुक्तौ सत्यां हस्तसंपुटे भोजनं करोति । बृहदन्तरायं पालयति, पञ्चसमितित्रिगुप्तिसंयुक्तो भवति यथाशक्ति द्वादशविधितपश्चरणनिरत:, आर्तरौद्रध्यानमुक्त: दुर्गतिकारणं वचनमपि न वक्ति, द्वादशानुप्रेक्षां प्रतिक्षणं चिन्व्यति, इच्छाकरं करोति, परमात्मानं तद्वचनं च सदा स्तौति । अमुना प्रकारेणान्यदपि जिनकथितं तत्सर्वमात्मशक्त्या पालयन् उत्तमश्रावक: स्यात् । अन्यथा श्रावकस्य कथनमुपलक्षणमात्रं भवति । अमुं धर्मं न करोति किन्तु अहं श्रावक: श्रावक इति वक्ति । न परममिथ्यात्वयुक्त इति बोध्यम् । इत्युद्दिष्टविरति नामैकादशी प्रतिमा । भवन्ति चात्र केचन श्लोका-

जिसका यह पात्र होता है चर्या के अनन्तर वह उसी को सौंप दिया जाता है । (यह अनेक भिक्ष क्षुल्लक की विधि है जो एक भिक्ष क्षुल्लक होता है वह एक ही घर श्रावक द्वारा पड़गाह जाकर आहार ग्रहण करता है) । जिस पुरुष के लंगोट मात्र का परिग्रह होता है वह पिच्छिका ग्रहण करता है, शिर पर केशों का लोंच कराता है और क्षुल्लक की तरह पात्र लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण नहीं करता है, किन्तु मुनियों के साथ चर्या के लिए निकलता है और मुनियों का आहार हो चुकने पर हस्तपुट में भोजन करता है, बड़े अन्तराय का पालन करता है तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से संयुक्त होता है । शक्त्यानुसार बारह तपों में लीन रहता है, आर्त और रौद्रध्यान से दूर रहता है, दुर्गति के कारणभूत वचन भी नहीं बोलता है, बारह भावनाओं का प्रतिसमय चिन्तन करता है, इच्छाकार करता है और परमात्मा तथा उनके वचनों की सदा स्तुति करता है । इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने और भी जो विधि कही है उस सबका अपनी शक्ति के अनुसार जो पालन करता है, वह उत्तम श्रावक होता है । अन्यथा "श्रावक है" यह कथन उपलक्षण मात्र होता है **अर्थ**ात् श्रावक के धर्म को करता नहीं है किन्तु "मैं श्रावक हूँ श्रावक हूँ" यही कहता है । वह महामिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिए । इस प्रकार उद्दिष्टविरति नाम की ग्यारहवीं प्रतिमा है ।

यहाँ प्रकरणोपयोगी कुछ श्लोक हैं-

समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते ।

ते बहु पापावृतात्मान: स्युर्धर्माद्धि पराङ्मुखा: ॥427॥

जो जिनशासन में स्थित-सहधर्मी बन्धुओं के विषय में अपनी शक्ति के अनुसार वात्सल्य नहीं करते हैं, वे बहुत पापों से आवृत्तात्मा-संयुक्त होते हुए धर्म से विमुख होंते हैं ॥427॥

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते ।

चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्म: कुतो भवेत् ॥428॥

जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश से करुणारूपी अमृत के द्वारा भरे हुए जिनके चित्त में जीवदया नहीं है, उनके धर्म कैसे हो सकता है? ॥428॥

यत्र प्राणिवधो धर्मो ह्यधर्मस्तत्र कीदृश: ।

ईदृशा मनुजा यत्र पिशाचास्तत्र कीदृशा: ॥429॥

जहाँ प्राणिवध धर्म कहलाता है वहाँ अधर्म कैसा होता है ? और जहाँ ऐसे मनुष्य होते हैं वहाँ पिशाच कैसे होते हैं? ॥429॥
पूज्या: पिशाचा गुरुश्च कौला, हिंसा च धर्मो विषयाच्च मोक्ष: ।
सुदुर्लभं सर्वभवे पवित्रं, हा हारितं मूढमनुष्यजन्म ॥430॥
जो पिशाचों को पूज्य मानते हैं, कोरियों को गुरु समझते हैं, हिंसा को धर्म कहते हैं और विषय सेवन से मोक्ष मानते हैं अरे मूर्ख! उन मनुष्यों ने उस मनुष्य जन्म को व्यर्थ खो दिया, जो अत्यन्त दुर्लभ है तथा समस्त भवों में पवित्र भव है ॥430॥
जीविताय विषं ह्यन्नं तेजसे च कृतं तम: ।
निगूढनास्तिकै:पापैर्हिंसा पुण्याय तु स्मृता ॥431॥
जिन पापी छिपे नास्तिकों ने हिंसा को पुण्य के लिए माना है उन्होंने जीवित रहने के लिए विष को अन्न माना है और प्रकाश के लिए अन्धकार को अर्जित किया है ॥431॥
अशान्तिं प्राणिनां कृत्वा क: शान्तिकमिच्छति ।
इभ्यानां लवणं दत्त्वा किं कर्पूरं किलाप्यते ॥432॥
प्राणियों को अशान्ति उत्पन्न कर शान्ति की इच्छा कौन करता है? धनिकों को नमक देकर क्या बदले में कपूर प्राप्त किया जा सकता है ? **अर्थ**ात् नहीं ॥432॥
यो हि रक्षति भूतानि भूतानामभयप्रद: ।
भवे भवे तस्य रक्षा यद् दत्तं तदवाप्यते ॥433॥
प्राणियों को अभयदान देने वाला जो मनुष्य उनकी रक्षा करता है, भव-भव में उसकी रक्षा होती है । ठीक ही है जो दिया गया है वही प्राप्त होता है ॥433॥
चिन्तामणिं त्यजति काचमणिं जिघृक्षु-
र्मत्तेभमुज्झति परं खरमाददाति ।
हिंसां तनोति न पुन: करुणां करोति
मूढस्य वीक्षितमहो वत पण्डितत्त्वम् ॥434॥
अहो! खेद है कि मूढ़ मनुष्य की पण्डिताई देखो वह चिन्तामणि को तो छोड़ता है और काँचमणि को ग्रहण करना चाहता है, मत्त हाथी को छोड़ता है और गधे को ग्रहण करता है तथा
हिंसा को विस्तृत करता है परन्तु करुणा को विस्तृत नहीं करता है ॥434॥
यत्र जीवस्तत्र शिव: सर्वं विष्णुमयं जगत् ।
इति प्रर्पिता दक्षैरहिंसा शैववैष्णवै: ॥435॥
जहाँ जीव है वहाँ शिव है और समस्त जगत् विष्णुमय है ही इस प्रकार चतुर शैवों और वैष्णवों ने भी अहिंसा को विस्तृत किया है ॥435॥
हिंसकस्य कुतो धर्म: कामुकस्य कुत: श्रुतम् ।
दाम्भिकस्य कुत: सत्यं तृष्णकस्य कुतो रति: ॥436॥
हिंसक को धर्म, कामी को शास्त्र, कपटी को सत्य और तृष्णावान को रति कैसे प्राप्त हो सकती है ॥436॥
मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम् ।
गुणानां निधिरित्यङ्गी दया कार्या विवेकिभि: ॥437॥
क्योंकि दया, धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में प्रथम है, सम्पदाओं का स्थान है और गुणों का भण्डार है इसलिए विवेकी मनुष्यों को अवश्य ही स्वीकृत करनी चाहिए ॥437॥
यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि ।
एकाहिंसा-प्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरै:॥438॥
जिनेन्द्र भगवान् ने मुनियों और श्रावकों के समस्त व्रत एक अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे हैं ॥438॥

पुनर्यतिनोक्तम्-अनेन जीवेन संसारे परिभ्रमता महता कष्टेन मनुष्यत्वं प्राप्तं जैनधर्मश्च । रात्रौ द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियप्रभृति मिश्रितान्नपान-खाद्य-स्वाद्य-लेह्य लक्षणं चतुर्विधाहारं भुक्त्वा नरकं गतश्चेत् पुनर्दुष्प्राप्यम् । उक्तञ्च-

मुनिराज ने पुन: कहा - इस जीव ने संसार में परिभ्रमण करते हुए बड़े कष्ट से मनुष्यभव तथा जैनधर्म प्राप्त किया है । इसलिए रात्रि में यदि द्वीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय आदि जीवों से मिले हुए अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्य अथवा लेह्य के भेद से चार प्रकार का आहार ग्रहण कर यदि नरक चला गया तो फिर मनुष्यभव का पाना कठिन है । कहा भी है -

अह्नो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत् ।
निशाभोजनदोषज्ञ: स्यादसौ पुण्यभाजनम् ॥439॥

रात्रिभोजन के दोष को जानने वाला जो मनुष्य दिन के आदि और अन्त की दो घड़ियों को छोड़ता है **अर्थ**ात् उनमें भोजन नहीं करता है वह पुण्य का पात्र होता है ॥439॥

मौनं भोजनवेलायां ज्ञानस्य विनयो भवेत् ।
रक्षणं चाभिमानस्येत्युद्दिशन्ति मुनीश्वरा: ॥440॥

भोजन के समय मौन रखने से ज्ञान की विनय होती है और अभिमान की रक्षा होती है इसलिए मुनिराज उसका उपदेश देते हैं ॥440॥

हदनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेठिनाम् ।
भोजनं सुरतं स्तोत्रं कुर्यान्मोनसमायुतम् ॥441॥

मल निवृत्ति, मूत्रत्याग, स्नान, परमेठियों का पूजन, भोजन, संभोग और स्तुति; ये सात कार्य मौन सहित करना चाहिए ॥441॥

विरूपो विकलाङ्ग: स्यादल्पायु रोगपीडित: ।
दुर्भगो दुष्कुलश्चैव नक्तंभोजी सदा नर: ॥442॥

रात्रि में भोजन करने वाला मनुष्य सदा कुरूप, विकलांग, अल्पायु, रोगपीड़ित, भाग्यहीन और नीचकुली होता है ॥442॥

उलूक - काक - मार्जार - गृध्र - शंवर-सूकरा: ।
अहिवृश्चिक गोधाश्च जायन्ते रात्रि-भोजनात् ॥443॥

रात्रिभोजन करने से मनुष्य उलूक, काक, बिलाव, गीध, सांवर, सूकर, साँप, बिच्छू तथा गोह होते हैं ॥443॥

वासरे च रजन्यां य: खादन्नेवेह तिष्ठति ।
श्रृङ्गपुच्छपरिभ्रष्ट: स्पष्टं स पशुरेव हि ॥444॥

जो मनुष्य इस जगत् में रात-दिन खाता ही रहता है वह सींग और पूँछ से रहित पशु ही है ॥444॥

ये वासरं परित्यज्य रजन्यामेव भुञ्जते॥
ते परित्यज्य माणिक्यं काचमाददते जडा: ॥445॥

योऽनस्तमितं पालयति स देवलोके सुरोभूत्वा तस्मादागत्येक्ष्वाक्वादिक्षत्रियवंशेषु वैश्यवंशेषु वा समुत्पद्य दिव्यभोगानुभवनं कृत्वा पश्चात्तपोऽनुठानेन सर्वज्ञपदवीपूर्वकं सिद्धपदवीं गच्छति । तथा चोक्तम्-

जो मनुष्य दिन को छोड़कर रात्रि में ही भोजन करते हैं वे मूर्ख मणि को छोड़कर काँच को ग्रहण करते हैं ॥445॥

जो अनस्तमित व्रत का पालन करता है वह स्वर्गलोक में देव होता है, वहाँ से आकर इक्ष्वाकु आदि क्षत्रिय-वंशों तथा वैश्य-वंशों में उत्पन्न होकर दिव्य भोगों का अनुभव करता है पश्चात् तप करके अरहन्त पदवी को प्राप्त करता हुआ सिद्ध पद को प्राप्त होता है ।
जैसा कि कहा है -

निजकुलैकमण्डनं त्रिजगदीश-सम्पदम् ।
भजति य: स्वभावतस्त्यजति नक्तभोजनम् ॥446॥

जो स्वभाव से रात्रिभोजन का त्याग करता है वह अपने कुल का भूषण होता हुआ त्रिलोकीनाथ की संपदा को प्राप्त होता है ॥446॥

देवभक्त्या गुरूपास्त्या सर्वसत्त्वानुकम्पया ।
सत्संगत्यागमश्रुत्या गृह्यतां जन्मन: फलम् ॥447॥

देवभक्ति, गुरूपासना, सर्वजीवानुकम्पा, सत्संगति और आगम श्रवण के द्वारा मनुष्य जन्म का फल प्राप्त करो ॥447॥
अपेया पश्य पीयूषगर्गरी गर-बिन्दुना ।
गुणान् गुरुतरान् सर्वान् दोष: स्वल्पोऽपि दूषयेत् ॥448॥
देखो, विष की बूँद से दूषित अमृत की गगरी छोड़ने के योग्य होती है क्योंकि छोटा-सा दोष भी बड़े-बड़े गुणों को दूषित कर देता है ॥448॥
इत्थं श्रुतसागरमहामुनिमुखारविन्दाद् विनिर्गतं धर्मं श्रुत्वा सप्तव्यसननिवृत्तिं कृत्वा दर्शनपूर्वकं श्रावकव्रतं गृहीत्वा च श्रावको जात: स उमय: । अपरमप्यज्ञातफलाभक्षणव्रतं तेन गृहीतम् । गुणिनां प्रसङ्गेन गुणहीना अपि गुणिनो भवन्ति । तत: सन्मार्गस्थं भ्रातरमुमयं ज्ञात्वा जिनदत्तया महता गौरवेण स्वगृहमानीतो दानेन । संतोषितश्च । लोकमध्ये प्रतिष्ठापित: । तथा चोक्तम्-
इस प्रकार श्रुतसागर महामुनि के मुख कमल से विनिर्गत धर्म को सुनकर, सप्त व्यसन का त्याग कर तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के व्रत ग्रहण कर वह उमय श्रावक हो गया । इसके अतिरिक्त उसने अज्ञातफल के न खाने का व्रत भी ले लिया । ठीक ही है गुणीजनों के संग से गुणहीन मनुष्य भी गुणी हो जाते हैं ।
तदनन्तर भाई उमय को सन्मार्ग में स्थित जानकर जिनदत्ता उसे बड़े सम्मान से अपने घर ले गयी तथा दान के द्वारा उसने उसे संतुष्ट किया और लोक में उसकी प्रतिष्ठा बढाई । जैसा कि कहा है-
यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विर्मुति ॥449॥
न्यायमार्ग में प्रवृत्त मनुष्य की तिर्यर् भी सहायता करते हैं और कुमार्ग में चलने वाले को सगा भाई भी छोड़ देता है ॥449॥
उत्तमै: सह सांगत्यं पण्डितै: सह संकथाम् ।
अलुब्धै: सह मित्रत्वं कुर्वाणो नावसीदति ॥450॥
उत्तम मनुष्यों के साथ संगति, विद्वानों के साथ वार्तालाप और अलोभी मनुष्यों के साथ मित्रता को करने वाला कभी दुखी नहीं होता है ॥450॥
पुनश्च-
और भी कहा है -
पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुक: ।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तय: ॥451॥
गेंद हाथ के आघातों से नीचे गिरकर भी ऊपर की ओर उछलती है । ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों की विपत्तियाँ प्राय: अस्थायी होती हैं ॥451॥
एकदोज्जयिनीनगरात् केचन सार्थवाहा: कौशाम्बीं समागता: । तै: सन्मार्गस्थमुमयं दृष्ट्वा प्रशंसित: स: । त्वं धन्योऽसि, त्वमुत्तमसङ्गे उत्तमो जातोऽसि । इत्येवमनेकधा स्तुत: । तथा चोक्तम्-
एक समय, उज्जयिनी नगरी से कुछ बनजारे सेठ कौशाम्बी नगरी आये । उन्होंने उमय को सन्मार्ग में स्थित देख उसकी खूब प्रशंसा की । तुम धन्य हो, तुम उत्तम मनुष्यों की संगति से उत्तम हो गये हो । इस तरह अनेक प्रकार से उसकी स्तुति की । जैसा कि कहा है -
हीयते हि मतिस्तात हीनै: सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥452॥
हे तात! हीन मनुष्यों की संगति से बुद्धिहीन हो जाती है, समान मनुष्यों की संगति से समता की प्राप्ति होती है और विशिष्ट मनुष्यों की संगति से विशिष्टता हो जाती है ॥452॥
किञ्च-
और भी कहा है -
संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते ।

मुक्ताकारव्या तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वातौ सागरशुक्ति-संपुटगतं मुक्ताफलं जायते ।
प्रायेणाधम-मध्यमोत्तमगुणा: संसर्गतो देहिनाम् ॥453॥

संतप्त लोहे पर स्थित पानी का नाम भी सुनायी नहीं देता । वही पानी कमलिनी के पत्र पर स्थित होकर मोती के समान सुशोभित होता है और स्वाति नक्षत्र में समुद्र की सींप में जाकर मोती हो जाता है । ठीक ही है क्योंकि मनुष्य के अधम, मध्यम और उत्तम गुण प्राय: संसर्ग से होंते हैं ॥453॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

यथा चन्द्रं विना रात्रि: कमलेन सरोवरम् ।
तथा न शोभते जीवो बिना धर्मेण सर्वदा ॥454॥

जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना रात्रि और कमल के बिना सरोवर सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार धर्म के बिना सदा जीव सुशोभित नहीं होता ॥454॥

ततो बहुतरं क्रयाणकं गृहीत्वा सार्थवाहै: सह निज-नगरं प्रति निर्गत उमय: । अन्यदात्यासन्ननगरे समायाते कतिपयजनै: सह माता पितृदर्शनौत्यातिशयेनोमयोऽग्रतो भूत्वा निर्गत: । रात्रौ प्रमादवशात् मार्गं परित्यज्य महाटव्यां पतित: । प्रभाते सूर्योदयो जात: । ततोऽटव्यां भ्रमद्भि: क्षुधादिपरिपीडितैर्मित्रै: रूपरसगन्धवर्णमाधुर्यधुर्याणिमरण कारणानि किंपाकस्य फलानि दृष्ट्वा भक्षितानि । तदनन्तरमुमयस्य दत्तानि तेनोक्तम्-किंनामधेयानि तैरुक्तम्-नाम्ना किम्? साम्प्रतमस्मत्संतर्पणकृतेऽमूनि फलानि शोभनानि, विलोक्यन्ते तत: कटुकनीरसदुर्गंन्ध स्वादरहितानि परित्यज्यान्यानि फलानि भक्षयित्वाऽऽत्मानं संतर्पय उमयेनोक्तम्-अज्ञात-फलानां भक्षणे मम नियमोऽस्ति । अतएवाहं सर्वथा न भक्षयिष्ये । इत्युक्त्वा न भक्षितानि तानि तेन । तत: कियती वेला मध्ये सर्वे सहाया मूर्च्छिता: सन्तो भूमौ पतिता: । तेषां शोकेन दु:खी-भूयोमयो वदति- अहो! ईदृग्विधस्य फलस्य मध्ये कालकूटमस्तीति को जानाति ?

तदनन्तरमुमयस्य व्रतनिश्चयपरीक्षणार्थं मनोज्ञं स्त्रीरूपं धृत्वा वनदेवव्याऽऽगत्य भणितम्-रे सत्पुरुष! अस्य कल्पवृक्षस्य फलानि किमर्थं न भक्षितानि? तव मित्रैर्यानि फलानि भक्षितानि तान्यन्यानि विषवृक्षस्य फलानि । असौ कल्पवृक्ष: अस्य वृक्षस्य फलानि पुण्यैर्विना न प्राप्यन्ते । अस्य वृक्षस्य फलानि योऽत्ति स सर्वव्याधिरहितो भवति । न कदाचिदपि म्रियते दु:खं न विलोकयति । ज्ञानेन सचराचरं जानाति । पूर्वमहमतीव वृद्धाभवम् । इन्द्रेणैतत्फल-रक्षणार्थमहमत्र स्थापिता । अस्य फल भक्षणेनाहं नवयौवना जातेति । एतद्वचनं श्रुत्वोमयोंनोक्तम्-भो भगिनि! ममाज्ञातफलभक्षणे नियमोऽस्ति । अतो मह्यमस्याभिधानं निवेदय । सा कथयति-न वेद्म्यभिधानम् । उमयेनोक्तम्-तर्हि किमेतैरतिशयै: । किन्तु यल्ललाटलिखितं तदेव भवति नान्यदिति किं बहु जल्पितेन?

उमयस्यैतद् धैर्यं दृष्ट्वा वनदेवव्योंक्तम्-भो पथिक! तवोपरि तुष्टाहं वरं वाञ्छ । तेनोक्तम्-यदि तुष्टासि, तर्हि मम सहायानुत्थापय । उज्जयिनीनगरीमार्गं च दर्शय । व्योक्तम्-एवमस्तु । तथा च-

तदनन्तर बहुत-सा बिक्री का सामान लेकर उमय उन बनजारों के साथ अपने नगर की ओर चला । किसी अन्य समय जब नगर अत्यन्त निकट आ गया तब वह माता-पिता के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा से कुछ लोगों के साथ आगे निकल गया । रात्रि में प्रमादवश वह मार्ग छोड़कर बड़ी भारी अटवी में जा पहुँचा । प्रात:काल सूर्योदय हुआ । तदनन्तर अटवी में घूमते हुए, क्षुधा आदि से पीड़ित मित्रों ने रूप, रस, गन्ध, वर्ण और माधुर्य से श्रेठ, मृत्यु के कारणभूत किंपाक विषवृक्ष के फल देखकर खाये । पश्चात् उन्होंने वे फल उमय को दिये । उमय ने कहा - ये फल किस नाम के हैं ? मित्रों ने कहा कि-नाम से क्या प्रयोजन है ? इस समय हम लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए ये फल अच्छे दिखाई देते हैं । इसलिए कड़ुवे, नीरस, दुर्गन्धयुक्त तथा स्वाद रहित अन्य फलों को छोड़कर तथा इन्हें खाकर अपने आपको सन्तुष्ट करो । उमय ने कहा - अज्ञात फलों के भक्षण के विषय में मेरा नियम है **अर्थ**ात् मैं अनजाने फल नहीं खाता हूँ । इसलिए मैं इन्हें नहीं खाऊँगा । इतना कहकर उसने वे फल नहीं खाये । पश्चात् कुछ समय के भीतर वे सब मित्र मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े । उनके शोक से उमय दु:खी होकर कहता है-अहो, ऐसे फल के बीच में कालकूट विष है, यह कौन जानता है?

तदनन्तर उमय के व्रत सम्बन्धी निश्चय की परीक्षा के लिए सुन्दर रूप रख वनदेवता ने आकर कहा - हे सत्पुरुष! इस कल्पवृक्ष के फल

क्यों नहीं खाये? तुम्हारे मित्रों ने जो फल खाये हैं, वे विषवृक्ष के अन्य फल हैं । यह कल्पवृक्ष है, इस वृक्ष के फल पुण्य के बिना प्राप्त नहीं होते । इस वृक्ष के फलों को जो खाता है वह सर्वरोगों से रहित होता है तथा कभी मरता नहीं है, दु:ख नहीं देखता है, ज्ञान के द्वारा चराचर सहित लोक को जानता है । मैं पहले बहुत वृद्धा थी । इन्द्र ने इसके फलों की रक्षा के लिए मुझे यहाँ रखा है । इसके फल खाने से मैं नव यौवनवती हो गयी हूँ ।

यह वचन सुनकर उमय ने कहा कि-हे बहिन! अज्ञात फल के भक्षण के विषय में मेरा नियम है **अर्थ**ात् मैं अज्ञात फल नहीं खाता हूँ । इसलिए मुझे इस फल का नाम बताओ । वनदेवता कहती है कि मैं नाम नहीं जानती हूँ । उमय ने कहा - तो फिर इन अतिशयों से क्या प्रयोजन है ? किन्तु जो कुछ ललाट में लिखा है-वही होता है अन्य नहीं । बहुत कहने से क्या लाभ है?

उमय के इस धैर्य को देखकर वनदेवता ने कहा - हे पथिक! तुम्हारे ऊपर मैं संतुष्ट हूँ । वर माँगो-उसने कहा - यदि संतुष्ट हो तो हमारे साथियों को उठा दो और उज्जयिनी का मार्ग बतला दो । वनदेवता ने कहा - ऐसा हो । जैसा कि कहा है -

उद्यम: साहसं धैर्यं बलं बुद्धि: पराक्रम: ।

षडैते यस्य विद्यन्ते तस्य देवोऽपि शक्यते ॥455॥

उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम; ये छह जिसके पास हैं देव भी उसके वश में रहते हैं ॥455॥

किञ्च-

और भी कहा है -

उत्साह-सम्पन्नमदीर्घसूत्रं, क्रिया-विधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मी: स्वयं वाञ्छति वासहेतो: ॥456॥

जो उत्साह से सहित है, शीघ्रता से कार्य करता है, कार्य करने की विधि को जानता है, व्यसनों में अनासक्त है, शूरवीर है, कृतज्ञ है और दृढ़ मित्रता वाला है । लक्ष्मी, निवास के हेतु उस पुरुष के समीप स्वयं पहुँचना चाहती है ॥456॥

गुणा: कुर्वन्ति दूतत्वं दूरेऽपिवसतां सताम् ।

केतकीगन्धमाघ्राय स्वयं गच्छन्ति षट्पदा: ॥457॥

गुण, दूर भी रहने वाले मनुष्यों का दूतपन करते हैं क्योंकि केतकी की गन्ध को सूँघकर भ्रमर स्वयं ही उसके पास पहुँच जाते हैं ॥457॥

ततो देवता प्रभावात्सर्वेऽप्युत्थिता: तदनन्तरं तैर्भणितम्-भो उमय तव प्रसादेन वयं जीविता: । तव व्रत-माहात्म्यमद्य दृष्टमस्माभि: । तव किमप्यगम्यं नास्ति । ततस्व्या देवव्या नगरमार्गोऽपि दर्शित: । क्रमेण तै: सहायै: सह स्वगृहमागत उमय: ।

सच्चरित्रवन्तमुमयं दृष्ट्वा वृत्तवृत्तान्तं च श्रुत्वा पिता मातृराजमन्त्रिस्वजन परिजनादिभि: प्रशंसित: । अहो, धन्योऽयमुमयो महत्संयोगेन पूज्यो जात: । तथा च-

तदनन्तर देवता के प्रभाव से सब उठकर खड़े हो गये । पश्चात् उन सब साथियों ने कहा कि-हे उमय! तुम्हारे प्रसाद से हम सब जीवित हुए । तुम्हारे व्रत का माहात्म्य आज हम लोगों ने देख लिया । तुम्हारे लिए कोई भी कार्य अगम नहीं है । तदनन्तर उस वनदेवता ने नगर का मार्ग भी दिखा दिया, जिससे क्रमपूर्वक अपने साथियों के साथ उमय अपने घर आ गया ।

उत्तम आचरण से युक्त उमय को देखकर तथा उसके पूर्व वृत्तान्त को सुनकर पिता, माता, राजा, मन्त्री, स्वजन और परिजन आदि ने उसकी खूब प्रशंसा की । अहो! यह उमय धन्य है, महापुरुषों के संयोग से पूज्य हो गया है । जैसा कि कहा है -

उत्तमै: सह संगत्या पुमानाप्नोति गौरवम् ।

पुष्पैश्च सहितस्तन्तुरुत्तमाङ्गेन धार्यते ॥458॥

उत्तम पुरुषों के साथ संगति करने से मनुष्य गौरव को प्राप्त होता है क्योंकि फूलों से सहित तन्तु भी मस्तक से धारण किया जाता है ॥ 458॥

द्वितीयदिने नगरदेवव्यागत्य सर्वपुरसाक्षिकं रत्नमण्डपं विकृत्य तन्मध्ये सिंहासनं च तस्योपरि उमयं विनिवेश्याभिषेकं विधाय पूजा कृता । पञ्चाश्चर्यं च कृतम् । एतत्सर्वं दृष्ट्वा राज्ञा भणितम्-जिनधर्म एव सर्वापदं हरति नान्य: । तथा च-

दूसरे दिन नगरदेवता ने आकर सब नगरवासियों की साक्षीपूर्वक विक्रिया से एक रत्नमण्डप और उसके बीच सिंहासन बनाया तथा उसके

ऊपर उमय को बैठाकर अभिषेकपूर्वक उसकी पूजा की-सम्मान किया, पञ्चाश्चर्य किये । यह सब देख राजा ने कहा कि-धर्म ही सब आपत्तियों को हरता है अन्य नहीं । जैसा कि कहा है -

धर्म: शर्म परत्र चेह च नृणां धर्मोन्धकारे रवि:

सर्वापत्प्रशमक्षम: सुमनसां धर्मो निधीनां निधि: ।

धर्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपथे धर्म: सुहृन्निश्चल:

संसारोरुमरुस्थले सुरतरुर्नास्त्येव धर्मात्पर: ॥459॥

धर्म, इहलोक तथा परलोक में मनुष्य के लिए सुखस्वरूप है । धर्म अन्धकार में सूर्य है । धर्म, पंडितों की सब आपत्तियों का शमन करने में समर्थ है । धर्म, निधियों का खजाना है । धर्म, बन्धु रहित का बन्धु है । धर्म, लम्बे मार्ग में साथ चलने वाला मित्र है और धर्म, संसाररूपी विशाल मरुस्थल में कल्पवृक्ष है, वास्तव में धर्म से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है ॥459॥

तदनन्तरं स्वस्वपुत्रं स्वस्वपदे संस्थाप्य नरपालेन राज्ञा, मदनदेवेन मन्त्रिणा, राजश्रेष्ठिना समुद्रदत्तेन, पुत्रेणोमयेन, चान्यैश्च बहुभि: सहस्रकीर्तिमुनिनाथसमीपे तपो गृहीतम् । केचन श्रावका जाता: केचन भद्रपरिणामिनश्च जाता: । राह्या मनोवेगया, मन्त्रिभार्यया सोमया, राजश्रेष्ठिभार्यया सागरदत्तयाऽन्याभिश्च बह्वीभिरनन्तमतीक्षान्तिका समीपे तपो गृहीतम् । काश्चिच्च श्राविका जाता: । तत: कनकलव्या भणितम् हे स्वामिन्! एतत् सर्वं मया प्रत्यक्षेण दृष्टम् । तदनन्तरं मम दृढ़तरं सम्यक्त्वं जातम् । धर्मे मतिश्च दृढ़तरा जाता । अर्हद्दासेनोक्तम्-भो भार्ये! यत् दृष्टं त्वया तत्सर्वमहं श्रद्दधामि, इच्छामि, रोचे । अन्याभिश्च तथैव भणितम् । श्रेष्ठिना कुन्दलतां प्रति भणितम्-हे कुन्दलते! त्वमपि निश्चलचित्ता सती नृत्यादिकं कुरु । तच्छ्रुत्वा कुन्दलव्योक्तम्-एतत्सर्वमप्यसत्यम् । तच्छ्रुत्वा राज्ञा मन्त्रिणा चौरेण स्वमनसि चिन्तितम्-अहो, कनकलव्या यत् प्रत्यक्षेण दृष्टं तत् कथम्- सत्यमियं पापिठा कुन्दलता निरूपयति । प्रभातसमये गर्दभमधिठाप्यास्या निग्रहं करिष्यामो वयम् । पुनरपि चौरेण स्वमनसि विमृशितम्-योऽविद्यमानदोषं निरूपयति स नीचगतिभाजनं भवति । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर अपने-अपने पुत्रों को अपने-अपने पद पर स्थापित कर नरपाल राजा, मदनदेव मन्त्री, राजसेठ समुद्रदत्त, उमय पुत्र तथा अन्य बहुत लोगों ने सहस्रकीर्ति मुनिराज के समीप तप ग्रहण कर लिया । कितने ही श्रावक और कितने ही भद्रपरिणामी हो गये । रानी मनोवेगा, मन्त्री की स्त्री सोमा, राजसेठ की पत्नी सागरदत्ता तथा अन्य बहुत स्त्रियों ने अनन्तमती आर्यिका के समीप तप ग्रहण किया । कुछ स्त्रियाँ श्रावक हुईं । पश्चात् कनकलता ने कहा कि-हे स्वामिन्! यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है । तदनन्तर मुझे अत्यन्त दृढ़ सम्यक्त्व हुआ है और धर्म में मेरी बुद्धि सुदृढ़ हुई है । अर्हद्दास ने कहा कि-हे प्रिये! तुमने जो देखा है उन सबकी मैं श्रद्धा करता हूँ, इच्छा करता हूँ और रुचि करता हूँ । अन्य स्त्रियों ने भी ऐसा ही कहा । सेठ ने कुन्दलता के प्रति कहा कि-हे कुन्दलते! तुम भी निश्चल चित्त होकर नृत्यादिक करो । यह सुनकर कुन्दलता ने कहा कि-यह सब असत्य है । वह सुनकर राजा, मन्त्री और चोर ने अपने मन में विचार किया कि अहो! कनकलता ने जिसे प्रत्यक्ष देखा है उसे यह पापिनी कुन्दलता असत्य बतलाती है । प्रभात समय इसे गधे पर बैठाकर इसका निग्रह करेंगे-इसे दण्ड देवेंगे । चोर ने पुन: अपने मन में विचार किया कि जो अविद्यमान दोष का निरूपण करता है वह नीचगति का पात्र होता है । जैसा कि कहा है -

न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासत: स्वस्य वर्णयेत् ।

तथा कुर्वन् प्रजायेत नीचगोत्रान्वित: पुमान् ॥460॥

दूसरे के विद्यमान गुणों को नष्ट नहीं करना चाहिए और न अपने अविद्यमान गुणों का वर्णन करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने वाला मनुष्य नीच गोत्र से युक्त होता है ॥460॥

॥इति सप्तमी कथा॥

॥इस प्रकार सातवीं कथा पूर्ण हुई॥

## सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली विद्युल्लता की कथा

सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली विद्युल्लता की कथा

कथा :

सम्यक्त्वप्राप्तविद्युल्लता-कथा

ततो विद्युल्लतां प्रत्यर्हद्दास: श्रेठी भणति-भो भार्ये! स्वसम्यक्त्वग्रहणकारणं कथय । तत: सा कथयति-भरतक्षेत्रे सूर्यकौशाम्बी नगरी, राजा सुदण्डो नाम तत्र राज्यं करोति । तस्य राज्ञी विजया, मन्त्री सुमति: भार्या गुणश्री:, राजश्रेठी सूरदेव: भार्या गुणवती । एकदा तेन सूरदेवेन देशान्तरं गतेन वाणिज्यार्थं मनोज्ञा वडवानीता । सुदण्डाय राज्ञे दत्ता । तेन राज्ञा बहुद्रव्यं दत्वा सूरदेव: पूजित: प्रशंसितश्च । एकदा तेन सूरदेवेनागमोक्तविधिना मासोपवासिगुणसेन-भट्टारकलाभतस्तस्मै आहारदानं दत्तम् । सत्पात्रदानप्रभावात् सूरदेवगृहे देवै: पञ्चाश्चर्यं कृतम् । तस्मिन्नेव नगरेऽपरश्रेठी सागरदत्त:, भार्या श्रीदत्ता । व्यो: पुत्र: समुद्रदत्त: । तेन समुद्रदत्तेन सूरदेवदत्तसत्पात्राहारदानफलातिशयं दृष्ट्वा मनसि चिन्तितम् । अहो! अहमधमोऽधन्यो गतद्रव्य: कथं दानं करोति? अतो देशान्तरे गत्वा सूरदेवस्य रीत्या द्रव्योपार्जनं कृत्वा अहमपि दानं करिष्यामि । यतो दानं विना किमपि न । तथा च-

तदनन्तर अर्हद्दास सेठ विद्युत्लता से कहते हैं कि हे प्रिये! अपने आपके लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण कहो । पश्चात् वह कहती है-भरतक्षेत्र में एक सूर्य कौशाम्बी नाम की नगरी है । वहाँ सुदण्ड नाम का राजा राज्य करता है । उसकी रानी का नाम विजया है । सुमति सुदण्ड का मन्त्री है । मन्त्री की स्त्री का नाम गुणश्री है । राजसेठ का नाम सूरदेव है और उसकी स्त्री का नाम गुणवती है ।

एक समय सूरदेव दूसरे देश को गया था । वहाँ से वह व्यापार के लिए सुन्दर घोड़ी लाया । उसने वह घोड़ी सुदण्ड राजा के लिए दी । राजा ने बदले में बहुत धन देकर सूरदेव का बहुत सत्कार किया तथा उसकी प्रशंसा की । एक समय शास्त्रोक्त विधि से एक माह का उपवास करने वाले गुणसेन भट्टारक का लाभ सूरदेव को हुआ । जिससे उसने उन्हें आहारदान दिया । सत्पात्रदान के प्रभाव से देवों ने सूरदेव के घर पञ्चाश्चर्य किये । उसी नगर में सागरदत्त नाम का एक दूसरा सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम श्रीदत्ता था । उनके समुद्रदत्त नाम का पुत्र था । उस समुद्रदत्त ने सूरदेव के द्वारा दिये हुए सत्पात्र के आहारदान के फल का अतिशय देखकर मन में विचार किया कि अहो! मैं बहुत ही अधम, भाग्यहीन और निर्धन हूँ अत: कैसे दान करँ । इसलिए देशान्तर में जाकर सूरदेव की भाँति द्रव्योपार्जन कर मैं भी दान करँगा क्योंकि दान के बिना कुछ भी नहीं है । जैसा कि कहा है-

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धव: ।
यस्यार्थ: स पुमांल्लोके यस्यार्थ: स च जीवति ॥461॥

जगत् में जिसके पास धन है उसी के मित्र हैं । जिसके पास धन है उसी के भाई-बन्धु हैं, जिसके पास धन है वही पुरुष है और जिसके पास धन है वही जीवित है ॥461॥

पुन:-

और भी कहा है-

इह लोके तु धनिनां परोऽपि स्वजनायते ।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां तत्क्षणाद् दुर्जनायते ॥462॥

इहलोक में धनी मनुष्यों के लिए दूसरे लोग भी आत्मीय जनों के समान आचरण करते हैं और दरिद्र मनुष्यों के लिए आत्मीय जन भी उसी क्षण दुर्जन के समान आचरण करने लगते हैं ॥462॥

किञ्च- इहैव लोके दरिद्रिण: सदा सूतकम् । यदुक्तम्-

और भी कहा है - इसी संसार में दरिद्र मनुष्य के लिए सदा सूतक रहता है । जैसा कि कहा है-

भिक्षां मे पथिकाय देहि सुतनो हा हा गिरो निष्फला:
कस्माद् बूरहि यदत्र सूतकमभूत् काल: कियान् वर्तते ।
मास: शुद्ध्यति नैव शुद्ध्यति कथं प्रोद्भूतमृत्युं विना
को जातो मम वित्तजीवहरणो दारिद्र्यनामा सुत: ॥463॥

कोई पथिक किसी स्त्री से कहता है-हे सुंदरी! मुझ पथिक के लिए शिक्षा देओ, स्त्री कहती है कि हाय-हाय आपकी वाणी निष्फल जा रही है । पथिक ने कहा कि-क्यों ? कारण कहो । स्त्री कहती है कि मेरे सूतक है । पथिक कहता है कि कितना काल हो गया? स्त्री कहती है कि एक माह हो गया । पथिक कहता है तब तो शुद्धि हो गयी । स्त्री कहती है कि जब तक उत्पन्न हुए बालक की मृत्यु नहीं होती तब तक शुद्धि नहीं हो सकती । पथिक कहता है कि कौन बालक उत्पन्न हुआ है ? स्त्री कहती है कि मेरे धनरूपी प्राणों को हरने वाला दारिद्र्य

नाम का पुत्र हुआ है ॥463॥
हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादत: ।
अहं सकलं पश्यामि मां कोपि न पश्यति ॥464॥
कोई अपमानित-उपेक्षित मनुष्य कहता है कि हे दारिद्र्य! तुम्हें नमस्कार हो क्योंकि तुम्हारे प्रसाद से मैं सिद्ध हो गया क्योंकि सिद्ध के समान मैं तो सबको देखता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं देखता ॥464॥
वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुता: ।
ते सर्वे धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति किंकरा: ॥465॥
जो अवस्था से वृद्ध हैं, तप से वृद्ध हैं तथा अनेक शास्त्रों को जानने से वृद्ध हैं, वे सब किंकर होकर धनवृद्ध के द्वार पर खड़े रहते हैं ॥465॥
इत्येवं पर्यालोच्य चतुर्भिर्मित्रै: सह मङ्गलदेशं प्रति चलित: । मार्गे गच्छता वयस्यत्रिकेण समुद्रदत्तं प्रति भणितम्-अहो समुद्रदत्त दूरदेशान्तरे किमर्थं गम्यते? तेनोंक्तम्-व्यवसायिनामस्माकं किमपि दूरं नास्ति । तथा चोक्तम्-
ऐसा विचार कर समुद्रदत्त चार मित्रों के साथ मंगलदेश की ओर चला । मार्ग में चलते समय तीन मित्रों ने समुद्रदत्त से कहा कि-अहो समुद्रदत्त! दूरवर्ती अन्य देश में किसलिये चल रहे हैं । उसने कहा कि-हम व्यवसायी मनुष्यों के लिए कुछ भी दूर नहीं है । जैसा कि कहा है -
कोऽतिभार: समर्थानां किं दूरे व्यवसायिनाम् ।
को विदेश: सुविद्यानां क: पर: प्रियवादिनाम् ॥466॥
समर्थ मनुष्यों के लिए अधिक भार क्या है? व्यवसायी-उद्योगी मनुष्यों के लिए दूर क्या है ? उत्तम विद्या से युक्त मनुष्यों के लिए विदेश क्या है ? और प्रिय बोलने वालों के लिए दूसरा कौन है ॥466॥
तथा च-
और भी कहा है -
नात्युच्चं मेरुशिखरं नास्ति नीचं रसातलम् ।
व्यवसाय-सहायस्य नास्ति दूरं महोदधि: ॥467॥
अनेकाश्चार्य-भूयिठां यो न पश्यति मेदिनीम् ।
निजकान्ता-सुखासक्त: स नर: कूप-दर्दुर: ॥468॥
व्यवसायी मनुष्य के लिए मेरु का शिखर अधिक ऊँचा नहीं है, रसातल नीचा नहीं है और महासागर दूर नहीं है ॥467॥
अपनी स्त्री के सुख में आसक्त हुआ जो पुरुष, अनेक आश्चर्यों से भरी हुई पृथ्वी को नहीं देखता है वह कूपमण्डूक है ॥468॥
अन्यच्च-
और भी कहा है -
परदेशभयाद् भीता बह्वालस्या: प्रमादिन: ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काका: कापुरुषा मृगा: ॥469॥
जो परदेश के भय से डरते हैं, बहुत आलसी हैं तथा प्रमादी हैं ऐसे कौए, कापुरुष और मृग अपने देश में मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥469॥
तत: क्रमेण पलाशग्रामे गत्वा घोटकप्राचुर्यं दृष्ट्वा समुद्रदत्तेन मित्रै: सह भणितम्-अहो मित्राणि! अस्मिन् देशमध्ये यत्र कुत्रापि गत्वा निजक्रयाणकं विक्रेतव्यम्, ग्रहणयोग्यवस्तु च गृहीत्वा त्रिवर्षानन्तरमत्र स्थाने आगन्तव्यमिति । तत: स्थान सीमां कृत्वान्ये त्रयोऽपि निर्गता: । समुद्रदत्त: पथि श्रान्तस्ततस्तत्रैव कियत् कालं स्थित: । तथा चोक्तम्-
तदनन्तर क्रम से पलाशग्राम में जाकर तथा घोड़ों की प्रचुरता देखकर समुद्रदत्त ने मित्रों के साथ कहा कि-हे मित्रो! इस देश में जहाँ कहीं भी जाकर अपना माल बेचना चाहिए और खरीदने योग्य वस्तु खरीद कर तीन वर्ष के भीतर इसी स्थान पर आ जाना चाहिए । तदनन्तर स्थान की सीमा कर अन्य तीनों मित्र चले गये । समुद्रदत्त मार्ग में थक गया था इसलिए वह कुछ समय तक वहीं ठहर गया । जैसा कि

कहा है -
कष्टं खलु मूर्खत्वं कष्टं खलु यौवनेऽपि दारिद्र्यम् ।
कष्टादपि कष्टतरं परगृह-वास: प्रवासश्च ॥470॥
वास्तव में, मूर्ख होना कष्ट है, यौवन में दरिद्र होना कष्ट है तथा दूसरे के घर निवास करना और परदेश में भ्रमण करना सबसे अधिक कष्ट है ॥470॥
तत्र ग्रामे कुटम्ब्यशोको नाम्ना वसति घोटकव्यवसायी । भार्या वीतशोका, पुत्री कमलश्री: । सोऽशोको घोटकरक्षार्थं भृत्यं गवेषयतीति वार्तां श्रुत्वा समुद्रदत्तोऽशोक-पार्श्वे गत्वा भणत्यहं तव घोटकरक्षां करोमि । मम किं प्रयच्छसि? तथा चोक्तम्-
उस ग्राम में घोड़ों का व्यापार करने वाला एक अशोक नाम का गृहस्थ रहता था । उसकी स्त्री का नाम वीतशोका था और पुत्री का नाम कमलश्री था । वह अशोक, घोड़ों की रक्षा के लिए एक नौकर को खोज रहा है । यह समाचार सुनकर समुद्रदत्त, अशोक के पास जाकर कहता है कि मैं तुम्हारे घोड़ों की रक्षा करँगा । मुझे क्या देओगे? जैसा कि कहा है -
तावद् गुणा गुरुत्व यावन्नार्थयते पुमान् । **अर्थ**ी चेत् पुरुषो जात: क्व गुणा: क्व च गौरवम् ॥471॥
गुण और गुरुत्व तभी तक रहते हैं जब तक पुरुष किसी से कुछ चाहता नहीं है । यदि पुरुष कुछ चाहने लगता है तो गुण कहाँ और गौरव कहाँ? दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥471॥
अन्यच्च-
और भी कहा है-
देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्था: पञ्च देवता: ।
तत्क्षणादेव नश्यन्ति श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धय: ॥472॥
"देहि"-देओ यह वचन सुनकर शरीर में रहने वाले पाँच देवता-लक्ष्मी, लज्जा, धृति, कीर्ति और बुद्धि तत्काल नष्ट हो जाते हैं-शरीर से बाहर निकल जाते हैं ॥472॥
अशोकेनोक्तम्-दिनं प्रतिवारद्वयं भोजनं, षण्मासेषु एका त्रिवेलिका, कम्बलश्च पादत्राणं च त्रिवर्षानन्तरं घोटकसमूहमध्ये ईप्सितं घोटकद्वयं गृहीतव्यमिति । तेनोक्तम्-तथास्तु । इति इत्थं सविनयं निगद्य घोटकसमूहं रक्षति समुद्रदत्त: । तथा चोक्तम्-
अशोक ने कहा - दिन में दो बार भोजन, छह मास में एक धोती जोड़ा, एक कम्बल और एक जूतों का जोड़ा देवेंगे तथा तीन वर्ष के बाद घोड़ों के समूह में अपने मन चाहे दो घोड़े ले लेना । समुद्रदत्त ने "तथास्तु" कहकर स्वीकृत किया । इस प्रकार विनय सहित कहकर समुद्रदत्त घोड़ों के समूह की रक्षा करने लगा । जैसा कि कहा है -
प्रणमत्युन्नति-हेतोर्जीवित-हेतोर्विर्मुति प्राणान् ।
दु:खीयति सुखहेतो: को मूढ: सेवकादन्य: ॥473॥
सत्यं दूरे विहरति समं साधुभावेन पुंसां
धर्मश्चित्तात्सह करुणया याति देशान्तराणि ।
पापं शापादिव च तनुते नीचवृत्तेन सार्धम्
सेवावृत्ते: परमिह परं पातकं नास्ति किञ्चित् ॥474॥
सेवक, उन्नति के लिए नम्रीभूत होता है, जीवित रहने के लिए प्राण छोड़ता है और सुख के लिए दुखी होता है । वास्तव में सेवक के सिवाय दूसरा मूर्ख कौन है? ॥473॥
सेवावृत्ति करने पर पुरुषों का सत्यधर्म, सज्जनता के साथ दूर चला जाता है । धर्म, चित्त से हटकर दया के साथ देशान्तर को प्रयाण कर जाता है और पाप, शाप से ही मानों नीच आचरण के साथ विस्तार को प्राप्त होता है । इसप्रकार इस संसार में सेवावृत्ति से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है ॥474॥
स समुद्रदत्त: कमलश्रियै प्रतिदिनं मनोज्ञानि फलानि, पुष्पाणि,कन्दानि च वनादानीय समर्पयति । तस्या अग्रे हृद्यां स्वकीयां गीतकलां च दर्शयति स: । सा कमलश्री: कालेन तेन समुद्रदत्तेन स्ववशीकृता । उक्तञ्च-

वह समुद्रदत्त प्रतिदिन कमलश्री के लिए वन से लाकर अच्छे-अच्छे फल, फूल और जमीकन्द देता था तथा उसके आगे अपनी मनोहर संगीत की कला दिखाता था । फल यह हुआ कि समुद्रदत्त ने कुछ समय में कमलश्री को अपने वश में कर लिया । जैसा कि कहा है -
हरिणानपि वेगशालिनो ननु बध्नन्ति वने वनेचरा: ।
निजगेयगुणेन किं गुण: कुरुते कस्य न कार्यसाधनम् ॥475॥
भील, वन में अपने संगति के गुण से वेगशाली हरिणों को भी बाँध लेते हैं । यह ठीक ही है क्योंकि गुण किसकी कार्यसिद्धि नहीं करता? **अर्थ**ात् सभी की करता है ॥475॥
पुनश्च-
और भी कहा है-
बाला खेलनकाले हि दत्तैर्दिव्य-फलाशनै: ।
मोदते यौवनस्था तु वस्त्रालंकरणादिभि: ॥476॥
हृष्येन्मध्यवया: प्रौढा, रतिक्रीडा सु कोशलै: ।
वृद्धा तु मधुरालापैर्गौरवेणातिरज्यते ॥477॥
बाला स्त्री, खेलने के समय दिये हुए उत्तम फल और भोजनों से प्रसन्न होती है । जवान स्त्री, वस्त्र और आभूषणादि से हर्षित होती है । मध्यम अवस्था वाली प्रौढ़ स्त्री, रति क्रीड़ा की कुशलता से प्रमुदित होती है और वृद्धा स्त्री, मधुर-भाषण तथा आदर सत्कार से अनुरक्त होती है ॥476-477॥
किं बहुना? तस्या मनस्येवं प्रतिभासतेऽसौ मम भर्ता भवत्विति चिन्व्यन्त्यहर्निशमनुरक्ता जाता । तथा च-
अधिक क्या ? उस कमलश्री के मन में ऐसा लगने लगा कि वह समुद्रदत्त मेरा पति हो । इस प्रकार विचार करती हुई वह उसमें रात-दिन अनुरक्त रहने लगी । जैसा कि कहा है-
नाग्निस्तृप्यति काठानां नापगानां महोदधि: ।
नान्तक: सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥478॥
अग्नि, काठों से तृप्त नहीं होती, महासागर नदियों से तृप्त नहीं होता, यमराज प्राणियों से तृप्त नहीं होता और स्त्री पुरुषों से तृप्त नहीं होती ॥478॥
दिनावध्यनन्तरं समुद्रदत्तेनोक्तम्-हे प्रिये! तव प्रसादेनाहमतीव सुखी जात: । सेवामर्यादा च निकटमाटीकतेस्म । साम्प्रतमहं निजदेशं जिगमिषुरस्मि । अतो मया किमपि भाषितं सूक्तमसूक्तं वा तत्सर्वं सहनीयं त्वया । इति तद्वचनं श्रुत्वा गद्गद्वचना साब्रवीत-हे नाथ! त्वां विना न जीवामि । अतएव नियमेन त्वया सार्धमागच्छामि । तेनोक्तम्-त्वमीश्वरपुत्री सुकुमारी । अहं च पथिको महादरिद्रश्च । मम निर्धनस्य समीपे कुत: सुखम् । यत् सुखं तवात्रास्ति तत् सुखं बहिर्नास्ति । अतएव मया सह तवागमनमनुचितम् । यदुक्तम्-
दिन की अवधि समाप्त होने पर समुद्रदत्त ने एक दिन कमलश्री से कहा कि-हे प्रिये! तुम्हारे प्रसाद से मैं बहुत सुखी हुआ हूँ । अब सेवा की सीमा निकट आ गयी है इसलिए मैं अपने देश को जाना चाहता हूँ । मैंने जो कुछ भला-बुरा कहा हो वह सब तुम्हें सहन करना चाहिए । इस प्रकार समुद्रदत्त के वचन सुन गद्गद् वाणी से कमलश्री ने कहा कि-हे नाथ! मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रहूँगी, इसलिए नियम से तुम्हारे साथ आती हूँ । समुद्रदत्त ने कहा कि-तुम स्वामी की सुकुमारी पुत्री हो और मैं महादरिद्र पथिक हूँ । मुझ निर्धन के पास तुम्हें सुख कैसे हो सकता है ? जो सुख तुम्हें यहाँ है वह सुख बाहर नहीं हो सकता है । अतएव मेरे साथ तुम्हारा आना अनुचित है । जैसा कि कहा है-
वासश्चर्म विभूषणं शवशिरो भस्माङ्गराग: सदा
गौरेक: स च लाङ्गलेष्वकुशल:सम्पत्तिरेतावती ।
ईदृक्षस्य ममावमत्य जलधिं रत्नाकरं जाह्नवी
कष्टं निर्धनकस्य जीवितमहो दारैरपि त्यज्यते ॥479॥
जब गंगानदी शंकरजी की जटाओं को छोड़कर रत्नाकर-समुद्र के पास चली गयी तब शंकरजी इसमें अपनी दरिद्रता को कारण मान कर

कहते हैं कि चर्म ही मेरा वस्त्र है, मृतक का शिर मेरा आभूषण है, भस्म मेरा अंगराग है, मेरे पास एक ही बैल है और वह भी हल चलाने में कुशल नहीं है । बस, इतनी ही मेरी सम्पत्ति है । इसलिए मेरे जैसे दरिद्र का अपमान कर गंगा रत्नों की खानस्वरूप जलधि-समुद्र (पक्ष में मूर्ख) के पास चली गयी है । वास्तव में निर्धन मनुष्य का जीवन बड़ा कष्टपूर्ण है, आश्चर्य है कि स्त्रियाँ भी उसे छोड़ देती हैं ॥479॥

निर्धनश्च कष्टे दारैरपि त्यज्यते । व्योक्तम्-हे स्वामिन् किं बहुनोक्तेन क्षणमपि त्वया विना न जीवामि । सर्वथा निवारितापि न तिष्ठामीति । पुनस्तेनोक्तम्-तर्ह्यागच्छ, यत्त्वयोपार्जितं तद् भविष्यति । व्या चोक्तम्-

निर्धन मनुष्य कष्ट आने पर स्त्रियों के द्वारा छोड़ दिया जाता है । कमलश्री ने कहा कि-हे स्वामिन्! बहुत कहने से क्या ? मैं तुम्हारे बिना क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती । सर्वथा मना करने पर भी मैं यहाँ नहीं रहूँगी । पश्चात् समुद्रदत्त ने कहा - तो आओ । तुमने जो उपार्जित किया है वह होगा । जैसा कि कहा है -

भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत् ।

गन्तव्यं गतमेव स्याद् गजभुक्तकपित्थवत् ॥486॥

नारियल के फल में रहने वाली पानी के समान होने वाली वस्तु होती ही है और जाने वाली वस्तु हाथी के द्वारा उपयुक्त कैंथा के सार के समान चली ही जाती है ॥486॥

एकदा तथा घोटकभेदो दत्त: । अत्र घोटकसमूहमध्ये द्वौ घोटकावतीव दुर्बलौ तिष्ठत: । एको जलगामी द्वितीयो नभोगामी । जलगामी रक्तवर्णो, नभोगामी श्वेतवर्णश्च निरूपित: । तस्या उपदेशेन तौ घोटकौ तथैव ज्ञात्वा समुद्रदत्तो मनस्यतीव सन्तुष्टो भणति-पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्था: । अस्मिन् प्रस्तावे देशान्तरात् क्रणायकं विक्रीय स्वदेशयोग्यं वस्तु गृहीत्वा च सुहाया: समायाता: । समुद्र-दत्तेन तेभ्यो भोजनादिकं दत्तम् । तथा चोक्तम्-

एक समय उस कमलश्री ने समुद्रदत्त को घोड़ों का भेद दे दिया । कहा कि-इन घोड़ों के समूह के बीच जो दो घोड़े अत्यन्त दुर्बल खड़े हैं, उनमें एक जलगामी है और दूसरा आकाशगामी । जलगामी लाल रंग का है और आकाशगामी सफमद रंग का । उसके कहने से उन घोड़ों को उसी प्रकार जानकर मन में अत्यन्त सन्तुष्ट होता हुआ समुद्रदत्त कहता है कि पुण्य के बिना इच्छित पदार्थ प्राप्त नहीं होते । इसी अवसर पर दूसरे देश से अपना माल बेचकर तथा अपने देश के योग्य वस्तुएँ लेकर उसके मित्र आ गये । समुद्रदत्त ने उन सबके लिए भोजनादिक दिया । जैसा कि कहा है -

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।

भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥481॥

देता है, लेता है, गुप्त बात कहता है, पूछता है, भोजन करता है और भोजन कराता है; यह छह प्रकार का प्रीति का लक्षण है ॥481॥

मित्रों का मिलना मनुष्यों के लिए परम सुखकारी है । जैसा कि कहा है -

मित्रमेलनञ्च नराणां परमसुखकरम् । तथाहि-

मित्र के आने पर कोई कहता है कि-

स प्रहर: पापहर: सा घटिका सुकृतसारशतघटिका ।

सा वेला सुखमेला यत्र त्वं दृश्यसे मित्र ॥482॥

हे मित्र जिसमें आप दिखायी देते हैं वह पहर पापों को हरने वाला है, वह घड़ी सैकड़ों पुण्यों से श्रेठ उत्तम घड़ी है और वह वेला सुख को मिलाने वाली है ॥482॥

एकदा स समुद्रदत्तोऽशोकसमीपे गत्वा भणति-भो प्रभो! वर्षत्रयं जातं । मदीया: सहायाश्च देशान्तरात् समायाता: । अतो मम सेवामूल्यं दीयताम् । यथाहं निजनगरं प्रति व्रजामि । अशोकेनोक्तम् । भो समुद्रदत्त! पश्यताममीषामश्वानां मध्ये यौ तव प्रतिभासेते तावश्वौ गृहाण । ततो घोटकशालायां गत्वा तौ जलनभोगामिनौ घोटकौ गृहीत्वाशोकस्य दर्शितौ । अशोकेन तौ दृष्ट्वा चिन्ताप्रपन्नेन भणितम्-रे समुद्रदत्त त्वं मूर्खाणामग्रेसर:, किमपि न जानासि । एतावतीव दुर्बलौ कुरूपिणौ । अद्य प्रातर्वा मरिष्यत: इतीमावश्वौ किमर्थं गृहीतौ । अन्यदुपचितं बहुमूल्ययुक्तं दृष्टिप्रियं च घोटकद्वयं गृहाण । तेनोक्तम्-ममैताभ्यामेव प्रयोजनं नान्याभ्याम् । समीपस्थैर्भणितम्-अहो, असौ महामूर्खो दुराग्रही च । अस्य हिताहित- कथनं वृथैव जायते । तथा चोक्तम्-

एक समय वह समुद्रदत्त अशोक के पास जाकर कहता है कि-हे स्वामिन्! तीन वर्ष हो गये और हमारे साथी भी दूसरे देश से आ गये हैं इसलिए मेरी सेवा का मूल्य दिया जाये, जिससे मैं अपने नगर की ओर चला जाऊँ ।
अशोक ने कहा कि - हे समुद्रदत्त! देखने वाले इन घोड़ों के बीच जो दो घोड़े तुम्हें रुचे उन्हें ले लों । तदनन्तर घोड़ों की शाला में जाकर उसने जलगामी और आकाशगामी घोड़े लेकर अशोक को दिखाये । उन घोड़ों को देखकर चिन्ता को प्राप्त हुए अशोक ने कहा - अरे समुद्रदत्त! तू मूर्खों में अगुआ है, कुछ भी नहीं जानता है । ये दोनों घोड़े अत्यन्त दुर्बल और कुरूप हैं आज या प्रात: मर जावेंगे । इसलिए उन घोड़ों को क्यों लेते हो ? दूसरे पुष्ट बहुमूल्य तथा सुन्दर दो घोड़े ले लो ।
समुद्रदत्त ने कहा कि-मुझे इन्हीं से प्रयोजन है अन्य से नहीं ।
समीप में खड़े हुए लोगों ने कहा कि-अहो, यह महामूर्ख तथा दुराग्रही है । इसके लिए हित-अहित की बात कहना व्यर्थ है । जैसा कि कहा है -
शक्यो वारयितुं जलेन दहनं छत्रेण सूर्यातपो
व्याधिर्भैषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम् ।
नागेन्द्रोनिशिताङ्क्वशेन समदौ दण्डेन गोगर्दभौ
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥483॥
अग्नि, पानी से रोकी जा सकती है, सूर्य का घाम, छत्ते से दूर किया जा सकता है, रोग, औषधियों के संग्रह से हटाया जा सकता है, विष, नानाप्रकार के मन्त्रों तथा प्रयोगों से ठीक किया जा सकता है, मदोन्मत्त हाथी तीक्ष्ण अंकुश से वश में किया जा सकता है और बैल तथा गधा, दण्ड के द्वारा ठीक किये जा सकते हैं । इस प्रकार सबकी औषध शास्त्र में बतायी गयी है परन्तु मूर्ख की कोई औषधि नहीं है ॥ 483॥
किञ्च-
और भी कहा है -
मूर्खत्वं हि सखे ममापि रुचितं तस्यापि चाष्टौ गुणा:
निश्चिन्तो बहुभोजनो वठरता रात्रौ दिवा सुप्यते ।
कार्याकार्यविचारणान्धवधिरो मानापमाने सम:
कृत्वा सर्वजनस्य मूर्धनि पदं मूर्ख: सुखं जीवति ॥484॥
किसी मित्र ने किसी को मूर्ख कहा । इसके उत्तर में मित्र, मित्र से कहता है कि हे मित्र! मूर्खता मुझे भी अच्छी लगती है क्योंकि उसमें आठ गुण हैं-मूर्ख मनुष्य निश्चिन्त रहता है, बहुत भोजन करता है, ढीठ होता है, रात-दिन सोता है, कार्य और अकार्य के विचार में अन्धा तथा बहरा रहता है, मान-अपमान में मध्यस्थ रहता है, इस तरह मूर्ख मनुष्य सब मनुष्यों के शिर पर पैर देकर सुख से जीवित रहता है ॥ 484॥
अशोकेनोक्तम्-असौ मन्दभाग्य: । यो मन्दभाग्यस्तस्य समीचीन-वस्तुलाभो नास्तीत्येवं निरूप्य गृहं गत: । अशोक: सर्व-परिवार-लोकं पृष्टवान्-केनास्य वैदेशिकस्य घोटकभेदो दत्त: ? यत:-
अशोक ने कहा कि-यह मन्दभाग्य है । जो मन्दभाग्य होता है उसे अच्छी वस्तु का लाभ नहीं होता । ऐसा कहकर वह अपने घर चला गया । अशोक ने परिवार के सब लोगों से पूछा कि इस परदेशी को घोड़ों का भेद किसने दिया है? क्योंकि-
यत्रात्मीयो जनो नास्ति भेदस्तत्र न विद्यते ।
कुठारैर्दण्ड-निर्मुक्ैश्छेद्यन्ते तरव: कथम् ॥485॥
जहाँ अपने लोग नहीं होते वहाँ भेद नहीं होता । देखो, दण्ड से युक्त कुल्हाड़ों के द्वारा वृक्ष काटे जाते हैं ॥485॥
समस्त परिवार लोकेन शपथं कृत्वा स्वप्रतीतिर्दत्ता । परं केनचिद् धूर्तेनाशोकस्याग्रे कमलश्री-चेष्टितं निवेदितं सर्वमपि । ततोऽशोकेन तत् श्रुत्वा स्वमनसि चिन्तितमहो, दुष्टेयम् । स्त्रीषु गुह्यं न तिष्ठति । यत:-
परिवार के समस्त लोगों ने शपथ लेकर अपना विश्वास दिया परन्तु किसी धूर्त ने अशोक के आगे कमलश्री की सभी चेष्टा कह दी । तब

अशोक ने वह सुन अपने मन में विचार किया कि अहो! यह दुष्टा है । स्त्रियों में गुप्त बात नहीं ठहरती । क्योंकि-

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।

प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तित: ॥486॥

जल में पड़ा हुआ थोड़ा-सा तेल, दुर्जन को प्राप्त हुआ छोटा-सा गुप्त समाचार, पात्र में दिया हुआ थोड़ा-सा दान और बुद्धिमान् मनुष्य को प्राप्त हुआ अल्प शास्त्र वस्तुस्वभाव के कारण स्वयमेव विस्तार को प्राप्त हो जाता है ॥486॥

अन्यच्च-

दूसरी बात यह है -

विचरन्ति कुशीलेषु लङ्घयन्ति कुलक्रमम् ।

न स्मरन्ति गुरं मित्रं पुत्रं च किल योषित: ॥487॥

सुखदु:खजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।

मुह्यन्ति तेऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते स्त्रीणाम् ॥488॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता ।

नि:स्नेहं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषा: स्वभावजा: ॥489॥

स्त्रियाँ कुशील मनुष्यों में घूमती हैं कुल मर्यादा का उल्लंघन करती हैं तथा गुरु, मित्र, पति और पुत्र का स्मरण नहीं करती हैं-इन्हें भूल जाती हैं ॥487॥

जो सुख-दु:ख, जय-पराजय तथा जीवन-मरण आदि को जानते हैं, वे तत्त्वज्ञ मनुष्य भी निश्चय से स्त्रियों की चेष्टा में मोहित हो जाते हैं-वस्तुस्वरूप को भूल जाते हैं ॥488॥

असत्य, दु:साहस, माया, मूर्खता, अत्यधिक लुब्धता, स्नेह रहितता और निर्दयता; ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं ॥489॥

पुनश्च-

और भी कहा है -

स्त्रीं नदीवदिदं सत्यं रसेन गलिता सती ।

उभयभ्रंशमाधत्ते कुलयो: कूलयोरिव ॥490॥

स्त्री नदी के समान है । यह जो कहा जाता है वह सत्य है क्योंकि रस-स्नेह (पक्ष में जल) से शून्य होती हुई वह किनारों के समान दोनों कुलों को नष्ट करती है ॥490॥

पुनरप्यशोकेन चिन्तितम्-यदि तुरङ्गमं न ददाति तर्हि प्रतिज्ञाभङ्ग: । महता प्रतिज्ञाभङ्गो न करणीय: । तथा चोक्तम्-

अशोक ने फिर भी विचार किया कि यदि घोड़ा नहीं देता हूँ तो प्रतिज्ञा भंग होती है और महापुरुष को प्रतिज्ञा भंग नहीं करनी चाहिए । जैसा कि कहा है -

दिग्गजकूर्मचलाचलफणिपतिविधृतापि चलति वसुधेयम् ।

प्रतिपन्नममलमनसां न चलति पुंसां युगान्तेऽपि ॥491॥

दिग्गज, कर्मठ और अत्यन्त स्थिर शेषनाग के द्वारा धारण की हुई भी यह पृथ्वी चल जाती है-कम्पित हो उठती है परन्तु निर्मल चित्त वाले मनुष्यों का स्वीकृत कार्य युगान्तकाल में भी नहीं चलता है-विचलित नहीं होता है ॥491॥

यदि पुत्र्युपरि कोपं करोमि तर्हि सा मर्मज्ञा, अन्यत् किंचिन्निधानादिकं कथयिष्यति । तथा चोक्तम्-

यदि पुत्री के ऊपर क्रोध करता हूँ तो वह सर्व मर्मों को-गुप्त वस्तुओं को जानती है अत: खजाना आदि अन्य कुछ को भी बता देगी । जैसा कि कहा है -

सूपकारं कविं वैद्यं वन्दिनं शस्त्रधारिणम् ।

स्वामिनं धनिनं मूर्खं मर्मज्ञं न प्रकोपयेत् ॥492॥

रसोई बनाने वाले, कवि, वैद्य, चारण, शस्त्रधारक, स्वामी, धनी, मूर्ख और मर्मज्ञ मनुष्य को कुपित नहीं करना चाहिए ॥492॥

इति परिणामसुन्दरं विचार्य समुद्रदत्तमाकार्य सर्वसमक्षं तस्य तौ द्वौ घोटकौ कमलश्रीश्च दत्ता । शुभ-मुहूर्ते विवाह: संजात: । कतिपयदिवसानन्तरमशोकेन समुद्रदत्तस्य यथायोग्यं निरूपितम् मित्रै: सह सभार्य: समुद्रदत्त: स्वदेशं प्रति चलित: तत: पूर्वमशोकेन नाविक: संकेतित:-रे नौवाहक! त्वयास्य समुद्रदत्तस्य समुद्रोत्तरणार्थं घोटकद्वयं याचनीयम् । धीवरेणोक्तम्-अघटितं मया कथं लभ्यते? तथा चोक्तम्-

इस प्रकार सुन्दर फल का विचार कर अशोक ने समुद्रदत्त को बुलाया और सबके सामने उसे वे दो घोड़े तथा कमलश्री पुत्री दे दी । शुभ मुहूर्त में विवाह हो गया । कुछ दिनों के बाद अशोक ने समुद्रदत्त को यथायोग्य बात कही । भार्या सहित समुद्रदत्त, मित्रों के साथ अपने देश की ओर चल पड़ा । इसके पूर्व ही अशोक ने नाविक से संकेत कर दिया था कि हे नाविक! तुम्हें इस समुद्रदत्त से समुद्र की उतराई के लिए दो घोड़े माँगना चाहिए । धीवर नाविक ने कहा कि-असम्भव वस्तु कैसे मिल सकती है ? जैसा कि कहा है -

किवणाण धणं लोए नागाणं मणिं केसराइं सीहाणं ।

कुलबालियाण थणया कुदो घिप्पंति भुवणाणि ॥493॥

कंजूस मनुष्य का धन, साँपों की मणि, सिंहों की गर्दन के बाल और कुलीन स्त्रियों के स्तनों को संसार के प्राणी कैसे छू सकते हैं? **अर्थ** ात् नहीं छू सकते हैं ॥493॥

अशोकेनोक्तम्-किं बहुनोक्तेन? अवश्यं याचय । तेनोक्तम्-एवमस्तु । ततोऽशोको जामात्रा सह कियतीं भूमिमागत्य निजपुत्र्या: शिक्षां दत्वानुज्ञाप्य च धीवरेण कथितं व्याघुटघ स्वगृहमागत: । समुद्रदत्त: सहायादिभि: सह समुद्रतीरे गत: । स कथंभूत: समुद्र:? लोलत्कल्कोलमाल:, फेनचन्द्राभोऽयं, कल्पान्तकेलिकलितजलधर-नक्रचक्रप्रवाल ईदृक् समुद्र: । कैवर्तकेन जलतारणमूल्येन घोटकद्वयं याचितम् । तत: कुपितेन समुद्रदत्तेनोक्तम्-निष्कासितं युक्तं विहाय स्फुटितवराटकमात्रमपि न दास्ये, घोटकयो: का वार्ता ? तेनोक्तम्-एवं चेन्नाहं समुद्रपारं प्रापयिष्यामि भवन्तम् । तद्वचनं श्रुत्वा कर्णान्तविश्रान्तनयनया कमलश्रिया भणितमेकान्ते-हे कान्त! किमर्थं चिन्ता क्रियते । जलगामिनं तुरङ्गमारुह्याकाशगामिनं हस्ते धृत्वा समुद्रमुत्तीर्य निज-गृहं गम्यते आवाभ्याम् । समुद्रदत्तस्तथैव कृत्वा निजगृहं गत: । सहाया अपि क्रमेण याता: । सर्वेषां स्वकीयानां हर्षो जात: । कमलश्रिया समं सुखेन वैषयिकसुखमनुभवन् समुद्रदत्तो गमयति कालम् । एकदा गगनगामी तुरङ्ग: समुद्रदत्तेन सुदण्डाय राज्ञे दत्त: । सन्तुष्टेन तेन राज्ञार्धं राज्यं निजपुत्र्यनङ्गसेना च विवाहयितुं दत्ता । तत: समुद्रदत्त: सुखीभूत्वा परत्र सुखसाधनं यद् दानपूजादिकं तत् सर्वमपि करोति । एकदा तेन सुदण्डेन राज्ञासावश्व: परममित्रसूरदेवश्रेष्ठिहस्ते प्रयत्नार्थं दत्त: । उत्तमानां मैत्री आधिपत्येऽपि न गच्छति । तदुक्तम्-

अशोक ने कहा कि - बहुत कहने से क्या लाभ है ? तुम अवश्य ही घोड़े माँगो ।

उसने कहा - ऐसा हो ।

तदनन्तर जामाता के साथ कुछ दूर आकर, अपनी पुत्री को शिक्षा देकर तथा धीवर को कही हुई बात को बार-बार जता कर अशोक लौटकर अपने घर आ गया । समुद्रदत्त मित्रों आदि के साथ समुद्रतट पर आया । वह समुद्र कैसा था ? जिसमें तरंगों का समूह चंचल था, जो फमन के द्वारा चन्द्रमा के समान था तथा प्रलयकाल की क्रीड़ा से युक्त मेघ, मगरमच्छों के समूह और मूंगाओं से युक्त था, ऐसा था वह समुद्र । नाविक ने जल उतराई के मूल्य द्वारा दो घोड़े माँगे । तब कुपित होकर समुद्रदत्त ने कहा कि - योग्य उतराई को छोड़कर मैं फूटी कौड़ी भी नहीं दूँगा, घोड़ों की बात ही क्या है? नाविक ने कहा कि - यदि ऐसा है तो मैं आपको समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाऊँगा । उसके वचन सुन कानों तक लम्बे नेत्रों वाली कमलश्री ने एकान्त में कहा कि - हे नाथ! चिन्ता क्यों की जा रही है ? जलगामी घोड़े पर सवार होकर और आकाशगामी घोड़े को हाथ से पकड़ कर समुद्र को पार कर हम दोनों अपने घर चलेंगे । समुद्रदत्त वैसा ही कर अपने घर चला गया । उसके साथी भी क्रम से घर पहुँच गये । सभी आत्मीयजनों को हर्ष हुआ । कमलश्री के साथ विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव करता हुआ समुद्रदत्त सुख से समय व्यतीत करने लगा ।

एक समय समुद्रदत्त ने आकाशगामी घोड़ा सुदण्ड राजा के लिए दे दिया । उससे सन्तुष्ट हुए राजा ने उसके लिए आधा राज्य और अनंगसेना नाम की अपनी पुत्री विवाहने के लिए दे दी ।

तदनन्तर समुद्रदत्त सुखी होकर परलोक में सुख का साधन जो दान, पूजा आदि है उन सबको करने लगा । एक दिन सुदण्ड राजा ने वह घोड़ा रक्षा करने के लिए परममित्र सूरदेव सेठ के हाथ में दे दिया । ठीक ही है क्योंकि उत्तम मनुष्यों की मित्रता आधिपत्य-स्वामित्व प्राप्त

होने पर भी नहीं जाती है । जैसा कि कहा है -
जिस प्रकार दिन के पूर्वार्ध की छाया प्रारम्भ में बड़ी होती है पश्चात् क्रम से घटती जाती है और अपराह्न की छाया प्रारम्भ में छोटी होती है पीछे बढ़ती जाती है । उसी प्रकार दुर्जन और सज्जन की मित्रता होती है **अर्थ**ात् दुर्जन की मित्रता प्रारम्भ में बड़ी होती है पीछे घटती जाती है और सज्जन की मित्रता प्रारम्भ में छोटी होती है पीछे बढ़ती जाती है ॥494॥
प्रारम्भे गुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्ध-परार्ध भिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्॥494॥
चिन्तागूढगदार्तानां मित्रं स्यात्परमौषधम् ।
यतो युक्तमयुक्तं वा सर्वं तत्र निवेद्यते॥495॥
चिन्तारूपी गुप्त रोग से पीड़ित मनुष्यों के लिए मित्र उत्कृष्ट औषध है क्योंकि उसके लिए युक्त और अयुक्त सभी कुछ कह दिया जाता है ॥495॥
पापं निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्त: ॥496॥
पाप को दूर करता है, हित के लिए प्रेरित करता है, गुप्त बात को छिपाता है गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति में पड़े हुए साथी को नहीं छोड़ता है और समय पर सहायता देता है । सत्पुरुष, समीचीन मित्र के ये लक्षण कहते हैं ॥496॥
स श्रेठी महता प्रयत्नेन तमश्वं प्रतिपालयति । एकदा तेन सूरदेवेन स्वमनसि चिन्तितम्-अहो! असावश्वोनभोगामी ।
अस्योपयोगस्तीर्थयात्राकरणेन किमर्थं न गृह्यते । तदुक्तम्-
वह सेठ बड़े प्रयत्न से उस घोड़े की रक्षा करता था । एक दिन उस सूरदेव सेठ ने अपने मन में विचार किया कि अहो, यह घोड़ा आकाशगामी है । इसका उपयोग तीर्थयात्रा करके क्यों न किया जाये? क्योंकि कहा है -
यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुष: ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य: प्रयत्नो महा-
नादीप्ते भवने प्रकूपखननं प्रत्युद्यम: कीदृश: ॥497॥
जब तक यह शरीर रोगों से रहित होकर स्वस्थ है, जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक पञ्चेन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है और जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है तभी तक विद्वान् को आत्मकल्याण के विषय में बहुत भारी प्रयत्न कर लेना चाहिए क्योंकि भवन के जलने पर कुआं खुदवाने का उद्यम कैसा ? **अर्थ**ात् व्यर्थ है ॥497॥
ततो लालयित्वा वारत्रयं करेण ताडयित्वाश्वमारुह्याष्टम्यां, चतुर्दश्यां च पर्वसु विजयार्धपर्वतस्थित-जिनालयान् पश्यति ।
कैलासादिशाश्वतचैत्येष्वपि जिनेन्द्रवन्दनां विदधाति । एवं महता सुखेन तस्य कालो गच्छति । यत:-
तदनन्तर पुचकार कर और तीन बार हाथ से ताड़ित कर वह घोड़े पर सवार हो जाता है । इस प्रकार वह अष्टमी और चतुर्दशीरूप पर्व के दिनों में विजयार्ध पर्वत पर स्थित जिन मन्दिरों के दर्शन करने लगा तथा कैलासादि पर्वतों के शाश्वत मन्दिरों में भी जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना करता था ।
इस प्रकार बड़े सुख से उसका समय व्यतीत होता था । क्योंकि -
धर्मशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
इतरेषां मनुष्याणां निद्रया कलहेन च ॥498॥
बुद्धिमान् मनुष्यों का काल धर्मशास्त्र के विनोद से व्यतीत होता है और अन्य मनुष्यों का काल निद्रा तथा कलह के द्वारा बीतता है ॥498॥
स श्रेठी सूरदेवश्च महातत्त्वज्ञ: सुदृढसम्यक्त्व आसीत् ।

वह सूरदेव महान् तत्त्वज्ञानी तथा दृढ़ सम्यक्त्व से युक्त था । जैसा कि कहा है -

अयं स्वात्मस्वरूपज्ञस्तत्त्ववेदी विदां वर: ।
सर्वं हेयमुपादेयं वेत्ति जैनो यतिर्यथा ॥499॥
न केनाप्यन्यथा कर्तुं शक्यते दृढबुद्धिमान् ।
रागवाक्यमहावातैरचलोऽचलवद् ध्रुवम् ॥500॥

यह निज स्वरूप का ज्ञाता था, तत्त्वज्ञ था, ज्ञानियों में श्रेठ था, जैन साधु के समान समस्त हेय-उपादेय को जानता था, यह दृढ़ बुद्धिमान् किसी के द्वारा भी अन्यथा नहीं किया जा सकता था तथा रागपूर्ण वचनरूपी प्रचण्ड वायु के द्वारा भी पर्वत के समान निश्चित हो निश्चल रहता था ॥499-500॥

एकदा पल्लीपतेर्जितशत्रोरग्रे निर्जनं कृत्वा केनाप्युक्तम्-हे देव! कौशाम्ब्यां सूरदेवश्रेष्ठिसमीपे नभोगामी तुरङ्गमोऽस्ति । स श्रेठी तमारुह्य प्रतिदिनं पल्ल्या उपरि जिनदेवपूजार्थं याति गगनमार्गेण । यदुक्तम्-

एक दिन पल्ली नगर के राजा जितशत्रु के आगे एकान्त कर किसी ने कहा कि-हे राजन्! कौशाम्बी में सूरदेव सेठ के पास आकाशगामी घोड़ा है । वह सेठ प्रतिदिन उस पर सवार होकर पल्ली नगर के ऊपर आकाश मार्ग से जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए जाता है । जैसा कि कहा है -

अपि स्वल्पतरं कार्यं यदभवेत्पृथिवीपते: ।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेद् बृहस्पति: ॥501॥
चारणैर्वन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्मालिकैस्तथा ।
न मंत्रं मतिमान् कुर्यात् सार्धं भिक्षुभिरेव च ॥502॥

राजा का अत्यन्त छोटा कार्य हो तो भी उसे सभा के बीच नहीं कहना चाहिए, यह नीतिशास्त्र के कर्ता बृहस्पति ने कहा है ॥501॥
चारण, बन्दी, नीच, नाई, माली और भिक्षुओं के साथ बुद्धिमान् मनुष्य कोई मन्त्रणा नहीं करे ॥502॥

इति तद्वच: श्रुत्वा पल्लीपतिस्तूष्णीं स्थित: । अन्यदा गगनमार्गे गच्छन्तमश्वं दृष्टवा पल्लीपतिनोक्तम् स्वमनसि-दुर्बलोऽप्यसौ प्रधानगुणकृद् भाति । यदुक्तम्-

इस प्रकार उसके वचन सुन पल्ली नगर का राजा जितशत्रु चुप रह गया । किसी समय आकाश मार्ग में जाते हुए उस घोड़े को देखकर पल्ली नगर के राजा ने अपने मन में कहा कि-यह दुर्बल होकर भी उत्तम गुणों को करने वाला है । जैसा कि कहा है -

मणि: शाणोल्लीढ: समरविजयी हेति-निहतो
मदक्षीणो नाग: शरदि सरित: श्यानपुलिना: ।
कलाशेषश्चन्द्र: सुरतमृदिता बाल-वनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नरा: ॥503॥

शाण पर कसा हुआ मणि, युद्ध में विजय प्राप्त करने या घायल सैनिक, मद के कारण दुर्बलता को प्राप्त हुआ हाथी, शरद ऋतु में जिनके किनारे सूख गये हैं ऐसी नदियाँ, कला मात्र से शेष रहने वाला चन्द्रमा, संभोग द्वारा मर्दित बाला स्त्री और याचकों को धन देकर निर्धनता को प्राप्त हुए मनुष्य, ये सब कृशपने से शोभित होते हैं ॥503॥

तदनन्तरं सुभटानामाग्रे निरूपितं जितशत्रुणा यो वीर एनमश्वमानीय मम समर्पयति तस्यार्ध राज्यं स्वपुत्रीं च दास्यामि । यदुक्तम्-

तदनन्तर राजा जितशत्रु ने सैनिकों के आगे कहा कि-जो वीर इस घोड़े को लाकर मुझे सौंपेगा उसे आधा राज्य और अपनी पुत्री दूँगा । जैसा कि कहा है-

अतिमलिने कर्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धी: ।
तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टि: ॥504॥

अत्यन्त मलिन कार्य के करने में दुर्जनों की बुद्धि अत्यन्त निपुण होती है क्योंकि उल्लुओं की दृष्टि अन्धकार में रूप को ग्रहण करती है ॥ 504॥

सर्वसुभटेष्वधोमुखेषु सत्सु कुन्तलनाम्ना सुभटेनोक्तम्-स्वामिन्नहमेनमानयामीति प्रतिज्ञां कृत्वा स देशान्तरे चलित: । तत्र तेन सर्व उपाया विलोकिता: परं श्रेष्ठिगृहे-प्रवेशक एकोऽप्युपायो न स्फुरितस्तस्य हृदि ततोऽति विखिन्नो जात: । कियता कालेन जिनधर्मोपायं लब्ध्वा महता प्रपञ्चेन कस्मिंश्चिद् ग्रामे स्थितस्य सागरचन्द्र-मुनिनाथस्य पार्श्वे कपटव्या देववन्दनादिकशास्त्रं पठित्वा विशिष्टश्राद्धो जात: । कुन्तलो ब्रह्मचारी, सचित्तपरिहारी, प्रासुकाहारी, नियतकालावश्यकारी, भूमिसंस्तारी, चेत्यादिविशेषणयुक्त: षठाष्टमादितप: करोति । तप: प्रभावाल्लोकपूज्यो जात: । यदुक्तम्-

जब सब सुभट नीचा मुख कर चुप रह गये तब कुन्तल नाम के सुभट ने कहा कि - हे स्वामिन्! मैं लाता हूँ । ऐसी प्रतिज्ञा कर वह अन्य देश में चला गया । वहाँ उसने सब उपाय देखे परन्तु सेठ के घर में प्रवेश कराने वाला एक भी उपाय उसके हृदय में प्रकट नहीं हुआ इसलिए वह अत्यन्त खिन्न हुआ । कुछ समय में उसने जिनधर्मरूपी उपाय को प्राप्त किया **अर्थ**ात् बड़े भारी प्रपञ्च से वह जैनी बन गया । उसने किसी गाँव में स्थित सागरचन्द्र मुनिराज के पास कपट से देववन्दना आदि के शास्त्र पढ़ लिए और एक विशिष्ट श्रावक बन गया । प्रसिद्ध हो गया । कुन्तल ब्रह्मचारी, सचित्त वस्तुओं का त्यागी है, प्रासुक आहार ग्रहण करता है, नियतकाल पर सामायिक आदि आवश्यकों को करता है और भूमि पर सोता है । इत्यादि विशेषणों से युक्त हुआ वह वेला-तेला आदि तप करता है । तप के प्रभाव से वह लोकपूज्य हो गया । जैसा कि कहा है -

तपसा प्राप्यते राज्यं तपसा स्वर्गसम्पद: ।
तपसा शिव-सौख्य्र त्रैलोक्यैश्वर्यकृत्तप: ॥505॥

तप से राज्य प्राप्त होता है, तप से स्वर्ग की संपदाएँ मिलती हैं, तप से मोक्ष का सुख उपलब्ध हो सकता है और तप तीन लोक के ऐश्वर्य को करने वाला है॥505॥

सुजनसङ्गो हि लोके महागुणकारी वर्तते । तदुक्तम्-

वास्तव में सज्जनों का समागम लोक में महान् गुणकारी है । जैसा कि कहा है-

सुजनस्य हि संसर्गैर्नीचोऽपि गुरुतां व्रजेत् ।
जाह्नवी तीर सम्भूतो जनै रेण्वपि वन्द्यते ॥506॥

सज्जन की संगति से नीच मनुष्य भी गौरव को प्राप्त हो जाता है क्योंकि गंगातट पर उत्पन्न हुई धूलि भी मनुष्यों द्वारा वन्दित होती है-पूजी जाती है ॥506॥

क्रमेण क्राम्यन् कौशम्ब्यामागत: सूरदेव-कारित-सहस्रकूट-चैत्यालय एत्य कपटाच्चक्षूरोगमिषेण पटकं बद्ध्वा स्थित: । लोकानां पृच्छतां कथयति-मम महती चक्षुर्व्यथा वर्तते । अहमुपवासं करिष्ये । यदुक्तम्-

कपटी ब्रह्मचारी कुन्तल, क्रम से चलता हुआ कौशाम्बी नगरी में आ पहुँचा और सूरदेव सेठ के द्वारा बनवाये हुए सहस्रकूट चैत्यालय में ठहर गया । वह कपट से नेत्ररोग का बहाना कर पट्टी बाँधे रहता था । पूछने वाले लोगों से कहा करता था कि मुझे नेत्र की बहुत पीड़ा है इसलिए मैं उपवास करँगा । जैसा कि कहा है -

अक्षिरोगी कुक्षिरोगी शिरोरोगी व्रणी-ज्वरी ।
एतेषां पञ्चरोगाणां लङ्घनं परमौषधम् ॥507॥

नेत्ररोगी, पेट का रोगी, शिर का रोगी, नासूर का रोगी और ज्वर का रोगी-इन पाँच रोगों वाले पुरुषों को लंघन करना उत्कृष्ट औषध है ॥507॥

एकदा सूरदेवेन श्रेष्ठिना पूजार्थमागतेन पृष्टो देवलक: । हे देवलक: अद्य कोऽप्यतिथि: समागतो अस्ति किम्? तेनोक्तम्-हे श्रेष्ठिन्! नयनव्यथाव्याधितो महातपस्वी ब्रह्मचर्यातिथि: समागतोऽस्ति । तद्वच: श्रुत्वा झटिति चैत्यालये गत: इच्छाकारं कृत्वा श्रेठी भणति । भो धार्मिक! मम प्रसादं कुरु । गृहे पारणार्थमागच्छ । तत्र तव नयनौषधलाभो भावी । भेषजं विना नयन रोगोपशमो न भविष्यति । तेन मायाविनोक्तम्-हे श्रेष्ठिन् । ब्रह्मचारिणां गृहिगृहे स्थितिरनुचिता । श्रेठ्याह निवृत्तरागस्य पुंसो गृहमिदं वनमिदमिति भेदो न । यदुक्तम्-

एक दिन पूजा के लिए आये हुए सेठ ने पुजारी से पूछा कि हे पुजारी जी! आज कोई अतिथि आया है क्या? पुजारी ने कहा कि-हे सेठ जी! नेत्र की पीड़ा से पीड़ित महातपस्वी ब्रह्मचारी अतिथि आया है । पुजारी के वचन सुन सेठ शीघ्र ही मन्दिर गया और इच्छाकार कर

उससे कहने लगा कि - हे धर्मात्मन्! मुझ पर प्रसन्नता करो, पारणा के लिए घर पर पधारिये, वहाँ आपको नेत्र की औषध भी मिल जायेगी क्योंकि औषध के बिना नेत्र रोग शान्त नहीं होगा ।

उस मायाचारी ने कहा कि - हे सेठ जी! ब्रह्मचारियों को गृहस्थ के घर में रहना अनुचित है । सेठ ने कहा कि-जिसका राग दूर हो गया है उस पुरुष के लिए यह घर और यह वन इसका भेद नहीं है । जैसा कि कहा है -

वनेऽपि दोषा: प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहं तप: ।

अकुत्सिते कर्मणि य: प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥508॥

रागी मनुष्यों को वन में भी दोष उत्पन्न होते हैं और घर में भी पञ्चेन्द्रियों के निग्रह रूप तप किया जाता है । जो उत्तम कार्य में प्रवृत्ति करता है उस राग रहित मनुष्य का घर ही तपोवन है ॥508॥

इत्यादि कथनेन सम्बोध्य महता कष्टेन गृहमानीतो ब्रह्मचारी । केनचिद् धूर्तेन तं मायाविनं दष्ट्वा श्रेष्ठिनोऽग्रे भणितम्-भो श्रेष्ठिन्! नासौ ब्रह्मचारी, किन्तु दम्भकारी महाधूर्तस्तव गृहं मुषित्वा गमिष्याति एतच्छ्रुत्वा श्रेष्ठिनोक्तम्-रे पापिठ! जितेन्द्रियस्य निन्दा सर्वथा न कर्तव्या । जितेन्द्रियो लोकमध्ये दुर्लभ: । निन्दक: पापभाक् स्यात् । वणि्र्ना दम्भधार्मिकेणाभाणि-भो श्रेष्ठिवर अस्य पुण्यवत् उपरि कोपं मा कुरु । श्रेष्ठिना चिन्तितम्-अहो, सत्पुरुषोऽयमस्य निन्दास्तुतिविधायिनि हर्षद्वेषौ न स्त: श्रेष्ठिसमीपस्थैर्जनैर्भणितम्-अस्य धार्मिकस्याहंकारो नास्त्येव । ततस्तेन मायाविना कथितम्-य: सर्वज्ञो भवति स गर्वं न करोत्यन्यस्य का वार्ता? तदुक्तम्-

इत्यादि कथन के द्वारा समझा कर बड़े कष्ट से ब्रह्मचारी को घर ले आया । किसी धूर्त ने उस मायाचारी को देखकर सेठ के आगे कहा कि-हे सेठजी! यह ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु कपटी महाधूर्त हैं आपके घर को लूटकर जायेगा ।

यह सुन सेठ ने कहा कि - अरे पापी! जितेन्द्रिय की निन्दा सर्वथा नहीं करना चाहिए । लोगों के बीच जितेन्द्रिय मनुष्य दुर्लभ होता है । निन्दा करने वाला पाप को प्राप्त होता है । कपटी धर्मात्मा बने हुए उस ब्रह्मचारी ने कहा कि-हे सेठजी! इस पुण्यात्मा के ऊपर क्रोध मत कीजिये । सेठ ने विचार किया कि अहो, यह सत्पुरुष है, निन्दा और स्तुति करने वाले के ऊपर इसे हर्ष विषाद नहीं है ।

सेठ के पास खड़े लोगों ने कहा कि - इस धर्मात्मा को अहंकार है ही नहीं ।

तब उस मायाचारी ने कहा कि - जो सर्वज्ञ होता है वह गर्व नहीं करता फिर अन्य की तो बात ही क्या है? जैसा कि कहा है-

अहङ्कारेण नश्यन्ति सन्तोऽपि गुणिनां गुणा: ।

कथं कुर्यादहङ्कारं गुणार्थी गुणनाशनम् ॥509॥

वृश्चिक: पुच्छमात्रेण मूर्ध्नि वहति कण्टकम् ।

भरन् विष-सहस्राणि गर्वं नायाति पन्नग: ॥510॥

जब अहंकार से गुणी मनुष्यों के विद्यमान गुण भी नष्ट हो जाते हैं तब गुणों का अभिलाषी मनुष्य गुणनाशक अहंकार को कैसे कर सकता है? ॥509॥

बिच्छू के एक काँटा है उसे ही वह पूँछ के द्वारा अपने शिर पर धारण करता है परंतु सर्प विष रूप हजारों काँटों को धारण करता हुआ भी गर्व को प्राप्त नहीं होता है ॥510॥

तत: सूरदेवेन श्रेष्ठिना तं वर्णिनं महाभक्त्या स्वगृहं समानीय भोजनं कारयित्वा यत्र घोटकोऽस्ति तत्र विजने स्थापित: । प्रतिदिनमत्यर्थं वैयावृत्यं करोति श्रेठी स्वयमेव । स धार्मिकोऽप्यनुदिनमुपदेशदानेन श्रेष्ठिनं संतोषयत्येव । हे श्रेष्ठिन्! त्वं धन्यो यज्जिनोक्तानि षट् कर्माणि करोषि । मुनयोऽपि तव गृहे भिक्षार्थमागच्छन्ति । यदुक्तम्-

तदनन्तर सूरदेव सेठ ने उस ब्रह्मचारी को बड़ी भक्ति से अपने घर लाकर भोजन कराया और जहाँ एकान्त में वह आकाशगामी घोड़ा रहता था, वहाँ उसे ठहरा दिया । सेठ स्वयं ही प्रतिदिन उस ब्रह्मचारी की अत्यधिक वैयावृत्य-सेवा करता था । वह दम्भी धार्मिक भी प्रतिदिन उपदेश देकर सेठ को सन्तुष्ट करता था । वह कहा करता था कि हे सेठ जी, तुम धन्य हो जो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए छह कर्मों को करते हो । मुनि भी भिक्षा के लिए तुम्हारे घर आते हैं । श्रावक के छह कर्म ये हैं ।

देवपूजा गुरुपास्ति: स्वाध्याय: संयमस्तप: ।

दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥511॥

देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान; ये गृहस्थों के प्रतिदिन करने योग्य छह कर्म हैं ॥511॥

एवं सति निद्राविलासिनीवेष्टितमेकदा श्रेष्ठिनं दृष्ट्वा रात्रावश्वमारुह्याकाशमार्गे निर्गतो वर्णी । तेन कुन्तलेनाश्वस्य कशाघातो दत्त: । तं कशाघातमसहमानेनाश्वेन भूमौ पतितो वर्णी दम्भक: । स पतित: सन् चिन्व्यति- अहो, मम दुर्बुद्धिर्जाता । येनाङ्गभङ्गो मरणं च विजने जातम् । सम्प्रति किं करोमि? तत्र स कु न्तल: पीडया तृषा बुभुक्षादिना च मृत: । स वाजिराजोऽप्यष्टापदे गत्वा चैत्यालयस्य त्रिप्रदक्षिणां दत्वा जिनं नत्वा च जिनाग्रे स्थित: । अस्मिन् प्रस्तावे चिन्तागतिमनोगतिचारणश्रमणयुगलं चैत्यनमस्करणार्थं समागतम् । तदैव काले बहुविद्याधराश्च समागता: । देवं वन्दित्वा जिनाग्रे स्थितमश्वं दृष्ट्वा केनचिद् विद्याधरेशेन पृष्टम्-हे मुने! कोऽयमश्व: किमर्थं जिनाग्रे स्थितोऽस्ति । ततो मुनिनावधिना विज्ञाय आमूलचूलं घोटकवृत्तान्त: कथित: । पुनरुक्तं मुनिना- हे खगपते! अश्वनिमित्तं सूरदेव श्रेष्ठिनो महोपसर्गो वर्तते । अतएव लालयित्वा त्रिभिवरै: करेण ताड़यित्वा चाश्वमारुह्य श्रेष्ठिसमीपे धर्मरक्षणार्थं झटिति गच्छ । यदुक्तम्-

ऐसा होने पर एक दिन सेठ को निद्रारूपी स्त्री से आलिंगत-सोता हुआ देखकर वह ब्रह्मचारी घोड़े पर सवार हो आकाश मार्ग से चला गया । उस कुन्तल ने घोड़े पर कोड़े का प्रहार किया । कोड़े के प्रहार को न सहन कर घोड़े ने उस कपटी ब्रह्मचारी को नीचे गिरा दिया । नीचे गिरता हुआ कुन्तल विचार करता है कि अहो! मेरी दुर्बुद्धि हो गयी जिससे अंग-भंग और निर्जन स्थान में मरण का अवसर आया । अब क्या करँ ? वह कुन्तल अंग-भंग की पीड़ा, प्यास तथा भूख आदि से मर गया ।

वह घोड़ा भी कैलाश पर्वत पर जाकर मन्दिर की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर तथा जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर उनके आगे खड़ा हो गया । उसी समय चिन्तागति और मनोगति नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज प्रतिमाओं को नमस्कार करने के लिए आये थे । उसी समय बहुत से विद्याधर भी वहाँ आ गये । देववन्दना कर जिनेन्द्रदेव के आगे खड़े हुए घोड़े को देखकर किसी विद्याधर राजा ने पूछा कि हे मुनिराज! यह घोड़ा कौन है ? और किसलिए जिनेन्द्र भगवान् के आगे खड़ा है । तदनन्तर मुनिराज ने अवधिज्ञान से जानकर घोड़े का प्रारंभ से लेकर अन्त तक का सब वृत्तान्त कह दिया । पश्चात् मुनिराज ने यह भी कहा कि-हे विद्याधर नरपते! घोड़े के कारण सूरदेव के ऊपर बड़ा उपसर्ग आ पड़ा है इसलिए पुचकार कर तथा तीन बार हाथ से ताड़ित कर घोड़े पर सवार हो जाओ और धर्म की रक्षा करने के लिए शीघ्र ही सेठ के पास जाओ । जैसा कि कहा है -

भृष्टं कुलं कूपतडागवापी: प्रभृष्टराज्यं शरणागर्त ।

गां ब्राह्मणं जीर्णसुरालयं च य उद्धरेत्पुण्यं चतुर्गुणं स्यात् ॥512॥

भ्रष्टकुल का, जीर्णशीर्ण कुआं, तालाब और बावड़ी का, राज्यभ्रष्ट शरणागत राजा का, गाय का, ब्राह्मण का तथा जीर्ण मन्दिर का जो उद्धार करता है उसे चौगुना पुण्य होता है ॥512॥

एतद्वचनं श्रुत्वा खेचराधिपो घोटकमारुह्याकाशमार्गेण यावत् कोशाम्बीनगर्यामागच्छति तावत्तत्र किं जातम्? निद्राविलासिनीं परित्यज्य श्रेठी यावदुत्तिष्ठति तावद् वाजिनं नापश्यत् । कर्मकरान् प्रति भणति भो कर्मकरा: अश्व: यास्ते? तैरुक्तम्-वयं न जानीम: । पश्चात्सर्वत्र विलोकितोऽपि न दृष्टस्ततश्चिन्ता जाता । श्रेष्ठिना भणितम्-अहो खलानां महाप्रपञ्चं कोऽपि न जानाति । यदुक्तम्-

यह वचन सुन विद्याधर राजा घोड़े पर सवार हो आकाशमार्ग से जब तक कौशाम्बी नगरी में आता है तब तक क्या हुआ? निद्रारूपी स्त्री का परित्याग कर-जागकर जब सेठ उठता है तब उसने घोड़ा नहीं देखा । काम करने वाले सेवकों से उसने कहा कि-हे कर्मचारियों! घोड़ा कहाँ है ?

उन्होंने कहा कि-हम नहीं जानते हैं । पश्चात् सब जगह देखने पर भी जब घोड़ा नहीं दिखा तब चिन्ता हुई । सेठ ने कहा कि-अहो! दुष्टों के प्रपञ्च को कोई नहीं जानता है । जैसा कि कहा है-

न सूरि: सुराणां रिपुर्नासुराणां, पुराणां रिपुर्नापि नापि स्वयंभू: ।

खलानां चरित्रे खला एव विज्ञा भुजङ्ग प्रयातं भुजङ्गा: विदन्ति ॥513॥

दुर्जनों के चरित्र को न देवों का गुरु-बृहस्पति जानता है, न असुरों का शत्रु जानता है, न रुद्र जानता है, न ब्रह्मा जानता है । वास्तव में दुर्जनों की चेष्टा में दुर्जन ही निपुण होते हैं क्योंकि साँप की चाल को साँप ही जानते हैं ॥513॥

और भी कहा है-

एके सत्पुरुषा: परार्थघटका: स्वार्थं परित्यज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत: स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसा: परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥514॥

जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरे का **अर्थ** सिद्ध करते हैं, वे सत्पुरुष तो एक ही हैं सबसे महान् हैं । जो अपने प्रयोजन का विरोध कर दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने में उद्यमी रहते हैं, वे सामान्य हैं । जो अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए दूसरों के हित को नष्ट करते हैं । वे मनुष्य राक्षस हैं और जो निरर्थक ही दूसरे के हित को नष्ट करते हैं वे कौन हैं? यह हम नहीं जानते ॥514॥

तत: स्वमनसि चिन्तितम्-अहो, ममाशुभकर्माद्य समायातम् । अश्वनिमित्तमवश्यं राजा शिरश्छेदं करिष्यति । यत् सुखं दु:खं वा, भोक्तव्यं मे भविष्यति । एवं निश्चित्य स्वकुटुम्बमाकार्य भणितम्-मम यद्भाव्यं तद् भवतु तथापि दानपूजादिकं न त्यजनीयं भवद्भि: । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर अपने मन में विचार किया कि अहो, आज मेरा अशुभ कर्म आया है । घोड़े के कारण राजा अवश्य ही शिरच्छेद करेगा । जो सुख अथवा दु:ख होगा वह मुझे भोगने के योग्य है । ऐसा विचार कर तथा अपने कुटुम्ब को बुलाकर कहा कि-मेरा जो होनहार है वह हो तथापि आप लोगों को दान पूजा आदि का त्याग नहीं करना चाहिए । जैसा कि कहा है -

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै-
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या: ।
विघ्नै: पुन: पुनरपि प्रतिहन्यमाना:
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥515॥

नीच मनुष्य, विघ्नों के भय से कार्य का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं, मध्यम मनुष्य कार्य का प्रारम्भ तो करते हैं परन्तु विघ्नों से पीड़ित हो विरत हो जाते हैं, परन्तु उत्तम मनुष्य विघ्नों के द्वारा बार-बार पीड़ित होने पर भी प्रारंभ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते हैं ॥515॥

केनचिदुपहासेन भणितम्-भो श्रेष्ठिन्! तव गुरु: समीचीनमकार्षीत् न श्रेष्ठिनोक्तम्-भो मूर्ख! स मायावी । एकस्यापराधेन किं दर्शनहानिर्जायते? ततो जिनशासनं निर्मलम्, इह परलोके सुखदायि च । स मायावी स्व-पापेन निधनं यास्यति । तथा चोक्तम्-

किसी ने हँसी में सेठ से कहा कि- हे सेठजी! तुम्हारे गुरु ने अच्छा किया न ?

सेठ ने कहा कि - हे मूर्ख! वह मायाचारी था परन्तु एक के अपराध से क्या दर्शन की हानि होती है? क्योंकि जिनशासन निर्मल है और इहलोक तथा परलोक में सुख देने वाला है । वह मायाचारी अपने पाप से मरण को प्राप्त होगा ।

और कहा भी है -

अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् ।
न हि भेके मृते याति समुद्र: पूतिगन्धताम् ॥516॥

असमर्थ मनुष्य के अपराध से क्या धर्म मलिन होता है ? क्योंकि-मेंढ़क के मर जाने से क्या समुद्र दुर्गन्ध को प्राप्त होता है? **अर्थ**ात् नहीं ॥516॥

किञ्च-

और भी कहा है -

कर्णेजपानां वचनप्रपञ्चान्महत्तमा: यापि न दूषयन्ति ।
भुजङ्गमानां गरल-प्रसङ्गान्नापेयतां यान्ति महा सरांसि ॥517॥

चुगलखोर मनुष्य के मायापूर्ण वचनों से उत्तम मनुष्य कहीं भी दोष युक्त नहीं होते क्योंकि सर्पों के विष के प्रसंग से बड़े-बड़े तालाब अपेय अवस्था को प्राप्त नहीं होते ॥517॥

अन्यत्र-

और भी कहा है -

काल: सम्प्रति वर्तते कलियुग: सत्या नरा दुर्लभा,
देशाश्च प्रलयं गता: करभरैर्लोभं गता: पार्थिवा: ।

नाना चोरगणा मुषन्ति पृथिवीमार्यो जन: क्षीयते,
साधु: सीदति दुर्जन: प्रभवति प्राय: प्रविष्ट:कलि: ॥518॥

इस समय कलिकाल चल रहा है, क्योंकि सत्य मनुष्य दुर्लभ है, देश टैक्सों के भार से नष्ट हो गये हैं, राजा लोभ को प्राप्त हो चुके हैं, अनेक चोरों के दल पृथ्वी को लूट रहे हैं, आर्य मनुष्य ह्रास को प्राप्त हो रहे हैं, सज्जन दु:खी हो रहे हैं और दुर्जन प्रभाव युक्त हो रहे हैं, ठीक है प्राय: कर कलिकाल प्रविष्ट हो चुका है ॥518॥

तदनन्तरं श्रेठी झटिति चैत्यालयं गत: । देववन्दनां कृत्वा भणति भो परमेश्वर! यदा ममायमुपसर्गो गच्छति तदान्नपानादिप्रवृत्तिर्नान्यथेत्युच्चार्य देवस्याग्रे सल्लेखनां कृत्वा स्थित: । ततो घोटकवृत्तान्तं सर्वमपि श्रुत्वा कुपितेन राज्ञा भणितम्-भो भटा:! सूरदेवस्य शिरश्छेदं विहायान्यत् किमपि न करणीयं तथा सर्वमपि गृहं मोषणीयम् । राज्ञ: समीपस्थैरपि जनैस्तथैव भणितम् । "" यथा राजा तथा प्रजाङ्ग" इति । ततो यमदण्डतलवरमाकार्य राज्ञा भणितम्-मदीय: शत्रुसूरदेवस्योत्तमाङ्गं छेदयित्वा झटिति समानय मम समीपे । यदुक्तम्-

तदनन्तर सेठ शीघ्र ही जिनमन्दिर गया और देववंदना कर कहने लगा कि - हे परमेश्वर! जब मेरा यह उपसर्ग टल जायेगा तब अन्न-पान में प्रवृत्ति होगी अन्यथा नहीं । ऐसा उच्चारण कर वह देव के आगे सल्लेखना का नियम लेकर खड़ा हो गया । तत्पश्चात् घोड़े का सब वृत्तान्त सुनकर क्रोध को प्राप्त हुए राजा ने कहा कि-हे सुभटो! सूरदेव का शिर काटने के सिवाय और कुछ नहीं करना है तथा उसका सब घर लूट लिया जाय । राजा के पास स्थित लोगों ने भी ऐसा ही कहा - सो ठीक है क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है ।

तदनन्तर यमदण्ड कोतवाल को बुलाकर राजा ने कहा कि - हमारे शत्रु सूरदेव का शिर काट कर शीघ्र मेरे पास लाओ । जैसा कि कहा है -

धर्मारम्भे ऋणच्छेदे कन्यादाने धनागमे ।
शत्रुघाताग्निरोगेषु कालक्षेपं न कारयेत् ॥519॥

धर्म को प्रारम्भ करने में, ऋण चुकाने में, कन्यादान में, धन कमाने में, शत्रु के घात में, अग्नि बुझाने में तथा रोग दूर करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥519॥

ततो राजादेशं प्राप्य सूरदेवसमीपमागत्य यावदुपसर्गं करोति तावच्छासनदेवव्या स्तम्भितो यमदण्ङ: । ततस्तद्व्यतिकरं ज्ञात्वा राजा सेनानी: प्रहित: । सोऽपि तथैव कृतो देवव्या । पश्चाद् भूपाल: ससैन्य: समागत: । परमेकं नरपतिं विना सर्वे स्तम्भिताश्चित्रलिखिता इवासन् । नगरमध्ये सर्वेषामाश्चर्यमभूत् । अत्रान्तरे स विद्याधरो घोटकमारुह्य जिनालयं गत: । चैत्यालयं त्रि:प्रदक्षिणी कृत्य जिनं विधिवत्प्रणम्य श्रेष्ठिनं च, घोटकमग्रे धृत्वा स्थित: । ततो देवव्या पञ्चाश्चर्यं कृतम् राजाग्रे कथितञ्च-यद्येवं धर्मनिधिं श्रेष्ठिनं शरणं गच्छसि तदा तव सैन्यस्य मोक्षो नान्यथा । तद्देवव्योक्तं श्रुत्वा राज्ञा भणितम्-अहो, **अर्थ**ोऽनर्थस्य कारणं भवत्येव । अर्थ: कस्यानर्थो न भवति? भरत: समस्तधन लोभरतोऽनुजवधार्थं मनश्चक्रे । एवं निरूप्य झटिति चैत्यालयमध्यमागत्य करकमलं मुकुलीकृत्य च वदति राजा-भो श्रेष्ठिन्! क्षमां कुरु ममोपरि प्रसादं कुरु । अज्ञानव्या यत्किञ्चिन्मया कृतं तत्सर्वं सहनीयं त्वया । तत: श्रेष्ठिना कायोत्सर्ग: पारित: । खेचरानीतस्तुरग: समर्पित:, खेचराधीशोऽपि ससन्मानं विसर्जित: । अत्रान्तरे केनचिदुक्तम्-भो श्रेष्ठिन्! गतोऽसि त्वम्, परं दैवेन रक्षित: । श्रेष्ठिनोक्तम्-तत्तथैव वरं, कालेन क्षयं तु क: को न गत:? तथा च-

तदनन्तर राजा की आज्ञा पाकर तथा सूरदेव के पास आकर ज्योंही यमदण्ड उपसर्ग करता है त्योंही शासन देवता ने उसे कील दिया । पश्चात् यह समाचार जानकर राजा ने सेनापति को भेजा परन्तु शासन देवता के द्वारा वह भी यमदण्ड के समान कील दिया गया । पश्चात् राजा स्वयं आया परन्तु एक राजा को छोड़कर सब कील दिये गये, जिससे चित्र लिखित के समान रह गये । नगर के बीच सबको आश्चर्य हुआ । इसी के बीच वह विद्याधर घोड़े पर बैठकर जिन मन्दिर आ पहुँचा और मन्दिर की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर जिनेन्द्र भगवान् को विधिपूर्वक नमस्कार कर और घोड़े को आगे पकड़ कर खड़ा हो गया । पश्चात् देवता ने पञ्चाश्चर्य किये तथा राजा के आगे कहा कि-यदि धर्म के निधानस्वरूप सेठ की शरण में जाओगे तो तुम्हारी सेना का छुटकारा होगा अन्यथा नहीं । देवता का कथन सुनकर राजा ने कहा कि-अहो! **अर्थ**, अनर्थ का कारण होता ही है । अर्थ किसका अनर्थ नहीं करता है ? समस्त धन के लोभ में रत हुए भरत ने छोटे भाई-बाहुबली का घात करने में मन लगाया । ऐसा कहकर तथा शीघ्र ही जिनमन्दिर के बीच आकर हस्त-कमल जोड़ राजा कहता है-हे सेठ जी! क्षमा करो, अज्ञान से जो कुछ भी मैंने किया है वह तुम्हारे द्वारा क्षमा करने के योग्य है । मेरे ऊपर कृपा करो । तदनन्तर सेठ ने

कायोत्सर्ग पूरा किया । विद्याधर के द्वारा लाया हुआ घोड़ा सौंपा गया तथा विद्याधर नरेश को सम्मान के साथ विदा किया । इस प्रसंग में किसी ने कहा - सेठ जी! तुम तो चले ही गये थे परन्तु दैव ने रक्षा कर ली । सेठ ने कहा - वह वैसा ही ठीक था परन्तु काल को पाकर कौन क्षय को प्राप्त नहीं हुआ है? जैसा कि कहा है -

दुर्गं त्रिकूटं परिखा समुद्रो रक्षापरो वा धनदोऽस्य वित्ते ।

संजीवनी यस्य मुखे च विद्या स रावण: कालवशाद् विपन्न:॥520॥

त्रिकूटाचल जिसका दुर्ग था, समुद्र जिसकी परिखा थी, कुबेर जिसका धन रक्षक था और संजीवनी विद्या जिसके मुख में थी, वह रावण भी काल के वश में मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥520॥

तदनन्तरं श्रेठी सर्वजनै: पूजित: प्रशंसितश्च । राज्ञोक्तं जिनधर्मं विहायान्यस्मिन् धर्मेऽतिशयो न दृश्यते । तदनन्तरं स्वस्वपुत्रान् स्वस्वपदे संस्थाप्य राज्ञा सुदण्डेन, मन्त्रिणा सुमतिना, राजश्रेष्ठिना सूरदेवेन, वृषभसेने-नान्यैर्बहुभिश्च जिनदत्तभट्टारकसमीपे दीक्षा गृहीता । केचन श्रावका जाता:, केचन भद्रपरिणामिनश्च जाता: राह्या विजयया, मन्त्रिभार्यया गुणश्रिया, सूरदेवभार्यया गुणवत्यान्याभिश्च बह्वीभिश्चानन्तमत्यार्यिका-समीपे दीक्षा गृहीता । काश्चन श्राविका जाता: । विद्युल्लव्या भणितम्-भो स्वामिन्! एतत्सर्वं प्रत्यक्षं दृष्ट्वा धर्मे मतिर्मे निश्चला जाता, मम दृढं सम्यक्त्वं च जातम् । एव श्रुत्वार्हद्दासेन विद्युल्लतां प्रशंस्य भणितम्-हे प्रिये! तव सम्यक्त्वमहं भक्त्या श्रद्दधामि, भक्त्या इच्छामि रोचे च । अन्याभि: प्रियतमाभि: प्रशंसिता विद्युल्लता । कुन्दलतां प्रति श्रेष्ठिना भणितम्-हे कुन्दलते त्वमपि निश्चलचित्ता सती देवपूजादिकं कुरु । तत् कुन्दलव्योक्तम्-एतत्सर्वमसत्यम् । त्वया तव सप्तभार्याभिश्च यद्दर्शनं गृहीतं तदहं न श्रद्दधामि नेच्छामि, न रोचे । तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञा मन्त्रिणा चौरेण च स्वमनसि चिन्तितम्-अहो, विद्युल्लव्या यत्प्रत्यक्षेण दृष्टं तत्कथमियं पापिठा कुन्दलता "असत्य" मिति निरूपयति । प्रातरस्या निग्रहं करिष्याम: । चौरेण स्वमनसि पुनश्चिन्तितम्-दुर्जनस्वभावोऽयम् । तदुक्तम्-

तदनन्तर सेठ सब मनुष्यों के द्वारा पूजित और प्रशंसित हुआ । राजा ने कहा - जिनधर्म को छोड़कर अन्य धर्म में अतिशय नहीं दिखाई देता । तदनन्तर अपने-अपने पुत्रों को अपने-अपने पदों पर स्थापित कर राजा सुदण्ड, मन्त्री सुमति, राजश्रेठी सूरदेव, वृषभसेन तथा अन्य बहुत लोगों ने जिनदत्त भट्टारक के समीप दीक्षा ले ली । कोई श्रावक हुए और कोई भद्रपरिणामी हुए । रानी विजया, मन्त्री की स्त्री गुणश्री, सूरदेव की स्त्री गुणवती तथा अन्य बहुत-सी स्त्रियों ने अनन्तमति आर्यिका के समीप दीक्षा ले ली । कोई श्राविकाएँ हुई । विद्युल्लता ने कहा कि-हे स्वामिन्! यह सब प्रत्यक्ष देखकर मेरी बुद्धि धर्म में दृढ़ हुई है और मुझे दृढ़ सम्यक्त्व हुआ है । यह सुन अर्हद्दास ने विद्युल्लता की प्रशंसा कर कहा - हे प्रिये! तुम्हारे सम्यक्त्व की मैं भक्तिपूर्वक श्रद्धा करता हूँ, भक्ति से इच्छा करता हूँ और उसकी रुचि करता हूँ । अन्य स्त्रियों ने भी विद्युल्लता की प्रशंसा की । कुन्दलता से सेठ ने कहा कि-हे कुन्दलते! तुम भी निश्चलचित्त होती हुई देवपूजा आदि करो । तदनन्तर कुन्दलता ने कहा कि-यह सब असत्य है । आपने और आपकी सात स्त्रियों ने जिस सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया है उसकी मैं न श्रद्धा करती हूँ, न इच्छा करती हूँ और न रुचि करती हूँ । कुन्दलता के वचन सुन राजा, मन्त्री और चोर ने अपने मन में विचार किया कि अहो! विद्युल्लता ने जिसे प्रत्यक्ष देखा है उसे यह पापिनी कुन्दलता असत्य है ऐसा बतलाती है । प्रात:काल इसका निग्रह करेंगे । चोर ने अपने मन में फिर भी विचार किया कि यह दुर्जन का स्वभाव है । जैसा कि कहा है-

जगदपकारोपकृतौ खलसत्पुरुषौ न तृप्तिमायातौ ।

ग्रसते हि तमो भुवनं सविता तु सदा प्रकाशयति॥521॥

जगत् का अपकार और उपकार करने में दुर्जन और सुजन तृप्ति को प्राप्त नहीं होते क्योंकि अन्धकार जगत् को ग्रसता है और सूर्य सदा प्रकाशित करता है ॥521॥

॥इत्याष्टमी कथा॥

॥इस प्रकार आठवीं कथा पूर्ण हुई॥

## उपसंहार

उपसंहार

कथा :

तत: प्रभातं प्रकटं जातं दृष्ट्वा मन्त्रिणा राज्ञोऽग्रे कथितम्-हे स्वामिन्! गृहं गम्यते रजनी विभाता ( गता) अत: परमत्र स्थातुं न युज्यते । ततो राजा मन्त्री च स्वगृहं गतौ । चौरोऽपि स्वस्थानंगत: श्रेऽठघपि सपरिकर: प्राभातिकीं क्रियां कृत्वा, आरार्तिकं विधाय निजगृहमागत: । तत: सूर्योदयो जात: । तद्यथा-

तदनन्तर प्रभात को प्रकट हुआ देखकर मन्त्री ने राजा के आगे कहा कि-हे स्वामिन्! घर चला जाये, रात्रि व्यतीत हो चुकी । अब इसके आगे यहाँ ठहरना योग्य नहीं है । पश्चात् राजा और मन्त्री अपने घर चले गये । चोर भी अपने स्थान पर चला गया । सेठ भी परिकर के साथ प्रात:काल की क्रिया तथा आरती कर अपने घर आ गया । पश्चात् सूर्योदय हुआ । जैसा कि कहा है-

शुकतुण्डच्छवि सवितुश्चण्डरुचे:पुण्डरीकवनबन्धो: ।
मण्डलमुदितं वन्दे कुण्डलमाखण्डलाशाया:॥522॥

तीक्ष्ण किरणों के धारक तथा कमल-वन के बन्धु, सूर्योदय को प्राप्त हुए उस मण्डल की मैं वन्दना करता हूँ जिसकी कान्ति तोते की चोंच के समान लाल है तथा जो पूर्व दिशा के कुण्डल के समान जान पड़ता है ॥522॥

तदनन्तरं प्रभातकृत्यानि देवपूजादीनि निर्माप्य कतिपयजनै: सह राजमन्त्रिणौ अर्हद्दासस्य गृहमागतौ । तत: श्रेष्ठिना महानादर: कृत:-सुवर्णस्थालं रत्नभृतं प्राभृतीकृतम् । शिरसि कर कुड्गलं निधाय विनम्रेण श्रेष्ठिना विज्ञप्तम्-स्वामिन् अद्य मम गृहे कल्पवृक्षाद्या: पदार्था: अवतीर्णा: । शुभ लक्ष्म्या वीक्षितोऽहम् । अद्य पूर्वजा: समायाता:, मम गृहं पवित्रं जातम् । उक्तञ्च-

तदनन्तर देवपूजा आदि प्रात:काल सम्बन्धी कार्य कर कुछ लोगों के साथ राजा और मन्त्री, अर्हद्दास सेठ के घर आये । सेठ ने उनका बहुत भारी आदर किया । रत्नों से भरा हुआ सुवर्ण थाल भेंट किया तथा हाथ जोड़ मस्तक से लगाकर नम्रीभूत सेठ ने कहा कि-हे स्वामिन्! आज मेरे घर में कल्पवृक्ष आदि पदार्थ अवतीर्ण हुए हैं । शुभलक्ष्मी के द्वारा मैं देखा गया हूँ, आज मेरे पूर्वज आये हैं और मेरा घर पवित्र हुआ है ।

कहा है -

सुप्रसन्नवदनस्य भूपतेर्यत्र यत्र विलसन्ति दृष्टय: ।
तत्र तत्र शुचिता कुलीनता दक्षता सुभगता च गच्छति॥523॥

अत्यन्त प्रसन्न मुख से युक्त राजा की दृष्टियाँ जहाँ-जहाँ पड़ती हैं वहाँ-वहाँ पवित्रता, कुलीनता, दक्षता और सुन्दरता पहुँचती है ॥523॥

प्रसादं विधाय कार्यादिकं प्रकाश्यताम् । राज्ञोक्तम्-भो श्रेष्ठिन! गृहमेधिनाम् अभ्यागते समागते आसनादि प्रतिपत्ति: कर्तुमुचिता । यदुक्तम्-

प्रसन्न करके कार्य आदिक प्रकाशित किया जाये । राजा ने कहा सेठजी! अतिथि के आने पर आसनादि का देना गृहस्थों के लिए उचित है । जैसा कि कहा है -

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्-
का वार्ता परिदुर्बलोऽसि च कथं कस्माच्चिरं दृश्यसे॥
एवं ये गृहमागतं प्रणयिनं संभाषयन्त्यादरात् ।
तेषां वेश्मसु निश्चलेन मनसा गंतव्यमेव धु्रवम् ॥524॥

आइये आइये, आसन पर बैठिये, आपके दर्शन से मुझे प्रसन्नता है, क्या समाचार है ? दुर्बल क्यों हो रहे हो ? और बहुत समय बाद दिख रहे हो । इस प्रकार घर पर आये हुए स्नेही जनों से जो आदरपूर्वक संभाषण करते हैं, उनके घर निश्चल चित्त से अवश्य ही जाना चाहिए ॥324॥

दद्यात् सौम्यां दृशं वाचमक्षुण्णां च तथासनम् ।
शक्त्या भोजन-ताम्बूले शत्रावपि गृहागते ॥525॥

घर पर आये हुए शत्रु के लिए भी स्नेहपूर्ण दृष्टि, परिपूर्ण वचन, आसन और शक्ति के अनुसार भोजन तथा पान देना चाहिए ॥525॥

तदनन्तरं राज्ञा भणितम्-भो श्रेष्ठिन्! अद्य रात्रौ त्वया तव भार्याभिश्च निरूपिता कथा यया दुष्टया निन्दिता सा दुष्टा पापिठाऽनर्थकारिणी तवाग्रे मृत्युकारिणी भविष्यति । अतएव तां ममाग्रे दर्शय, यथा तस्या निग्रहं करिष्यामि । तथा चोक्तम्-

तदनन्तर राजा ने कहा कि-हे सेठजी! आज रात्रि में तुम्हारे तथा तुम्हारी स्त्रियों के द्वारा कही हुई कथाएँ जिस दुष्टा स्त्री के द्वारा निन्दित

की गयी हैं, वह दुष्टा पापिनी तथा अनर्थ करने वाली आगे चल कर तुम्हारी मृत्यु का कारण होगी, इसलिए उसे मेरे आगे दिखलाओ जिससे मैं उसे दण्डित करँ । जैसा कि कहा है -
दुष्टा स्त्री, मूर्ख मित्र, उत्तर देने वाला सेवक और सर्प सहित घर में निवास करना मृत्यु ही है । इसमें संशय नहीं है ॥526॥
दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायक: ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशय: ॥526॥
एतद् राजवचनं श्रुत्वा श्रेठी चिन्व्यति-किं राजा रात्रौ स्वयमेवागतोऽभूद् वा केनापि दुर्जनेनास्मद् वृत्तान्त: कथितोऽस्ति । संप्रति किं करोमि? अद्य विषमं समायातम् । यद्यसत्यं निवेद्यते तदा राजदण्ड: । अन्यथा तस्या: कुन्दलताया अनर्थोभावी । इत्यादि विकल्पपरो यावदर्हद्दासोऽस्ति तावत् कुन्दलव्या स्वयमेवागत्य भणितम्-भो राजन् साहं दृष्टा । भवता श्रुतं धर्मफलम् दृष्टो जिनमार्गो व्रतातिशयश्च । एतै: सर्वैर्यदुक्त मे तेषां च यो जिनधर्मव्रतनिश्चयस्तमहं न श्रद्दधामि, नेच्छामि न रोचे । राज्ञोक्तम्-केन कारणेन न श्रद्दधासि? अस्माभि: सर्वैरपि रौप्यखुर चौर: शूलमारीपितो दृष्ट: । तत्कथमसत्यं निरूपयसि व्योक्तं निर्भीकव्या भो राजन्! एतानि सर्वाणि जैनापत्यानि जिनमार्गं विहायान्यमार्गं न जानन्ति । नाहं जैना, जैनपुत्री च । मया कदापि सम्यक्तया जैनधर्मो न श्रुतोऽस्ति तथापि प्रभाते पारणानन्तरमवश्यमेव जिनदीक्षां गृह्वामीति मया प्रतिज्ञातमिति मनो जातम् । एतैर्यद्यपि जिनमार्गव्रतमाहात्म्यं दृष्टं श्रुतमनुभूर्त तथाप्येते मूर्खा उपवासादिना शरीरशोषमुत्पादयन्ति, संसारभोगलम्पटत्वं किमपि न त्यजन्ति ।
राजा के यह वचन सुन सेठ विचार करने लगा कि क्या राजा रात्रि में स्वयं ही आया था या किसी दुर्जन ने मेरा वृत्तान्त कहा है, अब क्या करँ? आज विषम अवसर आया है, यदि असत्य कहता हूँ तो राजदण्ड है अन्यथा उस कुन्दलता का अनर्थ होने वाला है । जब तक सेठ इन विकल्पों में तत्पर था तब तक कुन्दलता ने स्वयं ही आकर कह दिया कि-हे राजन्! वह दुष्टा स्त्री मैं हूँ । आपने धर्म का फल सुना है तथा जिनमार्ग और व्रत का अतिशय देखा है । इन सब लोगों ने जो कहा था और इन सबका जिनधर्म सम्बन्धी व्रत पर जो निश्चय है उसकी न मैं श्रद्धा करती हूँ, न इच्छा करती हूँ और न रुचि करती हूँ । राजा ने कहा - किस कारण से श्रद्धा नहीं करती हो ? हम सभी ने रौप्यखुर चोर को शूली पर चढ़ाया देखा है उसे तुम असत्य कैसे कहती हो ? उसने निर्भीक होकर कहा कि-हे राजन्! ये सब जैन की सन्तान हैं, जिनमार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग को नहीं जानते हैं परन्तु मैं जैन नहीं हूँ और न जैन की पुत्री हूँ । मैंने यद्यपि पहले कभी सम्यक् प्रकार से जैनधर्म को नहीं सुना है तथापि प्रात:काल पारणा के बाद अवश्य ही जिनदीक्षा लूँगी ऐसी मैंने प्रतिज्ञा की है । इन लोगों ने यद्यपि जिनमार्ग के व्रत का माहात्म्य देखा है, सुना है और अनुभव किया है तथापि ये अज्ञानी उपवास आदि के द्वारा शरीर का शोषण करते हैं । संसार और भोगों की लम्पटता को कुछ भी नहीं छोड़ते हैं । जैसा कि कहा है -
मूर्खास्तपोभि: कृशयन्ति देहं, बुधा मनो देहविकार-हेतुम् ।
श्वा क्षिप्तलोष्टं ग्रसते हि कोपात्, क्षेप्तारमेवात्र च हन्ति सिंह:॥527॥
मूर्ख मनुष्य तपों के द्वारा अपने शरीर को कृश करते हैं परन्तु ज्ञानी जीव शरीर के विकार का कारणभूत जो मन है उसे कृश करते हैं अथवा मन और शरीर के विकार के कारण को कृश करते हैं । ठीक ही है क्योंकि कुत्ता फेंके हुए पत्थर के ढेले को क्रोधवश ग्रसता है और सिंह फेंकने वाले को नष्ट करता है ॥527॥
गुणेषु यत्न: क्रियतां किमाटोपै: प्रयोजनम् ।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गाव: क्षीर-विवर्जिता:॥528॥
गुणों में यत्न करना चाहिए, व्यर्थ के आडम्बरों से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि दूध से रहित गायें घण्टाओं के द्वारा नहीं बिकती हैं ॥528॥
चला विभूति: क्षणभङ्गि यौवनं, कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने, अहो नृणां विस्मयकारि चेष्टितम् ॥529॥
विभूति चंचल है, यौवन क्षणभंगुर है और जीवन यमराज के दाँतों के बीच विद्यमान है तो भी परलोक की साधना में अवज्ञा-उपेक्षा की जा रही है । अहो, मनुष्यों की यह चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है ॥529॥
एकं यावदनेकविघ्नबहुलं कार्यं न निष्पद्यते
गुर्वन्यत्समुपैति तावदपरं भूय: पुरस्तिष्ठति ।

एवं कार्यपरम्परापरिणतिव्यालुप्तधर्मक्रियं
मृत्योर्हस्त कचग्रहं व्रजति हा व्यापारमूढं जगत् ॥530॥

अनेक विघ्नों से परिपूर्ण एक कार्य जब तक सिद्ध नहीं हो पाता है तब तक दूसरा बड़ा कार्य उपस्थित हो जाता है और वह जब तक सिद्ध नहीं हो पाता तब तक अन्य बड़ा कार्य सामने खड़ा हो जाता है । इस प्रकार कार्यों को परम्परा से जिसकी धर्म क्रियाएँ लुप्त हो गयी हैं, ऐसा यह व्यापार में मूढ़ हुआ जगत् मृत्यु के हाथ से चोटी पकड़ लेता है **अर्थ**ात् बीच में ही मर जाता है ॥530॥

यौवनं जरया ग्रस्तं शरीरं व्याधिपीडितम् ।
मृत्युराकाङ् क्षति प्राणान् तृष्णैका निरुपद्रवा ॥531॥

यौवन वृद्धावस्था से ग्रस्त है, शरीर रोगों से पीड़ित है तथा मृत्यु प्राणों की इच्छा कर रही है मात्र एक तृष्णा ही उपद्रव रहित है ॥531॥

**अर्थ**ं धिगस्तु बहुवैरकरं नराणां
राज्यं धिगस्तु परित: परिचिन्तनीयम् ।
स्वाङ्गं धिगस्तु पुनरागमनप्रवृत्तिं,
धिग् धिक् शरीरं बहुरोगवासम् ॥532॥

अनेक लोगों के साथ वैर कराने वाले मानवीय धन को धिक्कार हो, सब ओर से चिन्तनीय राज्य को धिक्कार हो, अपने अंग को धिक्कार हो, पुनरागमन-बार-बार जन्म धारण करने की प्रवृत्ति को धिक्कार हो और अनेक रोगों के निवास स्थल शरीर को धिक्कार हों ॥532॥

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विशेषत: ।
शरीरस्य कृते मूढा हा हा पापानि कुर्वते ॥533॥

जो समस्त अपवित्र पदार्थों का घर है और विशेषरूप से कृतघ्न है ऐसे शरीर के लिए अज्ञानी जन पाप करते हैं, यह बड़े खेद की बात है ॥533॥

राजन्! यद्येभिव्रर्तं गृह्यते तदा सर्वं सत्यं जायते । अन्यथा वाग्जालकथितमसत्यमेतत् । तद्वचनं श्रुत्वा राजप्रभृतिभि: सा बहुधा स्तुता पूजिता वन्दिता प्रशंसिता च । तत: श्रेष्ठिना भणितम्-राजन् मच्चित्ते पूर्वं प्रव्रज्यामनोरथं आसीत् । एनां विनान्यासां मद्भार्याणां च साम्प्रतमेतस्या: कथनेन दृढतरोजनि । तव प्रसादात् सिद्धिं यास्यति । राज्ञा श्रेठ्यपि प्रसंशित:, ततो महता ग्रहेण राजा सपरिच्छेदों भोजनार्थं स्थापित: । श्रेष्ठिना भोजनसामग्रीं भव्यां कारयित्वा परिजनं राजानं भोजयित्वा, मुनिभ्योऽतिथिसंविभागं कृत्वा ।, जिनपूजादिविधिं समाप्य परिवारादीनां चिन्तां कृत्वा पारणं चक्रेऽर्हद्दासेन । राजा दृष्टस्तस्य पुण्यकृत्यप्रशस्य स्वगृहं गत: । तदनन्तरं राज्ञा मन्त्रिणा चौरेणार्हद्दासेनान्यैर्बहुभिश्च स्वस्वपुत्रं स्वस्वपदे संस्थाप्य श्रीगुणधर-मुनीश्वर-समीपे तपोदीक्षा गृहीता । केचन श्रावका जाता: । केचन भद्रपरिणामिनो जाता: । राज्ञी, मन्त्रिभार्ययाऽहद्र्दासभार्याभिश्चान्याभिर्बह्वीभिरुदयश्रीआर्यिकासमीपे तपोदीक्षा गृहीता: । काश्चन श्राविका जाता: ।

ततोऽर्हद्दासर्षिर्निरतिचारं निर्णाशितपापप्रचारयतिधर्माचारं समाराध्य विधिवन्मरणमासाद्यापवर्ग-सुख भाजनमभूत् । अन्ये चोग्रोग्रं तप: कृत्वा केचन स्वर्गं गता:, केचन सर्वार्थसिद्धिं गता: ।

इतीदं कथानकं गौतमस्वामिना राजानं श्रेणिकं प्रति कथितम् । श्रुत्वा सर्वेषां दृढतरं सम्यक्त्वं जातम् । इमां सम्यक्त्वकौमुदीकथां श्रुत्वा भो भव्या: दृढतरं सम्यक्त्वं धार्यताम् । तेन भवभ्रमणविच्छित्ति र्भवति । तथा चोक्तम्-

हे राजन्! यदि ये लोग व्रत ग्रहण करते हैं तो इनका यह सब कहना सत्य होता है अन्यथा वचन जाल के द्वारा कहा हुआ यह सब असत्य है । कुन्दलता के वचन सुन राजा आदि ने उसकी अनेक प्रकार से स्तुति, पूजा, प्रशंसा और वन्दना की ।

तदनन्तर सेठ ने कहा कि-हे राजन्! मेरे चित्त में पहले से ही दीक्षा लेने का भाव था । इस कुन्दलता को छोड़ अन्य स्त्रियों के तथा इस समय हुए इस कुन्दलता के कथन से अत्यन्त दृढ़ हो गया है । आशा है आपके प्रसाद से सिद्धि को प्राप्त होगा । राजा ने सेठ की भी प्रशंसा की । पश्चात् सेठ ने बहुत भारी आग्रह से समस्त साथियों सहित राजा को भोजन के लिए बैठाया । अर्हद्दास सेठ ने भोजन की उत्तम सामग्री बनवा कर परिजन सहित राजा को भोजन करवाया । मुनियों के लिए अतिथिसंविभाग किया-उन्हें आहारदान दिया । जिनपूजा आदि की विधि को समाप्त किया ।

परिवार के लोगों की चिन्ता की पश्चात् स्वयं पारणा किया । राजा हर्षित होकर तथा उसके पुण्य कार्य की प्रशंसा कर अपने घर गया । तदनन्तर राजा, मन्त्री, चोंर, अर्हद्दास सेठ तथा अन्य बहुत लोगों ने अपने-अपने पुत्र को अपने-अपने पद पर स्थापित कर श्री गुणधर मुनिराज के समीप तप के लिए दीक्षा ले ली । कितने ही श्रावक हुए और कितने ही भद्रपरिणामी हुए । रानी, मन्त्री की स्त्री, अर्हद्दास सेठ की स्त्री तथा अन्य अनेक स्त्रियों ने उदयश्री आर्यिका के समीप तपोदीक्षा ले ली । कई स्त्रियाँ श्राविकाएँ बनीं ।

तदनन्तर अर्हद्दास मुनि, निरतिचार तथा पाप के प्रचार को नष्ट करने वाले मुनिधर्म की आराधना कर विधिपूर्वक समाधि को प्राप्त हुए और मोक्ष सुख के पात्र हुए । अन्य लोग भी तीव्र तप कर कई स्वर्ग गये और कई सर्वार्थसिद्धि को गये । इस प्रकार यह कथा गौतम स्वामी ने राजा श्रेणिक से कही । सुनकर सब लोगों का सम्यग्दर्शन अत्यन्त दृढ़ हुआ । इस सम्यक्त्वकौमुदी की कथा को सुनकर हे भव्यजीवो! अत्यन्त दृढ़ सम्यक्त्व धारण करो जिससे संसार भ्रमण का छेद हो । जैसा कि कहा है-

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध: ॥534॥
धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनद: कामार्थिनां कामद:
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रद: किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रद: ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यद: किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां
किं किं यन्न ददाति किन्तु तनुते स्वर्गापवर्गावधिम् ॥535॥

धर्म से ऊपर गमन होता है **अर्थ**ात् स्वर्ग प्राप्त होता है, अधर्म से नीचे गमन होता है अर्थात् नरक प्राप्त होता है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है और अज्ञान से बन्ध होता है । यह धर्म धन के प्रेमियों को धन देने वाला है, काम के इच्छुक मनुष्य को काम देने वाला है, सौभाग्य के अभिलाषी मनुष्यों को सौभाग्य देने वाला है, पुत्र की चाह रखने वालों को पुत्र देने वाला है और अन्य क्या कहें, राज्य के अभ्यर्थी मनुष्यों को राज्य देने वाला है । अथवा नाना विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? यह धर्म मनुष्यों के लिए क्या-क्या नहीं देता है? किन्तु स्वर्ग और मोक्ष तक को देता है ॥534-335॥

धर्म: कल्पद्रुम: पुंसां धर्मश्चिन्तामणि:पर: ।
धर्म: कामदुधा धेनुस्तस्माद्धर्मो विधीयताम् ॥536॥

धर्म, पुरुषों के लिए कल्पवृक्ष है, धर्म उत्कृष्ट चिन्तामणि है और धर्म, मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु है, इसलिए धर्म करना चाहिए ॥536॥

दुर्दम्योच्छ्रितकर्मशैलदलने यो दुर्निवार: पवि:
पोतो दुस्तरजन्मसिन्धुतरणे य: सर्वसाधारण: ।
यो नि:शेषशरीरिरक्षणविधौ शश्वत्पितेवादृत:
सर्वज्ञेन निवेदित: स भवतो धर्म: सदा पातु न: ॥537॥

जो दु:ख से दमन करने योग्य तथा बहुत ऊँचे कर्मरूप पर्वत को विदीर्ण करने में दुर्निवार वज्र है, संसाररूपी दुस्तर समुद्र को पार करने में जो सर्वसाधारण के उपयोग में आने वाला जहाज है और जो समस्त प्राणियों की रक्षा करने के लिए आदरयुक्त पिता के समान है, ऐसा यह सर्वज्ञ कथित धर्म आप सबकी तथा हमारी सदा रक्षा करे ॥537॥

सेतु: संसार सिन्धोर्निविड़तरमहाकर्मकान्तारवह्नि-
र्मिथ्याभावप्रमाथी पृथुपिहिततमोदुर्गतिद्वारभाग: ।
येषां निर्व्याजबन्धुर्भवति परिभवापन्नसत्वावलम्बी
धर्मस्तेषां किमेभिर्बहुभिरपि वृथालम्बनैर्वान्धवाद्यै: ॥538॥

जो संसाररूपी समुद्र का पुल है, कर्मरूपी सघन वन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड अग्नि है, मिथ्याभावों को नष्ट करने वाला है, अन्धकार से परिपूर्ण दुर्गति के द्वार को अच्छी तरह बन्द करने वाला है तथा परिभव को प्राप्त विपत्तिग्रस्त जीवों को अवलम्बन देने वाला है ऐसा धर्मरूपी निश्छल बन्धु जिनके पास है उनके लिए बन्धु आदि इन बहुत से व्यर्थ के आलम्बनों से क्या प्रयोजन है? ॥538॥

कन्द: कल्याणवल्ल्या: सकलसुखफलप्रापणे कल्पवृक्षो
दारिद्र्योद्दीप्तदावानलशमनघनो रोगनाशैकवैद्य: ।
श्रेय:श्रीवश्यमन्त्र: प्रमथितकलुषो भीमसंसारसिन्धो-
स्तारे पोतायमानो जिनपतिगदित: सेवनीयोऽत्र धर्म: ॥539॥

जो कल्याणरूपी लता का कन्द है, समस्त सुखरूपी फल को प्राप्त कराने में कल्पवृक्ष है, दरिद्रतारूपी प्रचण्ड दावानल को बुझाने के लिए मेघ है, रोगों को नष्ट करने के लिए प्रमुख अद्वितीय वैद्य है, मोक्षलक्ष्मी को वश में करने वाला मन्त्र है, पापों को नष्ट करने वाला है और संसाररूपी भयंकर समुद्र को पार करने के लिए जहाज के समान है, ऐसा यह जिनराज कथित धर्म इहलोक में सेवन करने योग्य है ॥539॥

व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां
मरणभयहतानां दु:ख शोकार्दितानाम् ।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्म:॥540॥

जो सैकड़ों कष्टों को प्राप्त हो रहे हैं, क्लेशदायक रोगों से दु:खी हैं, मृत्यु के भय से पीड़ित हैं, दु:ख और शोक से पीड़ित हैं, व्याकुल हैं और शरण रहित हैं, ऐसे अनेक जीवों के लिए एक धर्म ही निरन्तर शरणभूत है ॥540॥